आचार्य अमितगति विरचित

धर्म परीक्षा

(हिन्दी अनुवाद)

प्रकाशक
जैन अध्ययन केन्द्र

मुक्ति-विहान जैन ग्रन्थमाला : द्वितीय ग्रन्थ

आचार्य अमितगति विरचित

धर्म परीक्षा

मूल सम्पादन एवं अनुवाद
पण्डित बालचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक
जैन अध्ययन केन्द्र
झालरापाटन

प्रथम आवृत्ति : 1100 प्रतियाँ
दानपर्व 'अक्षय तृतीया'
(वैशाख शुक्ल तृतीया, वीर निर्वाण संवत् 2539
विक्रम संवत् 2070, सोमवार, 13 मई 2013)

पुनर्सम्पादन एवं संशोधन -
विक्रान्त पाटनी, शास्त्री, आचार्य (जैनदर्शन एवं प्राकृत-अपभ्रंश-जैनागम) नेट्-जेआरएफ

लागत राशि : 70/- रुपये
न्यौछावर राशि : 30/- रुपये

प्रिय पाठको!

अत्यन्त विनयपूर्वक चौकी या श्रुतपीठ पर विराजमान करके शरीर के नाभिस्थान से ऊपर ही रखकर इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करना। किसी भी प्रकार से इसकी विराधना न करना। हाथ धोकर इसे छूना। मन और वचन को चुप करके एवं काया को संयमित करके अत्यन्त जागृत अवस्था में बैठकर इसे पढ़ना, लेटकर या कुछ खाते-खाते अथवा किसी से कोई सांसारिक चर्चा या वार्तालाप करते हुए नहीं। नीचे जमीन पर, बिस्तर पर अथवा तकिये पर इसे नहीं रखना और इसके पृष्ठ भी न फाड़ना। घर में स्वाध्याय करने के बाद अपने स्वाध्याय भवन या आलमारी में अत्यन्त सुरक्षा-पूर्वक इसे विराजमान करना। इन सच्चे जैन ग्रन्थों के अविनय से बहुत भारी पाप का बन्ध होता है।

प्राप्ति स्थान

1. जैन अध्ययन केन्द्र
पाटनी भवन
कहान तिराहा, झालरापाटन
जिला-झालावाड़, राजस्थान
+91 94130 11331, +91 95290 36111
+91 77373 78384, +91 7432 240231

2. सचिन शास्त्री
श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर
जैन मुमुक्षु आश्रम ट्रस्ट
केशवरायपाटन रोड
गिरधरपुरा, कोटा (राजस्थान)
+91 94601 49511

3. सर्वोदय अहिंसा
बी. 180 ए. 2
मंगल मार्ग, बापू नगर
जयपुर-15 +91 9785 999100

मुद्रण व्यवस्था : प्री एलविल सन, जयपुर

शुद्धि-पत्रक

प्रिय पाठक! आपसे निवेदन है कि ग्रंथ पढ़ने से पहले इस शुद्धि-पत्रक के अनुसार ग्रंथ की अशुद्धियों को सुधार लें तथा यदि आपको अन्य कोई अशुद्धि या सुधार दिखे तो हमें सूचित करने का कष्ट करें।

पृष्ठ क्र.	पंक्ति क्र.	अशुद्ध	शुद्ध
(प्रकाशकीय) 5	7	परिचय	प्रकाशकीय
शास्त्राभ्यास...) 11	17	हे	है
(चरणानुयोग) 25	12	सक्यक्त्वी	सम्यक्त्वी
(चरणानुयोग) 25	13	सक्यक्त्वी	सम्यक्त्वी
6	9	है	हैं
9	11	की समूह	के समूह
35	16	स्थित	स्थिति
49	8	लगता	लगाता
64	2	कदाचित्त्	कदाचित्
64	21	है	हैं
80	18	जनता	जानता
82	23	मुत्यु	मृत्यु
120	9	जल	चल
121	12	इनमे	इनमें
144	20	वेष	किसी वेष
145	18	रावण ने	रावण के
153	9	व्याख्याताथ	व्याख्यातार्थ
160	12	सुगन्धित	सुगन्धि
164	9	औरे	और
179	25	विषय	विष
188	17	उपदेश का	उपदेश को
220	17	तन्निसर्गूदधिगमाद्वा	तन्निसर्गादधिगमाद्वा

प्रकाशकीय

आचार्य अमितगति विरचित 'धर्मपरीक्षा' के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन करते हुए जैन अध्ययन केन्द्र अत्यन्त हर्ष व गौरव का अनुभव कर रहा है। वि.सं. 1070 में आचार्य अमितगति ने इस महान ग्रन्थ की रचना की थी तथा अब वि.सं. 2070 प्रारम्भ हो चुका है, अर्थात् यह वर्ष 'धर्मपरीक्षा' की रचना का सहस्राब्दि वर्ष है। यह जानकर ही इसके प्रकाशन का विचार साकार रूप ले पाया है। वैसे भी कोई ग्रन्थ 1000 वर्ष का होने पर भी यदि चलन में है, तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं – या तो समाज में उसकी बहुत उपयोगिता हो या उसकी रचना में कुछ विशिष्ट बात हो। 'धर्मपरीक्षा' में तो यह दोनों ही कारण मिलते हैं, अत: इसका चलन आने वाले कई हजारों वर्षों तक बना रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

'धर्मपरीक्षा' के प्रकाशन की आवश्यकता – आज के इस पुरजोर प्रतिस्पर्धा के युग में हम जहाँ एक ओर लौकिक कार्यों में तर्क व गहन बुद्धिमत्ता को सर्वोपरि रखते हैं, वहीं धर्म के क्षेत्र में इन दोनों को ही हमने त्याग रखा है। लोक में अच्छे-अच्छे बुद्धिमान व समाज में प्रतिष्ठाप्राप्त सज्जन भी जब धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवादिता व अंधविश्वासों को आगे बढ़ाते दिखाई देते हैं, तो अन्य सामान्य जन की तो बात ही क्या की जाए। 'धर्मपरीक्षा' ऐसी लोकरूढ़ियों व अंधविश्वासों पर कुठाराघात करती है। जो लोग धर्म को समझना चाहते हैं व धर्म में प्रवेश पाने के इच्छुक हैं, 'धर्मपरीक्षा' उनके लिए ऐसा सजग प्रहरी है, जो उन्हें मिथ्याधर्म के मार्ग पर जाने से रोकता है और सम्यग्धर्म के मार्ग पर ले जाता है, साथ ही बुद्धि में तर्क व विवेक की प्रतिष्ठा करता है, जिससे भविष्य में भी सही व गलत की पहचान सरलता से की जा सकती है।

दूसरी बात यह भी है कि 'धर्मपरीक्षा' में अन्य मतों की अतार्किक व अविश्वसनीय मान्यताओं का खण्डन होने के कारण अनेक प्रकाशन संस्थाएँ इसे प्रकाशित करने से कतराती हैं। इस कारण समाज में इसकी माँग होने पर भी इसकी उपलब्धता कम ही देखी जाती है। अत: जैन अध्ययन केन्द्र ने इसके प्रकाशन का निर्णय लिया है।

प्रस्तुत संस्करण – हमारे सामने प्रश्न था कि 'धर्मपरीक्षा' को मूल संस्कृत सहित प्रकाशित किया जाए या मात्र अनुवाद ही प्रकाशित करें। यद्यपि मूल श्लोकों के साथ प्रकाशन में ग्रन्थ अधिक प्रामाणिक लगता, परन्तु उसमें कुछ समस्याएँ थीं। पहली तो ग्रन्थ के आकार की तथा दूसरी पाठकों में संस्कृत के प्रति दृष्टिकोण की। तब हमने इस ग्रन्थ की उपादेयता का विचार किया। यह ग्रन्थ विशेषरूप से उन व्यक्तियों के लिए कार्यकारी है, जिन्हें धर्म को लेकर कुछ संशय हो या जो धर्म के क्षेत्र में नये-नये लगे हों तथा जिनका शास्त्राभ्यास करने का विशेष अभ्यास न हो। ऐसे व्यक्ति जब पढ़ने

के लिए किसी नये ग्रन्थ का चुनाव करते हैं, तो उसके आकार व भाषा से जरूर प्रभावित होते हैं। यदि कोई ग्रन्थ 300-350 पृष्ठ का हो, ऊपर से उसमें संस्कृत भी दिख जाए, तो कहना गलत न होगा कि वे उसे पढ़ने का कष्ट नहीं करेंगे। एक बात यह भी है कि जिन्हें संस्कृत का अभ्यास भी होता है; वे भी, यदि ग्रन्थ में अनुवाद दिया गया हो तो, संस्कृत को छोड़कर अनुवाद ही पढ़ने में रुचि रखते हैं। संस्कृत श्लोक देखते भी हैं, तो अनुवाद में कहीं शंका होने पर मिलान करने के लिए।

उक्त सभी बातों पर विचार कर हमने निर्णय लिया कि ग्रंथ का अनुवाद मात्र छापा जाए। इस ग्रंथ के दो अनुवाद हमारे सामने थे। एक तो था सुजानगढ़ निवासी श्री पन्नालाल बाकलीवाल का हिन्दी अनुवाद, जिसे भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता ने सन् 1922 में प्रकाशित किया था। उसमें भी मूल श्लोक नहीं दिये गये थे। दूसरा अनुवाद पं. बालचन्द्र शास्त्री द्वारा किया गया था, जिसे मूल श्लोकों एवं डॉ. ए.एन. उपाध्ये की शोधपूर्ण प्रस्तावना के साथ जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर ने सन् 1978 में तथा भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् ने सन् 1998 में प्रकाशित किया था।

यद्यपि दोनों ही अनुवाद सुंदर हैं, परंतु पन्नालालजी के अनुवाद की भाषा थोड़ी पुरानी हिन्दी थी, जिसे आज के पाठकों को समझने में शायद परेशानी होती। अत: हमने पं. बालचन्द्रजी के अनुवाद को प्रकाशित करने का निर्णय लिया। इसके लिए हमने सोलापूर से प्रकाशित प्रति की सहायता भी ली है, अत: उक्त दोनों संस्थाओं का हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं। उक्त अनुवाद के प्रकाशन में हमने कुछ नये प्रयोग किये हैं, जो निम्नानुसार हैं -

1. कुछ स्थानों पर शब्दों में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि थी, जिसे सुधारा गया है।

2. कुछ स्थानों पर किसी शब्द का अनुवाद मुद्रण की गलती से छूट गया था, जिसे संस्कृत से मिलान कर लिखा गया है।

3. कुछ स्थानों पर पाठकों को शब्दों का भाव सही समझ में आए, इसलिए बड़े कोष्ठक [ ] में उसका अर्थ/स्पष्टीकरण लिखा है। **ध्यान रहे कि बड़े कोष्ठक [ ] में लिखी गई बात प्रकाशक की ओर से है, अनुवादक की नहीं।**

4. ग्रन्थ में नीति विषयक सूक्तियाँ एवं सिद्धान्त-वाक्य बहुत हैं, जिनमें से कुछ को पाठकों के ध्यान में लाने के लिए *इटैलिक (टेढ़े अक्षरों)* में दिया गया है।

5. ग्रन्थ में आगत अनेक तर्कों एवं विशेष ध्यातव्य बातों को पाठकों के ध्यान में लाने के लिए **बोल्ड (मोटे)** अक्षरों में दिया गया है।

6. ग्रन्थ में आगत कथाओं, उपकथाओं, प्रसंगों तथा मान्यताओं के खण्डनों के पहले शीर्षक व उपशीर्षक दिये गए हैं, जिससे पाठकों को प्रकरण ढूँढने में सुविधा रहेगी।

अनुवाद में कहीं कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की अन्य विशेषताएँ – इस ग्रन्थ में 'धर्मपरीक्षा' के अनुवाद के अतिरिक्त जो सामग्री दी गई है, वह इस प्रकार है –

1. कवर पृष्ठ पर संसार-दर्शन का चित्र दिया गया है, जिससे पाठक आकर्षित हों। यह चित्र 'धर्मपरीक्षा' ग्रन्थ के आधार पर ही रचा गया है, अत: चित्र को समझने के लिए ग्रन्थ अवश्य पढ़ें।

2. ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही पाठकों से ग्रन्थ को विनय से पढ़ने का निवेदन किया गया, जिससे ग्रन्थ की महिमा भी बनी रहे व ग्रन्थ अधिक समय तक सुरक्षित भी रह सके।

3. पाठकों को शास्त्राभ्यास की प्रेरणा मिले, इसलिए परिचय के बाद 'शास्त्राभ्यास की महिमा' सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका के आधार से दी गई है।

4. चूँकि इस ग्रन्थ में प्रथमानुयोग व चरणानुयोग की शैली है; अत: पाठकों को प्रथमानुयोग व चरणानुयोग की कथन पद्धति समझ में आए, इसलिए दोनों अनुयोगों का विशेष विवरण मोक्षमार्ग प्रकाशक के आधार से दिया गया है।

5. ग्रन्थकर्ता आचार्य अमितगति तथा उनकी रचनाओं का परिचय सामान्य पाठकों को सरलता से नहीं मिलता है। अत: विषयसूची के पहले उनका परिचय दिया गया है।

6. 'धर्मपरीक्षा' के अब तक प्रकाशित संस्करणों में विषयसूची नहीं मिलती है। पाठकों को कोई विशेष प्रकरण, खण्डन या कथा देखनी हो, उनकी सरलता हेतु हमने विषयसूची बनाकर इसमें दी है।

7. परिशिष्ट के रूप में ब्र. रायमल्लजी कृत 'ज्ञानानंद श्रावकाचार' में से समाधिमरण का स्वरूप दिया गया है, जिससे पाठकों को मानव जीवन के लक्ष्य का परिज्ञान हो सके।

8. ग्रन्थ में जहाँ भी अतिरिक्त स्थान रिक्त था, वहाँ हमने मोक्षमार्गप्रकाशक, बाबू जुगलकिशोर 'युगल' के काव्य -संग्रह 'चैतन्य वाटिका' एवं विविध ग्रन्थों से चुनकर अनेक गद्य-पद्य दिये हैं, जिनसे पाठकों को जीवन में शान्ति, समरसता व विचार करने की प्रेरणा मिले।

निवेदन – ग्रन्थ के सम्बन्ध में हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं; आशा है कि प्रबुद्ध पाठकगण उन पर अवश्य ध्यान देंगे।

1. ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर प्रकरण के अनुसार स्त्रियों की भर्त्सना की गई है। अत: सर्वप्रथम माताओं-बहिनों से निवेदन है कि उसे अपनी निन्दा न समझें, उस प्रकरण को समझने का प्रयास करें। आचार्य ने पुरुषों की विषयासक्ति पर प्रहार करने के लिए अथवा कथा में वर्णित कुटिल स्त्रियों का स्वभाव बताने के लिए ही स्त्री-भर्त्सना की है, समस्त स्त्रीसमाज की निन्दा करना उनका उद्देश्य नहीं है।

2. पाठकों से यह भी निवेदन है कि अन्य मत का खण्डन पढ़कर इसे साम्प्रदायिकता फैलाने वाला ग्रन्थ न समझें, अपितु उन मान्यताओं या प्रसंगों को दिये गये तर्क व विवेक की दृष्टि से देखें और

स्वयं सत्य या असत्य का निर्णय करें। दूसरों के दोषों को उजागर करने के लिए यह कथन नहीं हैं, अपितु स्वयं में ऐसी गलतियाँ हों तो उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

3. जैन अध्ययन केन्द्र का यह प्रथम स्वतन्त्र प्रकाशन है। अत: इसमें त्रुटियाँ रह जाना सम्भव है। अत: प्रबुद्ध पाठकों से निवेदन है कि वे त्रुटियों के बारे में बताकर उन्हें दूर करने में हमारा सहयोग करें तथा अपने उपयोगी सुझावों द्वारा भी हमें लाभान्वित करें।

4. अन्तिम निवेदन यह है कि ग्रन्थ के साथ प्रकाशित 'स्वाध्याय की महिमा' आदि सभी विषयों को भी उपयोगी जानकर उनका स्वाध्याय करते हुए विचार करें व निर्णय करें, तभी यह ग्रन्थ हितकर सिद्ध होगा।

जैन अध्ययन केन्द्र, झालरापाटन

जैन अध्ययन केन्द्र जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए एक समर्पित संस्था है। इस कार्य हेतु केन्द्र द्वारा स्वाध्याय-सभा, पाठशाला, प्रासंगिक विशेष कक्षाओं आदि का आयोजन; शिक्षण शिविरों में सहयोग; जैन पाण्डुलिपियों का संरक्षण, सूचीकरण, कम्प्यूटरीकरण आदि कार्य किये जा रहे हैं। इस कार्य को और आगे बढ़ाने के लिए केन्द्र द्वारा निर्णय किया गया कि वर्तमान में जो ग्रन्थ अनुपलब्धप्राय हैं, अद्यतन अप्रकाशित हैं अथवा जो अधिक कीमत होने के कारण सर्वसुलभ नहीं हैं, केन्द्र द्वारा उन ग्रन्थों का प्रकाशन कर उनको सुलभ बनाया जाये तथा इण्टरनेट पर भी उपलब्ध कराया जाये।

इसी क्रम में केन्द्र द्वारा स्थापित 'मुक्ति-विहान जैन ग्रन्थमाला' के द्वितीय ग्रन्थ के रूप में 'धर्मपरीक्षा' का प्रकाशन किया जा रहा है। इससे पहले केन्द्र ने पण्डित सचिन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित 'स्वाध्याय का स्वरूप' पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग दिया था। आगे भी ऐसे ही अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना है, जिसे यथासमय साकार किया जाएगा। तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में प्रबुद्धवर्ग के विचार सादर आमंत्रित हैं।

ग्रन्थ के समय पर सुन्दर मुद्रण हेतु हम प्री एलविल सन, जयपुर के श्री संजय शास्त्री के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही जिन-किन्हीं महानुभावों का इस कार्य में प्रत्यक्ष/परोक्ष सहयोग एवं मार्गदर्शन हमें मिला है तथा जिनकी रचनाओं का उपयोग इस ग्रन्थ में किया गया है, हम उनके प्रति भी हृदय से आभारी हैं।

- प्रकाशन विभाग

जैन अध्ययन केन्द्र, झालरापाटन

शास्त्राभ्यास की महिमा

..... अब इस शास्त्र के अभ्यास में जीवों को सन्मुख करते हैं। हे भव्य जीव! तुम अपने हित की वांछा करते हो, तो तुमको **जैसे बने वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करना चाहिए;** क्योंकि आत्मा का हित मोक्ष है। मोक्ष के बिना अन्य जो है, वह परसंयोगजनित है, विनाशीक है और दुःखमय है; और मोक्ष है, वही निजस्वभाव है, अविनाशी है, अनंत सुखमय है। इसलिए मोक्षपद प्राप्त करने का उपाय तुमको करना चाहिए। सो मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं। इनकी प्राप्ति जीवादिक का स्वरूप जानने से ही होती है।

वही कहते हैं – जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, सो बिना जाने श्रद्धान का होना आकाश के फूल के समान है। पहले जाने, पश्चात् वैसी ही प्रतीति करके श्रद्धान को प्राप्त होता है। इसलिए जो जीवादिक का जानना श्रद्धान होने के पहले होता है, वही उनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का कारण जानना। तथा श्रद्धान होने पर जो जीवादिक का जानना होता है, उसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। तथा श्रद्धानपूर्वक जीवादि जानने पर स्वयमेव उदासीन होकर हेय का त्याग करता है, उपादेय का ग्रहण करता है, तब सम्यक्चारित्र होता है। अज्ञानपूर्वक क्रियाकांड से सम्यक्चारित्र नहीं होता। इस तरह जीवादिक को जानने ही से सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के उपायों की प्राप्ति होती है – ऐसा निश्चय करना। सो इस शास्त्र के अभ्यास से जीवादिक का जानना यथार्थ होता है। .....

सर्व धर्म–कार्यों में शास्त्राभ्यास ही प्रधान

..... अब चरणाणुयोग का पक्षपाती कहता है कि इस शास्त्र में कहा हुआ जीव–कर्म का स्वरूप जैसा है वैसा ही है, उसको जानने से क्या सिद्धि होती है? यदि हिंसादिक का त्याग करके व्रत का पालन किया जाये, उपवासादि तप किया जाये, अरहंतादिक की पूजा, नामस्मरण आदि भक्ति की जाये, दान दिया जाये या विषयादिक से उदासीन हुआ जाये इत्यादि शुभ कार्य किये जाये तो आत्महित हो। इसलिए इनके प्ररूपक चरणानुयोग का उपदेश आदि करना।

उससे कहते हैं – हे स्थूलबुद्धि! तूने व्रतादिक शुभ कार्य कहे, वे करने योग्य ही

हैं, परन्तु वे सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसे हैं जैसे अंक बिना बिंदी; और जीवादिक का स्वरूप जाने बिना सम्यक्त्व का होना ऐसा है जैसे बाँझ का पुत्र। इसलिए जीवादिक जानने के लिए इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना। तथा तूने जैसे व्रतादिक शुभ कार्य कहे और उनसे पुण्यबंध होता है, वैसे जीवादिक का स्वरूप जाननेरूप ज्ञानाभ्यास है, वह प्रधान शुभ कार्य है, इससे सातिशय पुण्य का बंध होता है। पुनश्च **उन व्रतादिकों में भी ज्ञानाभ्यास की ही प्रधानता है,** वह कहते हैं –

जो जीव प्रथम जीवसमासादिक जीवादिक के विशेष जानकर पश्चात् यथार्थ ज्ञान करके हिंसादिक का त्याग करके व्रत धारण करता है, वही व्रती है। तथा जीवादिक के विशेष जाने बिना कथंचित् हिंसादिक के त्याग से अपने को व्रती मानता है, वह व्रती नहीं है। इसलिए **व्रत पालने में ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।**

पुनश्च तप दो प्रकार के हैं – एक बहिरंग, एक अंतरंग। वहाँ जिससे शरीर का दमन हो, वह बहिरंग तप है और जिससे मन का दमन हो वह अंतरंग तप है। इनमें बहिरंग तप से अंतरंग तप उत्कृष्ट है। सो उपवासादि तो बहिरंग तप है, ज्ञानाभ्यास अंतरंग तप है। सिद्धांत में भी छः प्रकार के तपों में चौथा स्वाध्याय नामक तप कहा है। उससे उत्कृष्ट व्युत्सर्ग और ध्यान ही है। इसलिए तप करने में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। पुनश्च जीवादिक के विशेषरूप गुणस्थानादिकों का स्वरूप जानने पर ही अरहंतादिक का स्वरूप भली–भाँति पहचाना जाता है तथा अपनी अवस्था पहचानी जाती है। ऐसी पहचान होनेपर जो तीव्र अंतरंग भक्ति प्रकट होती है, वही बहुत कार्यकारी है। तथा जो कुलक्रमादिक से भक्ति होती है, वह किंचित् मात्र फल की दाता है। इसलिए **भक्ति में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।**

पुनश्च दान चार प्रकार का है – उनमें आहारदान, औषधदान, अभयदान तो तात्कालिक क्षुधा के दुःख को, रोग के दुःख को और मरणादि के भय के दुःख ही को दूर करते हैं। और ज्ञानदान है वह अनंत भवसंतान संबंधी दुःख दूर करने का कारण है। तीर्थंकर, केवली, आचार्यादिकों के भी ज्ञानदान की प्रवृत्ति है। इसलिए ज्ञानदान उत्कृष्ट है, सो स्वयं का ज्ञानाभ्यास हो जाय तो अपना भला कर लेता है और अन्य जीवों को ज्ञानदान देता है। ज्ञानाभ्यास बिना ज्ञानदान देना कैसे हो सकता है? इसलिए **दान में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।**

पुनश्च जैसे जन्म से ही कितने ही पुरुष ठगों के घर गये, वहाँ उन ठगों को अपना मानते हैं। उनमें से कदाचित् कोई पुरुष किसी निमित्त से अपने कुल का और ठगों का यथार्थ ज्ञान होने से ठगों से अंतरंग में उदासीन हुआ, उनको पर जानकर संबंध छुड़ाना चाहता है। बाह्य में जैसा निमित्त है वैसा प्रवर्तन करता है। तथा कोई पुरुष उन ठगों को अपना ही जानता है और किसी कारण से किसी ठग से अनुरागरूप प्रर्वतता है, किसी ठग से लड़ कर उदासीन होकर आहारादि का त्यागी होता है।

वैसे ही अनादि से सर्व जीव संसार को प्राप्त हैं, वहाँ कर्मों को अपना मानते हैं। उनमें से कोई जीव किसी निमित्त से जीव का (अपना) और कर्म का यथार्थ ज्ञान होने से कर्मों से उदासीन हुआ उनको पर जानकर उनसे संबंध छुड़ाना चाहता है। बाह्य जैसा निमित्त है वैसा प्रवर्तन करता है। इस तरह जो ज्ञानाभ्यास से उदासीनता होती है वही कार्यकारी है। तथा कोई जीव उन कर्मों को अपने जानता है और किसी कारण से किसी शुभ कर्म से अनुरागरूप प्रर्वतता है, किसी अशुभ कर्म से दुःख का कारण जानकर उदासीन हुआ विषायादिक का त्यागी होता है। इस प्रकार ज्ञान बिना जो उदासीनता होती है वह पुण्यफल की दाता है, मोक्षकार्य को नहीं साधती। इसलिए **उदासीनता में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।**

इसी प्रकार अन्य भी शुभ कार्यों में ज्ञानाभ्यास ही प्रधान जानना। देखो! महामुनियों के भी ध्यान-अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। इसलिए शास्त्र अध्ययन से जीव-कर्म का स्वरूप जानकर स्वरूप का ध्यान करना। .....

धनप्राप्ति का उपाय

..... पुनश्च अर्थ का पक्षपाती कहता है कि - इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या है? सर्व कार्य धन से होते हैं, धन से ही प्रभावना आदि धर्म उपजते हैं। धनवान के निकट अनेक पंडित आकर रहते हैं। अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है। इसलिए धन उपजाने का उद्यम करना।

उसको कहते हैं - अरे पापी! धन कुछ अपना उत्पन्न किया तो होता नहीं है, भाग्य से होता है। ग्रंथाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है। इसलिए धन प्राप्त होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा? और

यदि नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा? इसलिए **धन का होना, न होना तो उदयाधीन है, शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होते हो? और सुनो! धन है वह तो विनाशीक है, भय संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है, नरकादि का कारण है।**

और यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है वह अविनाशी है, भय रहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। इसलिए महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में लगते हैं। और तुम पापी शास्त्राभ्यास को छोड़कर धन उत्पन्न करने की बड़ाई करते हो, सो तुम अनंत संसारी हो।

तथा तुमने कहा - प्रभावना आदि धर्म भी धन ही से होते हैं। [समाधान -] सो प्रभावना आदि धर्म हैं, वे किंचित् सावद्य क्रिया संयुक्त हैं। उनसे समस्त सावद्यरहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है। यदि ऐसा न होता तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावना आदि धर्म साधते थे, उनको छोड़कर संयमी होकर शास्त्राभ्यास में क्यों लगते हैं? तथा शास्त्राभ्यास से प्रभावनादि भी विशेष होती है।

तथा तुमने कहा - धनवान के निकट पंडित भी आकर रहते हैं। [समाधान -] सो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो, वहाँ ऐसा होता है। और शास्त्राभ्यासवालों की तो इन्द्रादिक सेवा करते हैं। यहाँ भी बड़े-बड़े महंत पुरुष दास होते देखे जाते हैं। इसलिए शास्त्राभ्यासवालों से धनवान को महंत मत जानो।

तथा तुमने कहा - धन से सर्व कार्यसिद्धि होती है। [समाधान -] सो धन से तो इस लोकसंबंधी विषयादिक कार्य ऐसे सिद्ध होते हैं, जिनसे बहुत काल तक नरकादि दुःख सहन करने पड़ते हैं और शास्त्राभ्यास से ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं, जिनसे इस लोक में तथा परलोक में अनेक सुखों की परम्परा होती है। इसलिए **धन उपजाने का विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यास करना।** और यदि सर्वथा ऐसा न बन सके तो संतोष सहित धन उपजाने का साधन कर शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना। इसप्रकार धन उपजाने के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया। .....

शास्त्राभ्यास से सच्चा सुख

..... पुनश्च शास्त्राभ्यास करने से हुआ जो सम्यग्ज्ञान; उससे उत्पन्न हुआ जो आनंद, वह सच्चा सुख है; क्योंकि वह सुख स्वाधीन है, आकुलता रहित है, किसी से

नष्ट नहीं होता, मोक्ष का कारण है, विषम नहीं है। जैसे खाज की पीड़ा नहीं होती, तब सहज ही सुखी होता है; वैसे यहाँ इन्द्रियाँ पीड़ने के लिए समर्थ नहीं होतीं, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है। इसलिए **विषयसुख छोड़कर शास्त्राभ्यास करना।** यदि सर्वथा न छूटे तो जितना बन सके, उतना छोड़कर शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना। .....

शास्त्राभ्यास की महिमा और फल

..... हे भव्य! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। शब्द का और अर्थ का बाँचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं। वहाँ **जैसे बने वैसे अभ्यास करना।** यदि सर्व शास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम और दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है। वहाँ **जिसका बने उसी का अभ्यास करना, परन्तु अभ्यास में आलसी मत होना।**

देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा, जिसके होने पर परम्परा आत्मानुभव की दशा को प्राप्त होकर मोक्षरूप फल उत्पन्न होता है। वह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं –

1. क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है। 2. पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है। 3. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है। 4. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते। 5. अल्प ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के त्रिकाल संबंधी समस्त चराचर पदार्थों का जानना होता हे। 6. हेय-उपादेय की पहचान होती है। 7. आत्मज्ञान सन्मुख होता है (ज्ञान आत्मसन्मुख होता है)। 8. अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनंद उत्पन्न होता है। 9. लोक में महिमा, यश विशेष होता है। 10. सातिशय पुण्य का बंध होता है – इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रकट होते हैं। इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

शास्त्राभ्यास की दुर्लभता

पुनश्च हे भव्य! शास्त्राभ्यास करने का समय (अवसर) पाना महादुर्लभ है। किस कारण? सो कहते हैं –

एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यंत जीवों के तो मन ही नहीं है। और नारकी वेदनापीड़ित, तिर्यंच विवेकरहित, देव विषयासक्त; इसलिए मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलने पर शास्त्राभ्यास होता है। सो मनुष्य पर्याय की प्राप्ति होना ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से महादुर्लभ है।

वहाँ द्रव्य से (संख्या से) – लोक में मनुष्य जीव बहुत थोड़े हैं, तुच्छ संख्यातमात्र ही हैं (पर्याप्त मनुष्यों की अपेक्षा) और अन्य जीवों में निगोदिया अनंत हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं।

पुनश्च क्षेत्र से – मनुष्यों का क्षेत्र बहुत कम है, अढ़ाई द्वीपमात्र ही है। तथा अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्वलोक है, औरों का कितने ही राजूप्रमाण है।

पुनश्च काल से – मनुष्य पर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल अल्प है, कर्मभूमि की अपेक्षा पृथक्त्व कोटि पूर्व मात्र ही है। तथा अन्य पर्यायों में उत्कृष्ट रहने का काल एकेन्द्रियों में तो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन मात्र और दूसरों में संख्यात पल्यमात्र है।

पुनश्च भाव से – तीव्र शुभाशुभपना रहित ऐसे मनुष्यपर्याय के कारणभूत परिणाम होना अत्यंत दुर्लभ है। अन्य पर्याय के कारणभूत अशुभरूप और शुभरूप परिणाम होना सुलभ है।

इसतरह शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याप्त कर्मभूमिया मनुष्यपर्याय, उसका दुर्लभपना जानना।

वहाँ सुवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इन्द्रियों की सामर्थ्य, निरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता इत्यादिक की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महादुर्लभ है। वह प्रत्यक्ष देखते हैं। और इतनी सामग्री मिले बिना ग्रन्थाभ्यास बन नहीं सकता। सो तुमने भाग्य से यह अवसर पाया है। इसलिए तुमको हठ से भी तुम्हारे हित के लिए प्रेरित करते हैं। **जैसे बने वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो। तथा अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ। तथा जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो।** पुस्तक लिखवाना और पढ़ने-पढ़ाने वालों की स्थिरता करना इत्यादिक शास्त्राभ्यास के बाह्य कारण, उनका साधन करना; क्योंकि इनके द्वारा भी परम्परा कार्यसिद्धि होती है और महत् पुण्य उपजता है।

इस प्रकार इस शास्त्र के अभ्यासादि में जीवों को रुचिवान किया।

– सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका पीठिका

अनुयोगों का अर्थ करने की पद्धति

(आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा रचित श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के आठवें अधिकार में जिनागम के उपदेश का स्वरूप विशदरूप से वर्णित है। धर्मपरीक्षा प्रथमानुयोग एवं चरणानुयोग का ग्रन्थ है; अतः पाठकों को प्रथमानुयोग एवं चरणानुयोग का स्वरूप ज्ञात हो एवं वे प्रथमानुयोग-चरणानुयोग की कथन पद्धति को हृदयंगम कर सकें, अत: यहाँ प्रथमानुयोग-चरणानुयोग का प्रयोजन, उनके व्याख्यान का विधान, व्याख्यान की पद्धति, उनमें दोष-कल्पना का निराकरण एवं चारों अनुयोगों का अभ्यास क्रम आदि विषय दिये जा रहे हैं।

चारों अनुयोगों का सम्पूर्ण स्वरूप जानने के लिए उक्त ग्रन्थ का आठवाँ अधिकार मूलत: पठनीय है।)

प्रथमानुयोग

प्रथमानुयोग का प्रयोजन

प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव तुच्छबुद्धि हों, वे भी उससे धर्मसम्मुख होते हैं; क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहचानते, लौकिक कथाओं को जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। तथा प्रथमानुयोग में लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होने से उसे वे भली-भाँति समझ जाते हैं। तथा लोक में तो राजादिक की कथाओं में पाप का पोषण होता है। यहाँ महन्तपुरुष राजादिक की कथाएँ तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ-तहाँ पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का प्रकट करते हैं; इसलिए वे जीव कथाओं के लालच से उन्हें पढ़ते-सुनते हैं और फिर पाप को बुरा, धर्म को भला जानकर धर्म में रुचिवंत होते हैं।

इसप्रकार तुच्छबुद्धियों को समझाने के लिए यह अनुयोग है। 'प्रथम' अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि', उनके अर्थ जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है। ऐसा अर्थ गोम्मटसार की टीका में किया है।

तथा जिन जीवों के तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोग को पढ़ें-सुनें तो उन्हें यह उसके उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे - जीव अनादिनिधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं, ऐसा यह जानता था तथा पुराणों में जीवों के भवान्तर निरूपित किये हैं, वे उस जानने के उदाहरण हुए। तथा शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग को जानता था, व उसके फल को जानता था। पुराणों में उन

उपयोगों की प्रवृत्ति और उनका फल जीव के हुआ सो निरूपण किया है, वही उस जानने का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार अन्य जानना।

यहाँ उदाहरण का अर्थ यह है कि जिसप्रकार जानता था, उसीप्रकार वहाँ किसी जीव के अवस्था हुई – इसलिए यह उस जानने की साक्षी हुई।

तथा जैसे कोई सुभट है – वह सुभटों की प्रशंसा और कायरों की निन्दा जिसमें हो, ऐसी किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से सुभटपने में अति उत्साहवान होता है; उसीप्रकार धर्मात्मा है – वह धर्मात्माओं की प्रशंसा और पापियों की निन्दा जिसमें हो, ऐसे किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से धर्म में अति उत्साहवान होता है।

इसप्रकार यह प्रथमानुयोग का प्रयोजन जानना।

प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान

प्रथमानुयोग में जो मूल कथाएँ हैं; वे तो जैसी हैं, वैसी ही निरूपित करते हैं, तथा उनमें प्रसंगोपात्त व्याख्यान होता है; वह कोई तो ज्यों का त्यों होता है, कोई ग्रन्थकर्त्ता के विचारानुसार होता है; परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

उदाहरण : जैसे – तीर्थंकर देवों के कल्याणकों में इन्द्र आये, यह कथा तो सत्य है। तथा इन्द्र ने स्तुति की, उसका व्याख्यान किया; सो इन्द्र ने तो अन्य प्रकार से ही स्तुति की थी और यहाँ ग्रन्थकर्ता ने अन्य ही प्रकार से स्तुति करना लिखा है; परन्तु स्तुतिरूप प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ। तथा परस्पर किन्हीं के वचनालाप हुआ; वहाँ उनके तो अन्य प्रकार अक्षर निकले थे, यहाँ ग्रन्थकर्ता ने अन्य प्रकार कहे; परन्तु प्रयोजन एक ही दिखलाते हैं। तथा नगर, वन, संग्रामादिक के नामादिक तो यथावत् ही लिखते हैं और वर्णन हीनाधिक भी प्रयोजन का पोषण करता हुआ निरूपित करते हैं। इत्यादि इसी प्रकार जानना।

तथा प्रसंगरूप कथा भी ग्रन्थकर्ता अपने विचारानुसार कहते हैं। जैसे – धर्मपरीक्षा में मूर्खों की कथा लिखी; सो वही कथा मनोवेग ने कही थी, ऐसा नियम नहीं है; परन्तु मूर्खपने का पोषण करने वाली कोई कथा कही थी, ऐसे अभिप्राय का पोषण करते हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

यहाँ कोई कहे – अयथार्थ कहना तो जैन शास्त्र में सम्भव नहीं है?

उत्तर – अन्यथा तो उसका नाम है जो प्रयोजन अन्य का अन्य प्रकट करे। जैसे – किसी से कहा कि तू ऐसा कहना, उसने वे ही अक्षर तो नहीं कहे, परन्तु उसी प्रयोजन सहित कहे तो

उसे मिथ्यावादी नहीं कहते – ऐसा जानना। यदि जैसे का तैसा लिखने का सम्प्रदाय हो तो किसी ने बहुत प्रकार से वैराग्य चिन्तवन किया था, उसका सर्व वर्णन लिखने से ग्रन्थ बढ़ जायेगा, तथा कुछ न लिखने से उसका भाव भासित नहीं होगा, इसलिए वैराग्य के ठिकाने थोड़ा–बहुत अपने विचार के अनुसार वैराग्य पोषक ही कथन करेंगे, सराग पोषक कथन नहीं करेंगे। वहाँ प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ, इसलिए अयथार्थ नहीं कहते। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा प्रथमानुयोग में जिसकी मुख्यता हो उसी का पोषण करते हैं। जैसे – किसी ने उपवास किया, उसका तो फल अल्प था, परन्तु उसे अन्य धर्मपरिणति की विशेषता हुई, इसलिए विशेष उच्च पद की प्राप्ति हुई, वहाँ उसको उपवास ही का फल निरूपित करते हैं। इसीप्रकार अन्य जानना।

तथा जिसप्रकार किसी ने शीलादि की प्रतिज्ञा दृढ़ रखी व नमस्कार मंत्र का स्मरण किया व अन्य धर्म–साधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रकट हुए; वहाँ उन्हीं का वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए हैं; तथापि उनको उन शीलादिक का ही फल निरूपित करते हैं। उसीप्रकार कोई पापकार्य किया, उसको उसी का तो वैसा फल नहीं हुआ है, परन्तु अन्य कर्म के उदय से नीचगति को प्राप्त हुआ अथवा कष्टादिक हुए; उसे उसी पापकार्य का फल निरूपित करते हैं। – इत्यादि इसीप्रकार जानना।

यहाँ कोई कहे – ऐसा झूठा फल दिखलाना तो योग्य नहीं है; ऐसे कथन को प्रमाण कैसे करें?

समाधान – जो अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाये बिना धर्म में न लगें व पाप से न डरें, उनका भला करने के अर्थ ऐसा वर्णन करते हैं। झूठ तो तब हो, जब धर्म के फल को पाप का फल बतलायें, पाप के फल को धर्म का फल बतलायें, परन्तु ऐसा तो है नहीं। जैसे – दस पुरुष मिलकर कोई कार्य करें, वहाँ उपचार से एक पुरुष का भी किया कहा जाये तो दोष नहीं है। अथवा जिसके पितादिक ने कोई कार्य किया हो, उसे एक जाति अपेक्षा उपचार से पुत्रादिक का किया कहा जाये तो दोष नहीं है। उसीप्रकार बहुत शुभ व अशुभकार्यों का एक फल हुआ, उसे उपचार से एक शुभ व अशुभकार्य का फल कहा जाये तो दोष नहीं है। अथवा अन्य शुभ व अशुभकार्य का फल जो हुआ हो, उसे एक जाति अपेक्षा उपचार से किसी अन्य ही शुभ व अशुभकार्य का फल कहें तो दोष नहीं है।

उपदेश में कहीं व्यवहारवर्णन है, कहीं निश्चयवर्णन है। यहाँ उपचाररूप व्यवहार वर्णन किया है, इसप्रकार इसे प्रमाण करते हैं। इसको तारतम्य नहीं मान लेना; तारतम्य का तो करणानुयोग में निरूपण किया है, सो जानना।

तथा प्रथमानुयोग में उपचाररूप किसी धर्म का अंग होने पर सम्पूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जैसे - जिन जीवों के शंका-कांक्षादिक नहीं हुए, उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं; परन्तु किसी एक कार्य में शंका-कांक्षा न करने से ही तो सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होने पर होता है; परन्तु निश्चयसम्यक्त्व का तो व्यवहारसम्यक्त्व में उपचार किया और व्यवहारसम्यक्त्व के किसी एक अंग में सम्पूर्ण व्यवहारसम्यक्त्व का उपचार किया - इसप्रकार उपचार द्वारा सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।

तथा किसी जैनशास्त्र का एक अंग जानने पर सम्यग्ज्ञान हुआ कहते हैं। सो संशयादि रहित तत्त्वज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है; परन्तु यहाँ पूर्ववत् उपचार से सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

तथा कोई भला आचरण होने पर सम्यक्चारित्र हुआ कहते हैं। वहाँ जिसने जैनधर्म अंगीकार किया हो व कोई छोटी-मोटी प्रतिज्ञा ग्रहण की हो, उसे श्रावक कहते हैं। सो श्रावक तो पंचम गुणस्थानवर्ती होने पर होता है; परन्तु पूर्ववत् उपचार से इसे श्रावक कहा है। उत्तरपुराण में श्रेणिक को श्रावकोत्तम कहा है सो वह तो असंयत था; परन्तु जैन था इसलिए कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा जो सम्यक्त्वरहित मुनिलिंग धारण करे, व द्रव्य से भी कोई अतिचार लगाता हो, उसे मुनि कहते हैं। सो मुनि तो षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होने पर होता है; परन्तु पूर्ववत् उपचार से उसे मुनि कहा है। समवसरण सभा में मुनियों की संख्या कही, वहाँ सर्व ही शुद्ध भावलिंगी मुनि नहीं थे; परन्तु मुनिलिंग धारण करने से सभी को मुनि कहा। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे, उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे - विष्णुकुमार ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया सो धर्मानुराग से किया; परन्तु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था; क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थ धर्म में सम्भव है, और गृहस्थ धर्म से मुनिधर्म ऊँचा है; सो ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार किया, वह अयोग्य है; परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है। इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।

तथा जिसप्रकार ग्वाले ने मुनि को अग्नि से तपाया, सो करुणा से यह कार्य किया; परन्तु आये हुए उपसर्ग को तो दूर करे, सहज अवस्था में जो शीतादिक का परीषह होता है, उसे दूर करने पर रति मानने का कारण होता है, और उन्हें रति करना नहीं है, तब उल्टा उपसर्ग होता है। इसी से विवेकी उनके शीतादिक का उपचार नहीं करते। ग्वाला अविवेकी था, करुणा से यह कार्य किया, इसलिए उसकी प्रशंसा की है, परन्तु इस छल से औरों को धर्मपद्धति में जो

विरुद्ध हो, वह कार्य करना योग्य नहीं है।

तथा जैसे - वज्रकरण राजा ने सिंहोदर राजा को नमन नहीं किया, मुद्रिका में प्रतिमा रखी; सो बड़े-बड़े सम्यग्दृष्टि राजादिक को नमन करते हैं, उसमें दोष नहीं है; तथा मुद्रिका में प्रतिमा रखने में अविनय होती है, यथावत् विधि से ऐसी प्रतिमा नहीं होती, इसलिए इस कार्य में दोष है; परन्तु उसे ऐसा ज्ञान नहीं था, उसे तो धर्मानुराग से 'मैं और को नमन नहीं करूँगा' ऐसी बुद्धि हुई; इसलिए उसकी प्रशंसा की है। परन्तु इस छल से औरों को ऐसे कार्य करना योग्य नहीं है।

तथा कितने ही पुरुषों ने पुत्रादिक की प्राप्ति के अर्थ अथवा रोग-कष्टादि दूर करने के अर्थ चैत्यालय पूजनादि कार्य किये, स्तोत्रादि किये, नमस्कार मन्त्र स्मरण किया; परन्तु ऐसा करने से तो नि:कांक्षितगुण का अभाव होता है, निदानबन्ध नामक आर्तध्यान होता है, पाप ही का प्रयोजन अन्तरंग में है, इसलिए पाप ही का बन्ध होता है; परन्तु मोहित होकर भी बहुत पापबन्ध का कारण कुदेवादि का तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुण ग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं। इस छल से औरों को लौकिक कार्यों के अर्थ धर्म साधन करना युक्त नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

इसीप्रकार प्रथमानुयोग में अन्य कथन भी हों, उन्हें यथासम्भव जानकर भ्रमरूप नहीं होना।

प्रथमानुयोग के व्याख्यान की पद्धति

प्रथमानुयोग में तो अलंकार शास्त्र की व काव्यादि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि अलंकारादिक से मन रंजायमान होता है, सीधी बात कहने से ऐसा उपयोग नहीं लगता जैसा अलंकारादि युक्तिसहित कथन से उपयोग लगता है। तथा परोक्ष बात को कुछ अधिकतापूर्वक निरूपण किया जाये तो उसका स्वरूप भली-भाँति भासित होता है।

प्रथमानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

कितने ही जीव कहते हैं - प्रथमानुयोग में शृंगारादिक व संग्रामादिक का बहुत कथन करते हैं, उनके निमित्त से रागादिक बढ़ जाते हैं, इसलिए ऐसा कथन नहीं करना था व ऐसा कथन सुनना नहीं।

उनसे कहते हैं - कथा कहना हो, तब तो सभी अवस्थाओं का कथन करना चाहिए; तथा यदि अलंकारादि द्वारा बढ़ाकर कथन करते हैं, सो पण्डितों के वचन तो युक्तिसहित ही निकलते हैं।

और यदि तुम कहोगे कि सम्बन्ध मिलाने को सामान्य कथन किया होता, बढ़ाकर कथन किसलिए किया?

उसका उतर यह है कि परोक्ष कथन को बढ़ाकर कहे बिना उसका स्वरूप भासित नहीं होता। तथा पहले तो भोग-संग्रामादि इसप्रकार किये, पश्चात् सबका त्याग करके मुनि हुए; इत्यादि चमत्कार तभी भासित होंगे, जब बढ़ाकर कथन किया जाये।

तथा तुम कहते हो - उसके निमित्त से रागादिक बढ़ जाते हैं; सो जैसे कोई चैत्यालय बनवाये, उसका प्रयोजन तो वहाँ धर्मकार्य कराने का है; और कोई पापी वहाँ पापकार्य करे तो चैत्यालय बनवाने वाले का तो दोष नहीं है। उसीप्रकार श्रीगुरु ने पुराणादि में शृंगारादि का वर्णन किया; वहाँ उनका प्रयोजन रागादिक कराने का तो है नहीं, धर्म में लगाने का प्रयोजन है; परन्तु कोई पापी धर्म न करे और रागादिक ही बढ़ाये तो श्रीगुरु का क्या दोष है?

यदि तू कहे कि रागादिक का निमित्त हो ऐसा कथन ही नहीं करना था।

उसका उत्तर यह है - सरागी जीवों का मन केवल वैराग्य कथन में नहीं लगता। इसलिए जिस प्रकार बालक को बताशे के आश्रय से औषधि देते हैं; उसीप्रकार सरागी को भोगादि कथन के आश्रय से धर्म में रुचि कराते हैं।

यदि तू कहेगा - ऐसा है तो विरागी पुरुषों को तो ऐसे ग्रन्थों का अभ्यास करना योग्य नहीं है?

उसका उत्तर यह है - जिनके अन्तरंग में रागभाव नहीं है, उनको शृंगारादि कथन सुनने पर रागादि उत्पन्न ही नहीं होते। वे जानते हैं कि यहाँ इसीप्रकार कथन करने की पद्धति है।

फिर तू कहेगा - जिनको शृंगारादि का कथन सुनने पर रागादि हो आयें, उन्हें तो वैसा कथन सुनना योग्य नहीं है?

उसका उत्तर यह है - जहाँ धर्म ही का तो प्रयोजन है और जहाँ-तहाँ धर्म का पोषण करते हैं - ऐसे जैन पुराणादिक में प्रसंगवश शृंगारादिक का कथन किया है। उसे सुनकर भी जो बहुत रागी हुआ तो वह अन्यत्र कहाँ विरागी होगा? वह तो पुराण सुनना छोड़कर अन्य कार्य भी ऐसे ही करेगा जहाँ बहुत रागादि हों; इसलिए उसको भी पुराण सुनने से थोड़ी-बहुत धर्मबुद्धि हो तो हो। अन्य कार्यों से तो यह कार्य भला ही है।

तथा कोई कहे - प्रथमानुयोग में अन्य जीवों की कहानियाँ हैं, उनसे अपना क्या प्रयोजन सधता है?

उससे कहते हैं - जैसे कामी पुरुषों की कथा सुनने पर अपने को भी काम का प्रेम बढ़ता है; उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुषों की कथा सुनने पर अपने को धर्म की प्रीति विशेष होती है। इसलिए प्रथमानुयोग का अभ्यास करना योग्य है।

चरणानुयोग

चरणानुयोग का प्रयोजन

अब चरणानुयोग का प्रयोजन कहते हैं। चरणानुयोग में नानाप्रकार धर्म के साधन निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाते हैं। जो जीव हित-अहित को नहीं जानते, हिंसादिक पाप कार्यों में तत्पर हो रहते हैं; उन्हें जिसप्रकार पापकार्यों को छोड़कर धर्मकार्यों में लगें, उस प्रकार उपदेश दिया है; उसे जानकर जो धर्म का आचरण करने को सम्मुख हुए, वे जीव गृहस्थधर्म व मुनिधर्म का विधान सुनकर आपसे जैसा सधे वैसे धर्म-साधन में लगते हैं।

ऐसे साधन से कषाय मन्द होती है और उसके फल में इतना तो होता है कि कुगति में दुःख नहीं पाते, किन्तु सुगति में सुख प्राप्त करते हैं; तथा ऐसे साधन से जिनमत का निमित्त बना रहता है, वहाँ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होना हो तो हो जाती है।

तथा जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतरागभाव के अनुसार भासित होते हैं। एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा-मुनिदशा होती है; क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। ऐसा जानकर श्रावक-मुनिधर्म के विशेष पहिचानकर जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो, वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं; जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं; सम्पूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानते हैं।

ऐसा चरणानुयोग का प्रयोजन है।

चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान

अब, चरणानुयोग में व्याख्यान का विधान बतलाते हैं :-

चरणानुयोग में जिसप्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो, वैसा उपदेश दिया है। वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है वही है, उसके साधनादिक उपचार से धर्म हैं। इसलिए व्यवहारनय की प्रधानता से नानाप्रकार उपचार धर्म के भेदादिकों का इसमें निरूपण किया जाता है; क्योंकि निश्चयधर्म में तो कुछ ग्रहण-त्याग का विकल्प नहीं है और इसके निचली अवस्था में विकल्प छूटता नहीं है; इसलिए इस जीव को धर्मविरोधी कार्यों को छुड़ाने का और धर्मसाधनादि कार्यों को ग्रहण कराने का उपदेश इसमें है।

वह उपदेश दो प्रकार से दिया जाता है - एक तो व्यवहार ही का उपदेश देते हैं, एक निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।

वहाँ जिन जीवों के निश्चय का ज्ञान नहीं है व उपदेश देने पर भी नहीं होता दिखाई देता ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव कुछ धर्मसन्मुख होने पर उन्हें व्यवहार ही का उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवों को निश्चयव्यवहार का ज्ञान है व उपदेश देने पर उनका ज्ञान होता दिखायी देता है – ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्वसन्मुख जीव उनको निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देते हैं, क्योंकि श्रीगुरु सर्व जीवों के उपकारी हैं।

सो असंज्ञी जीव तो उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं है, उनका तो उपकार इतना ही किया कि और जीवों को उनकी दया का उपदेश दिया।

तथा जो जीव कर्मप्रबलता से निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं हो सकते, उनका इतना ही उपकार किया कि उन्हें व्यवहार धर्म का उपदेश देकर कुगति के दुःखों के कारण पापकार्य छुड़ाकर सुगति के इन्द्रिय सुखों के कारणरूप पुण्यकार्यों में लगाया। वहाँ जितने दुःख मिटे उतना ही उपकार हुआ।

तथा पापी के तो पापवासना ही रहती है और कुगति में जाता है, वहाँ धर्म का निमित्त नहीं है, इसलिए परम्परा से दुःख ही प्राप्त करता रहता है। तथा पुण्यवान के धर्मवासना रहती है और सुगति में जाता है, वहाँ धर्म के निमित्त प्राप्त होते हैं, इसलिए परम्परा से सुख को प्राप्त करता है; अथवा कर्म शक्तिहीन हो जाये तो मोक्षमार्ग को भी प्राप्त हो जाता है; इसलिए व्यवहार उपदेश द्वारा पाप से छुड़ाकर पुण्यकार्यों में लगाते हैं।

तथा जो जीव मोक्षमार्ग को प्राप्त हुआ व प्राप्त होने योग्य है; उनका ऐसा उपकार किया कि उनको निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देकर मोक्षमार्ग में प्रवर्तित किया।

श्रीगुरु तो सर्व का ऐसा ही उपकार करते हैं; परन्तु जिन जीवों का ऐसा उपकार न बने तो श्रीगुरु क्या करें? – जैसा बना वैसा ही उपकार किया; इसलिए दो प्रकार से उपदेश देते हैं।

वहाँ व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता है; उनके उपदेश से जीव पापक्रिया छोड़कर पुण्यक्रियाओं में प्रर्वतता है, वहाँ क्रिया के अनुसार परिणाम भी तीव्रकषाय छोड़कर कुछ मन्दकषायी हो जाते हैं, सो मुख्यरूप से तो इस प्रकार है; परन्तु किसी के न हों तो मत होओ, श्रीगुरु तो परिणाम सुधारने के अर्थ बाह्यक्रियाओं का उपदेश देते हैं।

तथा निश्चयसहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है, उसके उपदेश से तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधारे वहाँ परिणाम के अनुसार बाह्यक्रिया भी सुधर जाती है। परिणाम सुधरने पर बाह्यक्रिया सुधरती ही है, इसलिए श्रीगुरु

परिणाम सुधारने का मुख्य उपदेश देते हैं।

इसप्रकार दो प्रकार के उपदेश में जहाँ व्यवहार का ही उपदेश हो वहाँ सम्यग्दर्शन के अर्थ अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, दया-धर्म को ही मानना, और को नहीं मानना तथा जीवादिक तत्त्वों का व्यवहार स्वरूप कहा है उसका श्रद्धान करना, शंकादि पच्चीस दोष न लगाना, निःशंकितादि अंग व संवेगादिक गुणों का पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं।

तथा सम्यग्ज्ञान के अर्थ जिनमत के शास्त्रों का अभ्यास करना, अर्थ-व्यंजनादि अंगों का साधन करना इत्यादि उपदेश देते हैं। तथा सम्यक्चारित्र के अर्थ एकदेश व सर्वदेश हिंसादि पापों का त्याग करना, व्रतादि अंगों का पालन करना इत्यादि उपदेश देते हैं। तथा किसी जीव के विशेष धर्म का साधन न होता जानकर एक आखड़ी आदिक का ही उपदेश देते हैं। जैसे - भील को कौए का माँस छुड़वाया, ग्वाले को नमस्कार मन्त्र जपने का उपदेश दिया, गृहस्थ को चैत्यालय, पूजा-प्रभावनादि कार्य का उपदेश देते हैं, इत्यादि जैसा जीव हो उसे वैसा उपदेश देते हैं।

तथा जहाँ निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश हो, वहाँ सम्यग्दर्शन के अर्थ यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान कराते हैं। उनका जो निश्चयस्वरूप है सो भूतार्थ है, व्यवहारस्वरूप है सो उपचार है - ऐसे श्रद्धानसहित व स्व-पर के भेदज्ञान द्वारा परद्रव्य में रागादि छोड़ने के प्रयोजनसहित उन तत्त्वों का श्रद्धान करने का उपदेश देते हैं। ऐसे श्रद्धान से अरहन्तादि के सिवा अन्य देवादिक झूठ भासित हों तब स्वयमेव उनका मानना छूट जाता है, उसका भी निरूपण करते हैं। तथा सम्यग्ज्ञान के अर्थ संशयादिरहित उन्हीं तत्त्वों को उसी प्रकार जानने का उपदेश देते हैं, उस जानने को कारण जिनशास्त्रों का अभ्यास है, इसलिए उस प्रयोजन के अर्थ जिनशास्त्रों का भी अभ्यास स्वयमेव होता है, उसका निरूपण करते हैं। तथा सम्यक्चारित्र के अर्थ रागादि दूर करने का उपदेश देते हैं, वहाँ एकदेश व सर्वदेश तीव्ररागादिक का अभाव होने पर उनके निमित्त से जो एकदेश व सर्वदेश पापक्रिया होती थी वह छूटती है, तथा मंदराग से श्रावक-मुनि के व्रतों की प्रवृत्ति होती है और मंदराग का भी अभाव होने पर शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति होती है, उसका निरूपण करते हैं।

तथा यथार्थ श्रद्धान सहित सम्यग्दृष्टियों के जैसे कोई यथार्थ आखड़ी होती है या भक्ति होती है या पूजा-प्रभावनादि कार्य होते हैं या ध्यानादिक होते हैं उनका उपदेश देते हैं। जिनमत में जैसा सच्चा परम्परामार्ग है वैसा उपदेश देते हैं।

इस तरह दो प्रकार से चरणानुयोग में उपदेश जानना।

तथा चरणानुयोग में तीव्र कषायों का कार्य छुड़ाकर मंदकषायरूप कार्य करने का उपदेश देते

हैं। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्व कषाय न छूटते जानकर जितने कषाय घटें उतना ही भला होगा – ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना। जैसे – जिन जीवों के आरम्भादि करने की व मन्दिरादि [मकान आदि] बनवाने की, व विषय सेवन की व क्रोधादि करने की इच्छा सर्वथा दूर होती न जाने, उन्हें पूजा–प्रभावनादिक करने का व चैत्यालयादि बनवाने का व जिनदेवादिक के आगे शोभादिक, नृत्य–गानादिक करने का व धर्मात्मा पुरुषों की सहाय आदि करने का उपदेश देते हैं; क्योंकि इनमें परम्परा कषाय का पोषण नहीं होता। पापकार्यों में परम्परा कषाय का पोषण होता है, इसलिए पापकार्यों से छुड़ाकर इन कार्यों में लगाते हैं। तथा थोड़ा–बहुत जितना छूटता जाने उतना पापकार्य छुड़ाकर उन्हें सम्यक्त्व व अणुव्रतादि पालने का उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवों के सर्वथा आरम्भादिक की इच्छा दूर हुई है, उनको पूर्वोक्त पूजादिक कार्य व सर्व पापकार्य छुड़ाकर महाव्रतादि क्रियाओं का उपदेश देते हैं। तथा किंचित् रागादिक छूटते जानकर उन्हें दया, धर्मोपदेश, प्रतिक्रमणादि कार्य करने का उपदेश देते हैं। जहाँ सर्व राग दूर हुआ हो वहाँ कुछ करने का कार्य ही नहीं रहा, इसलिए उन्हें कुछ उपदेश ही नहीं है। – ऐसा क्रम जानना।

तथा चरणानुयोग में कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी पाप को छुड़ाते हैं और धर्म में लगाते हैं। जैसे – पाप का फल नरकादिक के दुःख दिखाकर उनको भय कषाय उत्पन्न करके पापकार्य छुड़वाते हैं, तथा पुण्य के फल स्वर्गादिक के सुख दिखाकर उन्हें लोभ कषाय उत्पन्न करके धर्म कार्यों में लगाते हैं। तथा यह जीव इन्द्रिय–विषय, शरीर, पुत्र, धनादिक के अनुराग से पाप करता है, धर्म पराङ्मुख रहता है, इसलिए इन्द्रिय–विषयों को मरण, क्लेशादि के कारण बतलाकर उनमें अरति कषाय कराते हैं। शरीरादि को अशुचि बतलाकर वहाँ जुगुप्सा कषाय कराते हैं, पुत्रादिक को धनादिक के ग्राहक बतलाकर वहाँ द्वेष कराते हैं; तथा धनादिक को मरण, क्लेशादिक का कारण बतलाकर वहाँ अनिष्टबुद्धि कराते हैं। – इत्यादि उपायों से विषयादि में तीव्रराग दूर होने से उनके पापक्रिया छूटकर धर्म में प्रवृत्ति होती है। तथा नामस्मरण, स्तुतिकरण, पूजा, दान, शीलादिक से इस लोक में दारिद्र्य कष्ट दूर होते हैं, पुत्र–धनादिक की प्राप्ति होती है – इस प्रकार निरूपण द्वारा उनके लोभ उत्पन्न करके उन धर्मकार्यों में लगाते हैं।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण जानना।

यहाँ प्रश्न है कि कोई कषाय छुड़ाकर कोई कषाय कराने का प्रयोजन क्या?

समाधान :– जैसे रोग तो शीतांग भी है और ज्वर भी है, परन्तु किसी का शीतांग से मरण

होता जाने, वहाँ वैद्य उसको ज्वर होने का उपाय करता है, और ज्वर होने के पश्चात् उसके जीने की आशा हो तब बाद में ज्वर को भी मिटाने का उपाय करता है। उसीप्रकार कषाय तो सभी हेय हैं, परन्तु किन्हीं जीवों के कषायों से पापकार्य होता जाने, वहाँ श्रीगुरु उनको पुण्यकार्य के कारणभूत कषाय होने का उपाय करते हैं, पश्चात् उसके सच्ची धर्मबुद्धि हुई जाने तब बाद में वह कषाय मिटाने का उपाय करते हैं। ऐसा प्रयोजन जानना।

तथा चरणानुयोग में जैसे जीव पाप छोड़कर धर्म में लगें वैसे अनेक युक्तियों द्वारा वर्णन करते हैं। वहाँ लौकिक दृष्टान्त, युक्ति, उदाहरण, न्यायवृत्ति के द्वारा समझाते हैं व कहीं अन्यमत के भी उदाहरणादि कहते हैं। जैसे – 'सूक्तमुक्तावली' में लक्ष्मी को कमलवासिनी कही व समुद्र में विष और लक्ष्मी उत्पन्न हुए उस अपेक्षा उसे विष की भगिनी कही है। इसीप्रकार अन्यत्र कहते हैं।

वहाँ कितने ही उदाहरणादि झूठे भी हैं, परन्तु सच्चे प्रयोजन का पोषण करते हैं, इसलिए दोष नहीं है।

यहाँ कोई कहे कि झूठ का तो दोष लगता है?

उसका उत्तर :– यदि झूठ भी है और सच्चे प्रयोजन का पोषण करे तो उसे झूठ नहीं कहते। तथा सच भी है और झूठे प्रयोजन का पोषण करे तो वह झूठ ही है।

अलंकार–युक्ति–नामादिक में वचन अपेक्षा झूठ–सच नहीं है, प्रयोजन की अपेक्षा झूठ–सच है। जैसे – तुच्छ शोभा सहित नगरी को इन्द्रपुरी के समान कहते हैं सो झूठ है, परन्तु शोभा के प्रयोजन का पोषण करता है, इसलिए झूठ नहीं है। तथा 'इस नगरी में छत्र को ही दंड है अन्यत्र नहीं है' – ऐसा कहा सो झूठ है, अन्यत्र भी दण्ड देना पाया जाता है, परन्तु वहाँ अन्यायवान थोड़े हैं और न्यायवान को दण्ड नहीं देते, ऐसे प्रयोजन का पोषण करता है, इसलिए झूठ नहीं है। तथा बृहस्पति का नाम 'सुरगुरु' लिखा है व मंगल का नाम 'कुज' लिखा है सो ऐसे नाम अन्यमत अपेक्षा हैं। – इनका अक्षरार्थ है सो झूठा है, परन्तु वह नाम उस पदार्थ का अर्थ प्रगट करता है, इसलिए झूठ नहीं है।

इस प्रकार अन्य मतादिक के उदाहरणादि देते हैं सो झूठ हैं, परन्तु उदाहरणादि का तो श्रद्धान कराना है नहीं, श्रद्धान तो प्रयोजन का कराना है, और प्रयोजन सच्चा है, इसलिए दोष नहीं है।

तथा चरणानुयोग में छद्मस्थ की बुद्धिगोचर स्थूलपने की अपेक्षा से लोकप्रवृत्ति की मुख्यता सहित उपदेश देते हैं, परन्तु केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मपने की अपेक्षा नहीं देते, क्योंकि उसका

आचरण नहीं हो सकता। यहाँ आचरण करने का प्रयोजन है।

जैसे – अणुव्रती के त्रसहिंसा का त्याग कहा है और उसके स्त्री–सेवनादि क्रियाओं में त्रसहिंसा होती है। यह भी जानता है कि जिनवाणी में यहाँ त्रस कहे हैं, परन्तु इसके त्रस मारने का अभिप्राय नहीं है, और लोक में जिसका नाम त्रसघात है उसे नहीं करता है; इसलिए उस अपेक्षा उसके त्रसहिंसा का त्याग है।

तथा मुनि के स्थावर हिंसा का भी त्याग कहा है; परन्तु मुनि पृथ्वी, जलादि में गमनादि करते हैं वहाँ सर्वथा त्रस का अभाव नहीं है, क्योंकि त्रस जीवों की भी अवगाहना इतनी छोटी होती है कि जो दृष्टिगोचर न हो और उनकी स्थिति पृथ्वी, जलादि में ही है – ऐसा मुनि जिनवाणी से जानते हैं व कदाचित् अवधिज्ञानादि द्वारा भी जानते हैं, परन्तु उनके प्रमाद से स्थावर–त्रसहिंसा का अभिप्राय नहीं है। तथा लोक में भूमि खोदना तथा अप्रासुक जल से क्रिया करना इत्यादि प्रवृत्ति का नाम स्थावर हिंसा है, और स्थूल त्रस जीवों को पीड़ित करने का नाम त्रसहिंसा है – उसे नहीं करते; इसलिए मुनि को सर्वथा हिंसा का त्याग कहते हैं। तथा इसी प्रकार असत्य, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह का त्याग कहा है।

केवलज्ञान के जानने की अपेक्षा तो असत्यवचनयोग बारहवें गुणस्थानपर्यन्त कहा है, अदत्तकर्मपरमाणु आदि परद्रव्य का ग्रहण तेरहवें गुणस्थानपर्यन्त है, वेद का उदय नववें गुणस्थान पर्यन्त है, अन्तरंग परिग्रह दसवें गुणस्थानपर्यन्त है, बाह्यपरिग्रह समवसरणादि केवली के भी होता है; परन्तु (मुनि को) प्रमाद से पापरूप अभिप्राय नहीं है, और लोक प्रवृत्ति में जिन क्रियाओं द्वारा 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है, परिग्रह रखता है' – इत्यादि नाम पाता है, वे क्रियाएँ इनके नहीं हैं; इसलिए असत्यादि का इनके त्याग कहा जाता है।

तथा जिस प्रकार मुनि के मूलगुणों में पंचेन्द्रियों के विषय का त्याग कहा है, परन्तु इन्द्रियों का जानना तो मिटता नहीं है, और विषयों में राग–द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो यथाख्यातचारित्र हो जाये सो हुआ नहीं है; परन्तु स्थूलरूप से विषयेच्छा अभाव हुआ है और बाह्य विषयसामग्री मिलाने की प्रवृत्ति दूर हुई है; इसलिए उनके इन्द्रियविषय का त्याग कहा है।

इसी प्रकार अन्यत्र जानना।

तथा व्रती जीव त्याग व आचरण करता है सो चरणानुयोग की पद्धति अनुसार व लोकप्रवृत्ति के अनुसार त्याग करता है। जैसे – किसी ने त्रसहिंसा का त्याग किया, वहाँ चरणानुयोग में व लोक में जिसे त्रसहिंसा कहते हैं उसका त्याग किया है, केवलज्ञानादि द्वारा जो त्रस देखे जाते हैं

उनकी हिंसा का त्याग बनता ही नहीं। वहाँ जिस त्रसहिंसा का त्याग किया, उसरूप मन का विकल्प न करना सो मन से त्याग है, वचन न बोलना सो वचन से त्याग है, काय द्वारा नहीं प्रर्वतना सो काय से त्याग है। इस प्रकार अन्य त्याग व ग्रहण होता है सो ऐसी पद्धति सहित ही होता है ऐसा जानना।

यहाँ प्रश्न है कि करणानुयोग में तो केवलज्ञान अपेक्षा तारतम्य कथन है, वहाँ छठवें गुणस्थान में सर्वथा बारह अविरतियों का अभाव कहा, सो किस प्रकार कहा?

उत्तर :- अविरति भी योगकषाय में गर्भित थी, परन्तु वहाँ भी चरणानुयोग की अपेक्षा त्याग का अभाव उस ही का नाम अविरति कहा है, इसलिए वहाँ उनका अभाव है। मन-अविरति का अभाव कहा, सो मुनि को मन के विकल्प होते हैं, परन्तु स्वेच्छाचारी मन की पापरूप प्रवृत्ति के अभाव से मन-अविरति का अभाव कहा है - ऐसा जानना।

तथा चरणानुयोग में व्यवहार-लोक-प्रवृत्ति की अपेक्षा ही नामादिक कहते हैं। जिस प्रकार सक्यक्त्वी को पात्र कहा तथा मिथ्यात्वी को अपात्र कहा; सो यहाँ जिसके जिनदेवादिक का श्रद्धान पाया जाये वह तो सक्यक्त्वी, जिसके उनका श्रद्धान नहीं है वह मिथ्यात्वी जानना। क्योंकि दान देना चरणानुयोग में कहा है, इसलिए चरणानुयोग के ही सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करना। करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने से वही जीव ग्यारहवें गुणस्थान में था, वही अन्तर्मुहूर्त में पहले गुणस्थान में आये, तो वहाँ दातार पात्र-अपात्र का कैसे निर्णय कर सके?

तथा द्रव्यानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने पर मुनिसंघ में द्रव्यलिंगी भी हैं और भावलिंगी भी हैं; सो प्रथम तो उनका ठीक (निर्णय) होना कठिन है, क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति समान है, तथा यदि कदाचित् सम्यक्त्वी को किसी चिह्न द्वारा ठीक (निर्णय) हो जाये और वह उसकी भक्ति न करे तो औरों को संशय होगा कि इसकी भक्ति क्यों नहीं की? इस प्रकार उसका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट हो तब संघ में विरोध उत्पन्न हो, इसलिए यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा कथन जानना।

यहाँ कोई प्रश्न करे - सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को अपने से हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करे?

समाधान :- व्यवहारधर्म का साधन द्रव्यलिंगी के बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है। इसलिए जैसे - कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर

उसका सत्कार करता है, उसी प्रकार आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहार धर्म में प्रधान हो उसे व्यवहारधर्म की अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना। इसी प्रकार जो जीव बहुत उपवासादि करे उसे तपस्वी कहते हैं, यद्यपि कोई ध्यान-अध्ययनादि विशेष करता है वह उत्कृष्ट तपस्वी है तथापि यहाँ चरणानुयोग में बाह्यतप की ही प्रधानता है, इसलिए उसी को तपस्वी कहते हैं। इस प्रकार अन्य नामादिक जानना।

ऐसे ही अन्य प्रकार सहित चरणानुयोग में व्याख्यान का विधान जानना।

चरणानुयोग के व्याख्यान की पद्धति

तथा चरणानुयोग में सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि वहाँ आचरण कराना है; इसलिए लोकप्रवृत्ति के अनुसार नीतिमार्ग बतलाने पर वह आचरण करता है।

चरणानुयोग में दोष कल्पना का निराकरण

तथा कितने ही जीव ऐसा कहते हैं - चरणानुयोग में बाह्य व्रतादि साधन का उपदेश है, सो इनसे कुछ सिद्धि नहीं है, अपने परिणाम निर्मल होना चाहिए, बाह्य में चाहे जैसे प्रवर्तो; इसलिए इस उपदेश से पराङ्मुख रहते हैं।

उनसे कहते हैं - आत्मपरिणामों के और बाह्य प्रवृत्ति के निमित्त-नैमित्तिक संबंध है क्योंकि छद्मस्थ के क्रियाएँ परिणामपूर्वक होती हैं; कदाचित् बिना परिणाम कोई क्रिया होती है, सो परवशता से होती है। अपने वश से उद्यमपूर्वक कार्य करें और कहें कि 'परिणाम इसरूप नहीं हैं', सो यह भ्रम है। अथवा बाह्य पदार्थ का आश्रय पाकर परिणाम हो सकते हैं, इसलिए परिणाम मिटाने के अर्थ बाह्य वस्तु का निषेध करना समयसारादि में कहा है, इसीलिए रागादिभाव घटने पर अनुक्रम से बाह्य ऐसे श्रावक-मुनिधर्म होते हैं। अथवा इस प्रकार श्रावक-मुनिधर्म अंगीकार करने पर पाँचवें-छठवें आदि गुणस्थानों में रागादि घटने पर परिणामों की प्राप्ति होती है - ऐसा निरूपण चरणानुयोग में किया है।

तथा यदि बाह्य संयम से कुछ सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धिवासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी हैं, उनके तो चौथा गुणस्थान होता है और गृहस्थ श्रावक मनुष्यों के पंचम गुणस्थान होता है, सो क्या कारण है? तथा तीर्थंकरादिक गृहस्थपद छोड़कर किसलिए संयम ग्रहण करें? **इसलिए यह नियम है कि बाह्य संयम-साधन बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते;** इसलिए बाह्य साधन का विधान जानने के लिए चरणानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

अनुयोगों का अभ्यास क्रम

वहाँ प्रथमानुयोगादिक का अभ्यास करना। पहले इसका अभ्यास करना, फिर इसका करना ऐसा नियम नहीं है; परन्तु अपने परिणामों की अवस्था देखकर जिसके अभ्यास से अपनी धर्म में प्रवृत्ति हो उसी का अभ्यास करना। अथवा कभी किसी शास्त्र का अभ्यास करे, कभी किसी शास्त्र का अभ्यास करे। तथा जैसे - रोजनामचे में तो अनेक रकमें जहाँ-तहाँ लिखी हैं, उनकी खाते में ठीक खतौनी करे तो लेन-देन का निश्चय हो; उसीप्रकार शास्त्रों में तो अनेक प्रकार का उपदेश जहाँ-तहाँ दिया है, उसे सम्यग्ज्ञान में यथार्थ प्रयोजनसहित पहचाने तो हित-अहित का निश्चय हो।

इसलिए स्यात्पद की सापेक्षता सहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिनवचनों में रमते हैं, वे जीव शीघ्र ही शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं। **मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगमज्ञान कहा है, आगमज्ञान बिना धर्म का साधन नहीं हो सकता, इसलिए तुम्हें भी यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास करना। तुम्हारा कल्याण होगा।**

- मोक्षमार्ग प्रकाशक, आठवाँ अधिकार

स्वाध्याय से बढ़कर कुछ नहीं

बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधेऽपि तपोविधौ।
अज्ञानप्रतिपक्षत्वात् स्वाध्यायः परमं तपः।।

बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार के तप में अज्ञान का प्रतिपक्षी होने से स्वाध्याय ही परम तप है। (हरिवंशपुराण, सर्ग-1, श्लोक 69)

निरस्तसर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः।
प्ररूढजन्माङ्कुरशोषपूषा-स्वाध्यायतोऽन्योऽस्ति ततो न योगः।।

जिससे प्राणी सर्व इन्द्रिय और कषाय की प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करता है और जो जन्मसन्तति के अंकुर को सुखाने में सूर्य के समान है, ऐसे स्वाध्याय से बढ़कर दूसरा कोई योग नहीं है। (अमितगति श्रावकाचार, परिच्छेद 13, श्लोक 87)

क्रमबद्धपर्याय

(दोहा)

क्रमनियमित क्रमबद्ध है, जग की सब पर्याय।
निर्णय हो सर्वज्ञ का, दृष्टि निज में आय।।

(वीर छन्द)

सकल द्रव्य के गुण अरु पर्यायों को जाने केवलज्ञान।
मानो उसमें डूब गये हों, किन्तु न छूता उन्हें सुजान।।
जब जिसका जिसमें जिस थल में जिस विधि से होना जो कार्य।
तब उसका उसमें उस थल में उस विधि से होता वह कार्य।।

जन्म-मरण हो या सुख-दुख हो अथवा हो संयोग-वियोग।
जैसे जाने हैं जिनवर ने वैसे ही सब होने योग्य।।
कोई न उनका कर्ता-हर्ता उनका होना वस्तु स्वभाव।
ज्ञान कला में ज्ञेय झलकते किन्तु नहीं उसमें परभाव।।

अतः नहीं मैं पर का कर्ता और न पर में मेरा कार्य।
सहज, स्वयं, निज क्रम से होती है मुझमें मेरी पर्याय।।
पर्यायों से दृष्टि पलटती भासित हो ज्ञायक भगवान।
वस्तु स्वरूप बताया तुमने शत-शत वन्दन गुरु महान।।

- पण्डित अभयकुमार जैन शास्त्री

क्रमबद्धपर्याय का सार

.....होणूं सो दुनियां मं होसी, थारे कांई न होवे
थारी तो पर्याय भापड़ी, छान-छान रोवे.....

(होणूं = होना, मं = में, होसी = होता है, भापड़ी = बेचारी, छान-छान = चुपके-चुपके)

- बाबू जुगलकिशोर 'युगल'

आचार्य अमितगति
व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

नाम : जैन साहित्य में अमितगति नाम के दो आचार्यों के उल्लेख मिलते हैं। एक अमितगति 'धर्मपरीक्षा' आदि ग्रन्थों के रचयिता हैं जिन्हें विद्वानों ने अमितगति द्वितीय कहा है तथा दूसरे वे हैं जिनका गुणकीर्तन स्वयं अमितगति द्वितीय ने 'सुभाषितरत्नसंदोह' ग्रन्थ की अंतिम प्रशस्ति में किया है तथा 'त्यक्तनि:शेषसंग:' विशेषण देकर स्वयं से पृथक् सिद्ध किया है। आचार्य अमितगति प्रथम भी स्वयं उक्त विशेषण का प्रयोग स्वयं के लिए करते थे तथा उनकी एकमात्र कृति 'योगसार प्राभृत' है। धर्मपरीक्षा आदि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य अमितगति द्वितीय हैं।

संघ एवं परम्परा : आचार्य अमितगति द्वितीय सारस्वत आचार्यों की परम्परा में अपने धवल यश से प्रसिद्ध हैं। यह माथुर संघ के थे। देवसेन सूरि ने अपने 'दर्शनसार' ग्रन्थ में माथुरसंघ को भी पाँच जैनाभासों में गिनाया है। माथुरसंघ को नि:पिच्छक भी कहते थे, क्योंकि इस संघ के अनुयायी मुनि मयूरपिच्छि या गोपिच्छि नहीं रखते थे।

माथुरसंघ को किसी भी प्रकार की पिच्छी न रखने के कारण ही जैनाभास कहा गया है या किसी और कारण से, यह स्पष्ट नहीं है; क्योंकि उस संघ के आचार्य अमितगति (दोनों) के ग्रन्थों में न तो नि:पिच्छक होने का कोई उल्लेख या समर्थन है और न ही उन ग्रन्थों में ऐसा कोई सिद्धान्त-भेद दिखता है, जिससे उन्हें जैनाभास कहा जा सके। उनके ग्रन्थों का पठन-पाठन भी दिगम्बर सम्प्रदाय में बराबर होता चला आया है तथा परवर्ती अनेक आचार्यों ने भी उक्त संघ के आचार्यों का स्मरण आदर से किया है।

अस्तु, आचार्य अमितगति द्वितीय ने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया है - वीरसेन, उनके शिष्य देवसेन, उनके शिष्य अमितगति प्रथम, उनके शिष्य नेमिषेण, उनके शिष्य माधवसेन और उनके शिष्य अमितगति द्वितीय तथा अमितगति की शिष्य परम्परा का उल्लेख अमरकीर्ति के 'छक्कम्मोवएस' में मिलता है, जो कि इस प्रकार है - अमितगति, उनके शिष्य शान्तिषेण, उनके शिष्य अमरसेन, उनके शिष्य श्रीषेण या श्रीसेन, उनके शिष्य चन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य स्वयं अमरकीर्ति।

समय - स्थान : मालवा के परमार वंश के अनेक राजाओं के काल में जैन विद्वानों की काफी प्रतिष्ठा थी और उनका जैनधर्म के प्रति सद्भाव था। पं. विश्वेश्वरनाथ रेउ के कथनानुसार आचार्य अमितगति परमार वंश के राजा वाक्पतिराज मुंज की सभा के एक रत्न थे। आचार्य ने भी स्वयं

'सुभाषितरत्नसंदोह' की प्रशस्ति में मुंज राजा के राज्यकाल में ग्रन्थ पूर्ण होना स्वीकार किया है। आचार्य ने 'सुभाषितरत्नसंदोह' वि.सं. 1050 में पूर्ण किया था। 'सुभाषितरत्नसंदोह' को आचार्य की प्रथम रचना भी माना जाए और उसकी प्रौढ़ता को देखते हुए उसकी रचना के समय आचार्य की आयु 30 वर्ष भी मानें, तो यह तो कहा ही जा सकता है कि आचार्य का जन्म कम से कम वि.सं. 1020 में हुआ था। अनेक विद्वानों ने आचार्य का समय (न्यूनतम) वि.सं. 1040 से वि.सं. 1080 सिद्ध किया है।

अपने ग्रन्थों में आचार्य ने राजा मुंज और सिन्धुल का उल्लेख किया है। ये दोनों मालवा प्रदेश के परमार राजा थे। राजा मुंज की राजधानी उज्जयिनी थी, जिसे उनकी मृत्यु के बाद राजा भोज ने धारा नगरी में स्थापित किया था। आचार्य ने 'पंचसंग्रह' की प्रशस्ति में ग्रन्थ की रचना मसूतिकापुर में होना बताया है। किन्हीं विद्वानों का मानना है कि धारा नगरी से सात कोस पर बगड़ी के पास 'मसीद बिलौदा' नामक गाँव ही मसूतिकापुर था।

उक्त सब तथ्यों से आचार्य अमितगति का क्षेत्र उज्जयिनी व धारा नगरी के आस-पास का क्षेत्र अर्थात् मालवा प्रदेश तथा समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य व उत्तरार्ध निश्चित होता है।

रचना कौशल : आचार्य अमितगति एक बहुश्रुत विद्वान् थे और उन्होंने विविध विषयों पर ग्रन्थ लिखे थे। उनके लिखे सभी ग्रन्थ संस्कृत में हैं, प्राकृत या अपभ्रंश का अब तक कोई ग्रन्थ नहीं मिला है। संस्कृत भाषा के व्याकरण और कोश पर उनका असाधारण अधिकार था। काव्य को अधिक सरस व पैना बनाने के लिए अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग करने में भी उन्हें कोई परेशानी व कठिनाई नहीं होती थी। इसकी बानगी 'धर्मपरीक्षा' के अनेक श्लोकों में देखी जा सकती है, जहाँ उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं के शब्दों का प्रयोग संस्कृतनिष्ठ शब्दों के समान ही सफलतापूर्वक किया है।

उनकी सभी रचनाएँ सरल, सुबोध व अत्यन्त रोचक हैं। अत्यन्त गम्भीर विषय होने पर भी पाठक को कहीं दुरूहता या ऊब नहीं होती। वे अपनी निरूपणकला में पूर्ण कुशल हैं। ललित पदों का चयन आचार्य की एक और विशेषता है। काव्य रचना करने में वे अत्यन्त कुशल थे। उनका 'धर्मपरीक्षा' मात्र दो माह में एवं 'आराधना' मात्र चार माह में रचकर पूर्ण करना उन्हें एक आशुकवि सिद्ध करता है। उनकी अधिकांश रचनाएँ उपदेशात्मक व वैराग्यप्रद हैं। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि आचार्य अमितगति की भाषा सरस, शैली सरल व सुबोध एवं भाव गम्भीरता से परिपूर्ण हैं तथा उनकी वर्णन शैली, कल्पना शक्ति और कवित्व शक्ति बेजोड़ है।

आचार्य अमितगति की रचनाएँ

आचार्य अमितगति की अनेक रचनाएँ मानी जाती हैं। पर जिन्हें निर्विवादरूप से उनकी रचना माना गया है, उनके नाम व सामान्य परिचय निम्नानुसार हैं :-

1. सुभाषितरत्नसंदोह – यह एक स्वोपज्ञ सुभाषित ग्रन्थ है। इसमें 32 प्रकरण हैं, प्रत्येक प्रकरण में 20-25 पद्य हैं; कुल 922 पद्य हैं जिनमें सुभाषितरूपी रत्नों का भण्डार भरा है। इस ग्रन्थ में आध्यात्मिक, आचारात्मक और नैतिक तथ्यों की अभिव्यंजना सुभाषितों द्वारा की गई है। कवि ने इसमें सांसारिक विषय, क्रोध-मान-माया-लोभ, इन्द्रियराग आदि का निराकरण; स्त्री गुणदोष विचार; मिथ्यात्व-सम्यक्त्व, ज्ञान-चारित्र, जन्म-जरा-मरण, अनित्यता, दैव, जठर आदि का निरूपण; जीवसम्बोधन; दुर्जन-सुजन, दान आदि का निरूपण; मद्य-मांस-मधु, काम, वेश्यासंग, द्यूत आदि का निषेध; आप्तविचार; गुरुस्वरूप, धर्म, शोक, शौच, श्रावकधर्म, तपश्चरण आदि का निरूपण - इस प्रकार 32 विषयों का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ के उपान्त में 217 श्लोकों में श्रावकधर्म का निरूपण किया गया है, जिसे एक छोटा श्रावकाचार भी कहा जा सकता है।

इस ग्रन्थ का एक-एक पद्य रत्न के समान है। सुगम संस्कृत में प्रत्येक विषय का बड़ी सुन्दरता से निरूपण किया गया है। सभी पद्य कण्ठस्थ करने योग्य हैं। ग्रन्थ की काव्य कला एवं विषय वर्णन में सरसता व गम्भीरता का तालमेल इस श्लोक से देखा जा सकता है -

प्रबलपवनापात-ध्वस्तप्रदीपशिखौपमै-
रलमलनिचयै: कामोद्भूतै: सुखैर्विषसन्निभै:।
समपरिचितैर्दु:खप्राप्तै: सतामतिनिन्दितै-
रिति कृतमना: शये वृद्ध: प्रकम्पयते करौ।।270।।

अर्थात् वृद्धावस्था में जो हाथ काँपते हैं, वे यह प्रकट करते हैं कि युवावस्था में जो कामजन्य सुख भोगे थे, वे विषतुल्य हानिकारक सिद्ध हुए। आँधी के वेग से शान्त की गयी दीपक की लौ के समान क्षण-विध्वंसी और अत्यन्त दु:खकारक इन विषयभोगों की सज्जनों ने पहले निन्दा की थी, वह निन्दा निन्दा नहीं है, यथार्थ है।

विस्तार भय से अन्य श्लोक यहाँ नहीं दिये गये हैं, सम्पूर्ण ग्रन्थ ही मूलत: पठनीय है। इसकी रचना वि.सं. 1050 में पूर्ण हुई थी।

2. धर्मपरीक्षा – संस्कृत साहित्य में व्यंग्यप्रधान यह अपने ढंग की अद्भुत रचना है। अन्यमत के पुराणों की ऊटपटांग व अतिशयोक्तिपूर्ण कथाओं और मान्यताओं को बड़े ही मनोरंजक

रूप में विविध कथानकों व तर्कों का आश्रय लेकर अविश्वसनीय व असंगत सिद्ध कर पाठकों की रुचि परिमार्जित करने वाली यह एक कथाप्रधान सुन्दर रचना है। पूरा ग्रन्थ 20 परिच्छेदों में 1945 श्लोकों में निबद्ध है। इस ग्रन्थ में इन मान्यताओं की समीक्षा कथाओं द्वारा की गयी है – सृष्टि की उत्पत्ति व प्रलय, ब्रह्मा–विष्णु–महेश, अग्नि–छाया, तिलोत्तमा एवं उद्दालक ऋषि आदि से सम्बन्धित असम्भव व असंगत मान्यताएँ, अन्धविश्वास आदि। अन्त के दो परिच्छेदों में श्रावकाचार का सुन्दर वर्णन भी मिलता है तथा आचार्य ने अन्त में अपनी विस्तृत प्रशस्ति भी लिखी है।

आचार्य अमितगति के सामने हरिषेण की प्राकृत 'धर्मपरीक्षा' और हरिभद्रसूरि का प्राकृत 'धूर्ताख्यान' मौजूद था। हरिषेण की 'धर्मपरीक्षा' वि.सं. 1044 में रची गई थी। हरिषेण ने लिखा है कि उससे पहले जयराम की प्राकृत गाथाबद्ध 'धर्मपरीक्षा' मौजूद थी, जिसे उन्होंने पद्धड़िया छन्द में रच दिया। बहुत सम्भव है कि आचार्य अमितगति की 'धर्मपरीक्षा' पर हरिषेण की 'धर्मपरीक्षा' और हरिभद्रसूरि के 'धूर्ताख्यान' का प्रभाव पड़ा हो, तथापि कवि ने स्वेच्छया कथावस्तु में परिवर्तन भी किया है। संस्कृत में इस कोटि के व्यंग्यप्रधान काव्यों का प्राय: अभाव है। **इस ग्रन्थ की कथाओं की शैली आक्रमणात्मक नहीं है, तर्क सहित व सुझावात्मक है।** व्यंग्य और संकेतों के आधार पर असम्भव एवं मनगढ़न्त बातों का निराकरण किया गया है। इसकी रचना आचार्य ने वि.सं. 1070 में मात्र दो माह में की थी।

3. उपासकाचार – यह 'अमितगति श्रावकाचार' के नाम से प्रसिद्ध है। उपलब्ध श्रावकाचारों में यह बहुत सुगम, विशद और विस्तृत है तथा उन सबमें अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसमें 15 परिच्छेद और 1352 श्लोक हैं, जिनमें सम्यक्त्व–मिथ्यात्व का अन्तर, सप्त तत्त्व, अष्ट मूलगुण, द्वादशव्रत और उनके अतिचार, सामायिक आदि षट् आवश्यक, दान, पूजा, उपवास एवं बारह भावनाओं का सरल व सरस साहित्यिक भाषा में विस्तृत वर्णन किया गया है। अन्तिम अध्याय में ध्यान, ध्याता, ध्येय व ध्यानफल का 114 पद्यों में विस्तृत वर्णन किया गया है। इस पर अमृतचन्द्राचार्य के 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' का एवं सोमदेव के 'उपासकाध्ययन' (यशस्तिलकचम्पू का अन्तिम प्रकरण) का प्रभाव विशेष परिलक्षित होता है। इस पर पण्डित भागचन्दजी की वचनिका भी मिलती है।

4. आराधना या आराधना भगवती – यह आचार्य शिवकोटि के 'भगवती आराधना' का एक प्रकार से संस्कृत रूपान्तर है। कवि ने इसे मात्र चार माह में पूर्ण किया है। इसमें 'भगवती आराधना' के समान ही चारों आराधनाओं का वर्णन किया गया है। प्रसंगवश जैनधर्म के प्राय: समस्त वर्ण्य विषय इसमें समाविष्ट हो जाते हैं। सभी श्लोक बहुत सरल, सरस और पाठ करने योग्य हैं। 'भगवती आराधना' का भाव उनमें सुस्पष्ट भासित होता है।

5. तत्त्वभावना – इसमें 120 पद्य हैं जिनमें सामायिक का स्वरूप, विधि और महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस पर आचार्य गुणभद्र के 'आत्मानुशासन' का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें भी वही भाव विस्तार से वर्णित है जो संक्षेप में 'भावना द्वात्रिंशतिका' में वर्णित है; काव्य भी वैसा ही सरस, सरल व हृदयग्राही है। इसका 'बृहत् सामायिक पाठ' नाम प्रसिद्ध है, परन्तु ग्रन्थ के अंतिम पद्य को देखने पर पता चलता है कि आचार्य ने इस ग्रन्थ का नाम तत्त्वभावना रखा होगा –

वृत्यवंश शतेनेति कुर्वता तत्त्वभावना।
सद्योऽमितगतेरिष्टा निवृत्तिः क्रियते करे।। इति द्वितीय भावना समाप्ता।

इससे यह भी पता चलता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ बड़ा है और उसकी यह दूसरी भावना या दूसरा अध्याय मात्र ही है।

6. भावना द्वात्रिंशतिका – 32 पद्यों का यह छोटा-सा प्रकरण 'सामायिक पाठ' या 'भावना बत्तीसी' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भव है कि यह भी 'तत्त्वभावना' या ऐसे ही किसी ग्रन्थ का एक अध्याय हो। इसमें आत्मशुद्धि की भावना व्यक्त की गयी है। ''सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं ....'' से प्रारम्भ कर कवि ने इसमें परपदार्थों से भिन्न आत्मानुभूति की प्रेरणा देते हुए मिथ्या व असदाचरण की निन्दा की है तथा अपने आराध्य देव की बड़े ही सुन्दररूप में स्तुति की है। यह छोटा सा ग्रन्थ अत्यन्त सरस और मन को पावन करनेवाला है। इसके अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं, जिनमें बाबू जुगलकिशोर 'युगल' कृत अनुवाद (प्रेम भाव हो सब जीवों से .....) अत्यन्त प्रसिद्ध है। सामायिक के समय इसका भी पाठ किया जाता है।

7. पंचसंग्रह – संस्कृत का यह ग्रन्थ प्राकृत 'पंचसंग्रह' (गोम्मटसार) के समान ही पाँच प्रकरणों में विभक्त है – जीवसमास, प्रकृतिस्तव, कर्मबन्धस्तव, शतक और सप्तति, जिनमें क्रमशः बन्धक जीव, बध्यमान कर्मप्रकृति, बन्ध-स्वामी, बन्ध-कारण और बन्ध के भेदों का वर्णन है। कुल पद्यों की संख्या 1375 है। इसपर प्राकृत 'पंचसंग्रह' और उसी के अन्तर्गत लक्ष्मणसुत डड्ढा के संस्कृत 'पंचसंग्रह' का प्रभाव है। आचार्य अमितगति ने उसका बहुत अनुकरण किया है। प्राकृत 'पंचसंग्रह' के समान ही इसमें भी पद्य के साथ ही गद्य भी प्रयुक्त मिलता है। तो भी यह उससे कई दृष्टियों से विशिष्ट भी है। जैसे प्राकृत में दो गाथाओं में कही गयी बात यहाँ कई स्थानों पर एक ही पद्य में तथा प्राकृत में एक गाथा में कहे गये तथ्य को यहाँ दो या अधिक पद्यों द्वारा भी कहा गया है।

प्राकृत पंचसंग्रह जहाँ क्लिष्ट है, वहीं यह रचना अत्यन्त सरल व मधुर है। रूपान्तर होने पर भी कई जगह मौलिकता का समावेश किया गया है। इसका रचना-वैशिष्ट्य इस बात से समझा जा सकता है कि प्राकृत पंचसंग्रह का अध्ययन बिना अंकसंदृष्टि व टीका के नहीं किया जा सकता, परन्तु

उसी के आधार पर रचे गये इस 'पंचसंग्रह' में न केवल आवश्यक अंकसंदृष्टि साथ दी है, प्रत्युत मूलरचना से ही टीका की आवश्यकता समाप्त कर दी गई है, जिससे कि वर्ण्य विषय सरलता से समझ में आ जाता है। इसकी रचना मसूतिकापुर में वि.सं. 1073 में पूर्ण हुई थी।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थ प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति', 'सार्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति', 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' ग्रन्थ भी इनके द्वारा रचे माने जाते हैं, पर ये चारों ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध हैं।

आचार्य अमितगति की रचनाओं का प्रभाव बाद में होने वाले आचार्यों/विद्वानों पर बहुत पड़ा है। पं. आशाधर के 'धर्मामृत' (सागार व अनगार दोनों) पर उनके 'उपासकाचार' का, आचार्य पद्मनंदी के 'पद्मनंदी पंचविंशतिका' पर 'भावना द्वात्रिंशतिका' का, आचार्य प्रभाचन्द्र के 'तत्त्वार्थवृत्ति टिप्पण' पर 'पंचसंग्रह' का, आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' पर 'उपासकाचार' व 'सुभाषितरत्नसंदोह' का प्रभाव देखा जा सकता है।

इस प्रकार आचार्य अमितगति की कृतियों से उत्तरकालीन आचार्य/विद्वान एवं उनकी कृतियाँ प्रभावित हैं। अत: आचार्य अमितगति अपने समय के एक विशिष्ट ग्रन्थकार थे तथा उन्होंने अपने वैदुष्य से जिनशासन का और संस्कृत वाङ्मय का मान बढ़ाया था, इसमें कोई सन्देह नहीं है।*

---

* **नोट :–** उपर्युक्त परिचय अनेक पुस्तकों के लेखों के आधार से संक्षेप में लिखा गया है। इसमें समागत विविध ग्रन्थों, आचार्यादि के बारे में विस्तृत जानकारी हेतु निम्नलिखित पुस्तकों के लेखों को मूलत: अवश्य पढ़ें:–

1. जैन साहित्य और इतिहास – पण्डित नाथूराम प्रेमी
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा : खण्ड 2 – डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य
3. जैन साहित्य का इतिहास : प्रथम भाग – सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री
4. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास : द्वितीय भाग – परमानन्द शास्त्री
5. सुभाषितरत्नसंदोह; सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री की प्रस्तावना; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर से प्रकाशित
6. धर्मपरीक्षा; डॉ.ए.एन. उपाध्ये की प्रस्तावना; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर से प्रकाशित
7. पंचसंग्रह; पण्डित दरबारीलाल न्यायतीर्थ की प्रस्तावना; श्री माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई से प्रकाशित

विषय सूची

प्रकाशकीय **पृष्ठ 3-6**

शास्त्राभ्यास की महिमा **पृष्ठ 7-12**

प्रथमानुयोग का अर्थ करने की पद्धति **पृष्ठ 13-18**

चरणानुयोग का अर्थ करने की पद्धति **पृष्ठ 19-26**

अनुयोगों का अभ्यास क्रम **पृष्ठ 27**

क्रमबद्धपर्याय **पृष्ठ 28**

आचार्य अमितगति : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व **पृष्ठ 29-34**

धर्मपरीक्षा (हिन्दी अनुवाद) **पृष्ठ 1-203**

पहला परिच्छेद **पृष्ठ 1-12**

मंगलाचरण (1-7), दुर्जन-स्वभाव वर्णन (8-11), सज्जन-स्वभाव वर्णन (12-14), धर्म की परीक्षा की प्रतिज्ञा (15-16), जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, विजयार्ध, सिद्धकूट जिनालय आदि का वर्णन (17-27), वैजयन्ती नगरी व राजा-रानी का वर्णन (28-42), मनोवेग का जन्म, विद्या व सम्यक्त्व की प्राप्ति (43-47), पवनवेग का परिचय, मनोवेग से मित्रता (48-49), पवनवेग का मिथ्यात्व व मनोवेग का दुःख (50-53), मनोवेग की तीर्थवंदना व उज्जयिनी के ऊपर विमान रुकना (54-57), उज्जयिनी नगरी का वर्णन (58-65), उद्यान में महामुनिराज के दर्शन (66-70)

दूसरा परिच्छेद **पृष्ठ 13-22**

मुनिराज से संसार में सुख-दुःख का विभाग पूछना व मुनिराज द्वारा पथिक-हाथी-मधुबिन्दु का दृष्टांत (संसार-दर्शन) (1-21), संसार में सुख-दुःख की स्थिति (22-25), सुख संबंधी भ्रम तथा मूर्ख व सज्जनों की प्रवृत्ति (26-27), धर्म, पुण्य व पाप का फल (28-43), संसारी जीवों की विषय-तृष्णा (44-47), सर्वसंसारियों का मरण स्वभाव (48-55), मरण से बचने का उपाय (56-57), सांसारिक संबंधों एवं सांसारिक सुख की सच्चाई (58-74), धर्मात्मा कौन (75-79), मुनिराज का मनोवेग से संवाद, मनोवेग का पवनवेग के संबंध में पूछना व मुनिराज द्वारा पवनवेग का मिथ्यात्व दूर करने का उपाय बताना (80-95)

दुःख दूर होने का सच्चा उपाय **पृष्ठ 22**

तीसरा परिच्छेद **पृष्ठ 23-30**

पवनवेग का मनोवेग से मिलना व विलंब के लिए उलाहना (1-15), मनोवेग का स्पष्टीकरण व पाटलिपुत्र नगर का वर्णन (16-41), दोनों का पाटलिपुत्र गमन, मनोवेग की योजना (42-52), दोनों का नगर में प्रवेश व लोगों का आश्चर्य (53-64), दोनों का वादशाला में जाना, मनोवेग द्वारा भेरी-ताड़न व सिंहासन पर बैठना एवं ब्राह्मणों का क्षोभ (65-73), मनोवेग का रूप देखकर ब्राह्मणों का आश्चर्य, परिचय पूछना एवं वाद की चुनौती देना, मनोवेग का प्रत्युत्तर (74-95)

चौथा परिच्छेद **पृष्ठ 31-38**

मनोवेग का प्रत्युत्तर (1-7), मुष्टिषोडशक न्याय की कथा (8-26), सत्य कहने में भी सावधानी रखने का उपदेश (27-33), ब्राह्मणों द्वारा मनोवेग को आश्वासन (34-38), मनोवेग द्वारा दस प्रकार के मूर्खों का वर्णन (39-46), रक्त (रागी) मूर्ख बहुधान्यक की कथा, रागी पुरुषों का स्वभाव (47-95)

पाँचवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 39-47**

कथा जारी, मूर्ख व सज्जन की प्रवृत्ति (1-11), स्त्रियों की मायाचारी व दुष्टता का वर्णन (12-76), द्विष्ट (द्वेषी) मूर्ख वक्र की कथा (77-97)

छठवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 48-56**

मनोमूढ़ भूतमति की कथा, स्त्री की स्वच्छंदता हानिकारक (1-15), स्त्री के अनेक नामों की सार्थकता (16-20), स्त्री का दुष्ट स्वभाव तथा स्त्रियों के वश हुए पुरुषों की मूर्खता (21-67), स्त्रियों के घृणित शरीर का वर्णन (68-73), सांसारिक संबंधों की निस्सारता (74-93)

सातवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 57-64**

व्युद्ग्राही मूर्ख जात्यंध की कथा (1-19), पित्तदूषित मूर्ख की कथा (20-28), आम्रघाती मूढ़ नृपशेखर की कथा (29-62), क्षीरमूढ़ तोमर राजा की कथा (63-96)

आठवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 65-73**

अगुरु (चंदन) मूढ़ हालिक की कथा (1-49), चंदनत्यागी मूर्ख धोबी की कथा (50-73), चार बालिश (निर्विवेकी) महामूर्खों की कथा (74-95)

नौवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 74-82**

कथा जारी (1-3), पहले बालिश मूर्ख विषमेक्षण की दो स्त्रियों वाली उपकथा (4-19), दूसरे बालिश मूर्ख कुण्ठहंसगति की दो स्त्रियों वाली उपकथा (20-42), तीसरे बालिश मूर्ख बोड़ की उपकथा (43-58), चौथे बालिश मूर्ख गल्लस्फोटिक की उपकथा (59-88), चार मूर्खों की कथा का उपसंहार,

मनोवेग का ब्राह्मणों से भय-निवेदन (89-95)

दसवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 83-91**

मनोवेग व ब्राह्मणों का परस्पर संवाद (1-10), मनोवेग द्वारा विष्णु का स्वरूप बताकर ब्राह्मणों से स्वीकार करवाना, विष्णु के खण्डन में तर्क देना व ब्राह्मणों का पराजित होना (11-50), वन में आकर मनोवेग का पवनवेग को समझाना - छः काल, त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन, विष्णु के दस अवतारों का खण्डन, बलि-बंधन के प्रसंग की वास्तविकता (51-64), दोनों मित्रों का भील व बिलाव का रूप धारण कर वादशाला में प्रवेश, भेरी-ताड़न व सिंहासन पर बैठना, ब्राह्मणों का रोष (65-73), भील (मनोवेग) द्वारा बिलाव को बेचने का प्रस्ताव, बिलाव के एक कान न होने पर ब्राह्मणों का हास्य, बिलाव के दोष निराकरण हेतु मनोवेग का प्रस्ताव; कूपमण्डूक, कृतकबधिर व क्लिष्टभृत्य का वर्णन (74-100)

ग्यारहवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 92-100**

मनोवेग द्वारा यम व अग्नि का प्रसंग वर्णन, मण्डपकौशिक का विधवा से विवाह, छाया की उत्पत्ति, मण्डपकौशिक का तीर्थयात्रा का विचार व पुत्री की सुरक्षा की चिंता (1-21), महादेव की कामासक्ति (22-25), विष्णु की कामासक्ति (26-28), ब्रह्मा की कामासक्ति, तिलोत्तमा व रीछनी से संयोग का प्रसंग (29-60), इन्द्र की कामासक्ति का प्रसंग (61-64), मण्डपकौशिक का छाया को यम को सौंपकर यात्रा हेतु जाना (65-67), यम की कामासक्ति, छिपकर छाया से भोग भोगना (68-72), अग्निदेव का छल द्वारा छाया से भोग भोगना (73-95)

बारहवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 101-109**

अग्निदेव का छल प्रकट होना, यम का क्रोध व अग्निदेव का भागना (1-10), मनोवेग द्वारा उक्त प्रसंग का खण्डन, ब्राह्मणों का पुराणों को निस्सार स्वीकार करना (11-16), सच्चे देव का स्वरूप व अन्य देवों की हीनता (17-33), गर्दभशिर-छेदन का वास्तविक प्रसंग (34-52), दोनों मित्रों का वादशाला में प्रवेश, भेरी-ताड़न व सिंहासन पर बैठना, ब्राह्मणों से संवाद (53-62), राजा व मंत्री के प्रत्यक्ष किन्तु अविश्वसनीय सत्य की कथा (63-72), ब्राह्मणों से संवाद व मनोवेग द्वारा भिण्डी के पौधे पर लटके कमण्डलु में हाथी की कथा (73-91), ब्राह्मणों का अविश्वास व मनोवेग का तर्क (92-97)

तेरहवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 110-120**

मनोवेग व ब्राह्मणों का संवाद (1-6), मनोवेग द्वारा अर्जुन का पाताल से शेषनाग को लाने के प्रसंग का खण्डन (7-14), ब्राह्मणों की हाथी व कमण्डलु संबंधी शंका (15-16), ब्रह्मा, अगस्त्य ऋषि व विष्णु के सृष्टि-खोज के प्रसंग का मनोवेग द्वारा वर्णन (17-36), उक्त प्रसंग का तर्कपूर्वक खण्डन,

ब्रह्मा व विष्णु की असर्वज्ञता (37-51), क्षुधादि अठारह दोषों का वर्णन (52-71), कल्पित देवों में दोष (72-78), ब्रह्मा की सृष्टिरचना का निषेध (79-86), मनोवेग द्वारा ब्राह्मणों को परास्त कर पवनवेग को संबोधना, कल्पित देवों की असंभवता व लोकस्वरूप का निरूपण (87-98), देव-शास्त्र-गुरु की परीक्षा का उपदेश (99-102)

चौदहवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 121-130**

दोनों मित्रों का तापस वेश में वादशाला में प्रवेश, भेरी-ताड़न व सिंहासन पर बैठना, ब्राह्मणों से संवाद (1-10), बारह वर्ष के गर्भ की कथा (11-42), ब्राह्मणों का अविश्वास, मनोवेग द्वारा वेद-पुराणों की अतार्किकता बताना, ब्राह्मणों का प्रतिवाद (43-55), भागीरथी व गांधारी के प्रसंग का खण्डन (56-65), अभिमन्यु के गर्भ-श्रवण के प्रसंग का खण्डन (66-67), मंदोदरी व इन्द्रजित् की उत्पत्ति के प्रसंग का खण्डन (68-78), ब्राह्मणों की प्रतिशंका तथा मनोवेग द्वारा पाराशर व व्यास की उत्पत्ति के प्रसंग का खण्डन (79-91), उद्दालक व चन्द्रमती का प्रसंग (92-101)

पंद्रहवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 131-140**

उद्दालक-चन्द्रमती एवं गान्धारी, भागीरथी, पाराशर आदि के प्रसंगों का खण्डन (1-16), कर्ण की उत्पत्ति की वास्तविकता व उसके सूर्यपुत्र होने का अर्थ (17-45), व्यास कृत कपोल-कल्पना, महाभारत के पात्रों की वास्तविकता व महाभारत की छल से प्रवृत्ति (46-67), दोनों मित्रों का बौद्ध परिव्राजक का वेश धारण कर वादशाला में प्रवेश, भेरी ताड़न व सिंहासन पर बैठना, ब्राह्मणों से संवाद (68-74), गीदड़ों द्वारा टीले उड़ा ले जाने की कथा (75-88), ब्राह्मणों का अविश्वास व मनोवेग द्वारा राम की वानरसेना का पर्वत उठाने के प्रसंग का निरूपण (89-98)

सोलहवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 141-150**

उक्त प्रसंग का तर्कपूर्वक खण्डन (1-8), रामायण की विसंगतियों का वर्णन (9-16), सुग्रीव-रावण आदि की वास्तविकता (17-20), दोनों मित्रों का तांत्रिक वेश धारण कर वादशाला में प्रवेश, भेरी ताड़न व सिंहासन पर बैठना, ब्राह्मणों से संवाद (21-27), कटे सिर से फल खाने की कथा (28-43), ब्राह्मणों का अविश्वास व मनोवेग द्वारा रामायण के प्रसंग बताना (44-46), रावण की वरप्राप्ति के प्रसंग का खण्डन, शंकर की असमर्थता (47-58), दधिमुख ब्राह्मण के प्रसंग का खण्डन (59-79), अंगद, जरासंध व कार्तिकेय के प्रसंगों का खण्डन (80-89), ब्राह्मण-भोज से पितरों की तृप्ति का खण्डन (90-92), दुर्योधन, कुम्भकर्ण व इन्द्रजित् की वास्तविकता (93-95), बालि व रावण का प्रसंग (96-99), रावण व इन्द्र की वास्तविकता (100-102), पुराणों की असत्यता (103-104)

सत्रहवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 151-164**

पवनवेग की जैनधर्म ग्रहण करने की इच्छा व ब्राह्मण-शास्त्रों का स्वरूप पूछना (1-3), मनोवेग द्वारा वेदों का स्वरूप बताकर वैदिक हिंसा को सदोष सिद्ध करना (4-6), वेदों की अपौरुषेयता व अनादिनिधनपने के खण्डन द्वारा मीमांसकों का खण्डन (7-18), यज्ञहिंसा का निराकरण (19-22), जातिश्रेष्ठता का निराकरण (23-33), स्नान को धर्म मानने का निराकरण एवं वास्तविक शुद्धता का निरूपण (34-39), चार्वाक मत द्वारा जीव को न मानने का निराकरण, जीव की शरीर से भिन्न सत्ता की सिद्धि, जीव-कर्म संबंध व बंध-मोक्ष की सिद्धि (40-53), आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानने का निराकरण, प्राणायामादिक से ध्यान का निराकरण (54-57), रत्नत्रय की महत्ता, सम्यक्त्वरहित दीक्षा की निष्फलता, किन गुरुओं का कैसा वचन फलदायी (58-69), बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सर्वशून्यवाद, क्षणिकवाद व बुद्ध की सर्वज्ञता का निराकरण (70-77), ब्रह्मा-विष्णु-महेश की परीक्षा (78-87), सच्चे व झूठे देव-गुरु-धर्म और शास्त्र की परीक्षा (88-100)

अठारहवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 165-175**

पवनवेग द्वारा अन्यमतों की उत्पत्ति पूछना व मनोवेग द्वारा बताना (1-3), छः कालों की व्यवस्था, भोगभूमियों व 14 कुलकरों का वर्णन (4-21), ऋषभदेव का जन्म, विवाह व वैराग्य (22-27), वैराग्य चिंतन (28-36), ऋषभदेव की दीक्षा व अन्य राजाओं का साथ में दीक्षित होना, भ्रष्ट होकर अन्य वेश धारण करना; तापसधर्म, सांख्यमत, चार्वाकमत आदि 363 मतों की स्थापना (37-60), ऋषभदेव मुनिराज का आहार-प्रसंग (61-63), ब्राह्मणों को श्रेष्ठता का गर्व (64), वंशों की स्थापना, वर्ण-व्यवस्था (65-67), बौद्धमत की रचना (68-69), कंकालव्रत की प्रसिद्धि (70), मनोवेग द्वारा अन्यमतों का विस्तार वर्णन (71-72), यथार्थ देव-गुरु-धर्म व शास्त्र का स्वरूप वर्णन, (73-78), रत्नत्रय की दुर्लभता (79-81), अन्यमतों की निस्सारता (82-84), पवनवेग का मिथ्यात्वनाश, खेद प्रकट करना व मनोवेग को धन्यवाद देना, सम्यक्त्व की दुर्लभता, व्रत लेने की इच्छा प्रकट करना (85-96), मनोवेग का हर्ष, दोनों का उज्जयिनी में जिनमति मुनिराज के समीप जाना (97-100)

जैनधर्म की आम्नाय **पृष्ठ 175**

उन्नीसवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 176-188**

मुनिराज व मनोवेग का वार्तालाप, पवनवेग को व्रत दिलाने का निवेदन (1-5), मुनिराज द्वारा सम्यक्त्व के साथ ही व्रतों की सार्थकता एवं व्रतों की रक्षा का उपदेश (6-16), हिंसा व अहिंसाणुव्रत (17-22), मांस-मद्य-मधुभक्षण के दोष (23-42), पंचोदुम्बर फल एवं कंदमूल के दोष (43-45), झूठ व सत्याणुव्रत (46-48), चोरी व अचौर्याणुव्रत (49-55), परस्त्रीरमण व ब्रह्मचर्याणुव्रत (56-65),

लोभ व परिग्रहपरिमाणव्रत (66-72), तीन गुणव्रतों का उपदेश (73-82), चार शिक्षाव्रत व दान की विधि (83-93), समाधिमरण व सल्लेखना (94-97), मौन से भोजन, पंचपरमेष्ठी पूजन आदि श्रावक धर्म का उपदेश (98-100), पवनवेग का श्रावक के व्रतों को ग्रहण करना (101)

बीसवाँ परिच्छेद **पृष्ठ 189-199**

श्रावक के अन्य नियमों का निरूपण (1), रात्रिभोजन के दोष व त्याग (2-12), विविध उपवासों की विधि (13-23), चार प्रकार के दान का स्वरूप, महिमा व पात्र (24-40), वेश्यागमन के दोष (41-44), स्वस्त्रीरमण के दोष व ब्रह्मचर्य की महिमा (45-46), जुआ के दोष (47-50), सात व्यसन त्याग का उपदेश (51), श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ (52-64), सम्यग्दर्शन की महिमा, उत्पत्ति, भेद, आठ अंग, संवेग आदि व मैत्री आदि गुण, सम्यक्त्वी के अगले भव (65-80), पवनवेग का व्रत धारण कर संतुष्ट होना, धन्यवाद ज्ञापन, विजयार्ध पर्वत पर गमन, दोनों मित्रों का श्रावकधर्म पालन, जिनालयों के दर्शन-पूजन पूर्वक जीवन यापन (81-89), ग्रंथ समापन (90)

प्रशस्ति **पृष्ठ 200-203**

आचार्य अमितगति द्वारा गुरु परम्परा निरूपण (1-6), ग्रन्थ की महत्ता (7-9), अन्य शास्त्रों के खण्डन का कारण, आचार्य की निरभिमानता व निर्वैरता (10-11), सन्मार्ग के आश्रय की प्रेरणा (12-17), मंगलकामना (18-20)

परिशिष्ट - समाधिमरण का स्वरूप **पृष्ठ 204-220**

देखो! तत्त्वविचार की महिमा **पृष्ठ 220**

नोट - धर्मपरीक्षा के मूल श्लोक व अन्य संस्करण देखने के लिए यदि आपके पास ग्रन्थ न हो तो इण्टरनेट पर www.jainelibrary.org, www. jaingranths.com & www.jainkosh.org वेबसाइट्स पर भी यह ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अलावा उक्त वेबसाइट्स पर अन्य भी सैकड़ों ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिसका पाठकों को लाभ लेना चाहिए।

धर्मपरीक्षा

पहला परिच्छेद

श्रीमान्नभस्वत्त्रयतुङ्गशालं जगद्गृहं बोधमयप्रदीपः।
समन्ततो द्योतयते यदीयो भवन्तु ते तीर्थंकराः श्रिये नः।।1।।

जिनका प्रकाशरूप लक्ष्मी से सम्पन्न ज्ञानरूपी दीपक तीन वातवलयरूप उन्नत तीन कोटों से वेष्टित ऐसे लोकरूप घर को सब ओर से प्रकाशित करता है, वे तीर्थंकर भगवान हम सबके लिए लक्ष्मी का कारण होवें। अभिप्राय यह है कि तीर्थंकरों का अनन्त ज्ञान तीनों लोकों के भीतर स्थित समस्त पदार्थों को इसप्रकार से प्रकाशित करता है, जिसप्रकार कि दीपक एक छोटे–से घर के भीतर स्थित वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इसप्रकार उन तीर्थंकरों का स्मरण करते हुए ग्रन्थकर्ता श्री अमितगति आचार्य यहाँ यह प्रार्थना करते हैं कि उनकी भक्ति के प्रसाद से हम सबको भी उसी प्रकार की ज्ञानरूप लक्ष्मी प्राप्त हो।।1।।

जो सिद्ध परमेष्ठी कर्मक्षय के पश्चात् प्रार्थनीय, निर्मल एवं पवित्र आत्मस्वरूप को प्राप्त करके तीनों लोक के चूड़ामणि (शिरोरत्न) के समान हो गये हैं – लोक के ऊपर सिद्धक्षेत्र में जा विराजे हैं, वे मेरे लिए मुक्ति के साधक होवें।।2।।

जिन आचार्यरूपी सूर्यों के द्वारा अपने वचनोंरूप किरणों से प्रबोधित किया गया भव्य जीवों का मनरूपी कमल फिर से निद्रा को प्राप्त नहीं होता है, दोषोदय को नष्ट करने वाले वे आचार्यरूपी सूर्य मेरी अनिन्दनीय (निर्मल) चर्या को करें।।

विशेषार्थ – यहाँ आचार्यों में सूर्यों का अध्यारोप करते हुए यह बतलाया है कि जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के द्वारा कमलों को विकसित किया करता है, उसी प्रकार से आचार्य अपने वचनों (समीचीन उपदेश) के द्वारा भव्यजीवों के मन को विकसित (आह्लादित) किया करते हैं तथा सूर्य जैसे दोषोदय को (रात्रि के उदय को) नष्ट करता है, वैसे ही आचार्य भी उस दोषोदय को – दोषों की उत्पत्ति को – नष्ट किया करते हैं। फिर भी सूर्य की अपेक्षा

आचार्य में यह विशेषता देखी जाती है कि सूर्य जिन कमलों को दिन में विकसित करता है, वे ही रात में निद्रित (मुकुलित) हो जाते हैं, परन्तु आचार्य जिन भव्य जीवों के मन को धर्मोपदेश के द्वारा विकसित (प्रफुल्लित) करते हैं, उनका मन फिर कभी निद्रित (विवेक रहित) नहीं होता है – वह सदा सन्मार्ग में प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार आचार्य के स्वरूप का विचार करके ग्रन्थकार उनसे यह प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकार सूर्य उदय को प्राप्त होता हुआ मार्ग को दिखलाकर पथिक जनों के गमनागमन में सहायक होता है, उसी प्रकार से वे आचार्य परमेष्ठी अपने दिव्य उपदेश के द्वारा निर्बाध मोक्षमार्ग को प्रकट करके मुझे उसमें प्रवृत्त होने के लिए सहायता करें।।3।।

जिस प्रकार पिताजन अपने पुत्रों के उपकार के लिए उन्हें धन को दिया करते हैं, उसी प्रकार जो अध्यापक (पाठक या उपाध्याय) अपने निकटवर्ती शिष्यों के उपकार के लिए उन्हें शास्त्रों को दिया करते हैं – शास्त्रों का रहस्य बतलाते हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी मेरे दुःख को दूर करें।।4।।

जो साधुरूप सुभट तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को कष्ट पहुँचाने वाले कषायरूप शत्रु को शान्ति एवं शीलरूप शस्त्रों के द्वारा विदीर्ण किया करते हैं, वे साधुरूप सुभट मेरे लिए मुक्तिरूपी रमणी के वरण (परिणयन) में सहायक होवें – मुझे मुक्ति प्रदान करें।।5।।

जिसके प्रसाद से अभ्यास में एकाग्रचित्त हुआ प्राणी दुर्गम आगमरूप समुद्र के उस पार पहुँच जाता है, वह सरस्वती (जिनवाणी) मुझे जिसप्रकार कामधेनु गाय प्राणियों के लिए चिन्तित पदार्थ को दिया करती है, उसी प्रकार अभीष्ट सिद्धि को प्रदान करें।।6।।

जनसमूह को उद्विग्न करने वाले विघ्न इन स्तुतियों के द्वारा कम्पित होकर इस प्रकार से नष्ट हो जावें, जिस प्रकार कि वृद्धिंगत वायु के द्वारा कम्पित होकर धूलि के समूह शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।।7।।

प्रिय पाठक!

क्या आपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में दी गई **अनुयोगों का अर्थ समझने की पद्धति** विषय को पढ़ा है? यदि नहीं, तो हमारा विनम्र निवेदन है कि पहले उसे एक बार अवश्य पढ़ें, जिससे आपको ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली भलीभाँति समझ में आ सके।

जो सज्जन अपने गुणों के द्वारा तीनों लोकों को आनन्दित किया करता है, उसको देख करके स्वभाव से दुष्ट दुर्जन मनुष्य क्रोध को प्राप्त होता है। सो ठीक भी है क्योंकि अपनी किरणों के द्वारा रात्रि को विभूषित करने वाले चन्द्रमा को देखकर क्या राहु उसे ग्रसित नहीं करता है? करता ही है। तात्पर्य यह है कि *दुर्जन मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा हुआ करता है कि वह सज्जन पुरुषों की उत्तम कृति को देखकर उसके विषय में दोषों को प्रकट करता हुआ उनसे ईर्ष्या व क्रोध करता है। अतएव सत्पुरुषों को इससे खिन्न नहीं होना चाहिए।।8।। दुष्ट पुरुष शिष्ट के ऊपर, विषयी मनुष्य विषय-विरक्त के ऊपर, चोर जागने वाले के ऊपर, दुराचारी धर्मात्मा के ऊपर, कायर वीर के ऊपर तथा अकवि (योग्य काव्य की रचना न कर सकने वाला) कवि के ऊपर स्वभाव से ही क्रोध किया करता है।।9।।*

मैं समझता हूँ कि सर्प, निन्दक (चुगलखोर) और यमराज – इन सबको ब्रह्मा ने दूसरे प्राणियों का अहित करने के लिए ही बनाया है। कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर ये सब जनसमूह को सुखी देखकर उसे उद्विग्न कैसे करते? नहीं करना चाहिए था। तात्पर्य यह है कि *जिस प्रकार सर्प व यम जन्म से ही स्वभावतः दूसरों का अहित करने वाले हैं, उसी प्रकार दुर्जन का भी स्वभाव जन्म से ही दूसरों के अहित करने का हुआ करता है।।10।। बड़े-बड़े कविराज उस दोषग्राही दुष्ट पुरुष की कितनी ही सेवा क्यों न करें, किन्तु वह अपनी कुटिलता को नहीं छोड़ सकता है। कारण कि वह स्वभाव से ही दूसरों को अधिक से अधिक संताप देने में प्रवीण हुआ करता है।* उदाहरण के रूप में देखो कि अग्नि की जितनी अधिक उपासना की जाती है – उसे जितने अधिक समीप में लेते हैं, वह उतने ही अधिक दाह को उत्पन्न किया करती है।।11।।

ब्रह्मदेव ने मेघ, चन्दन, चन्द्र और सत्पुरुष इन सबको एक ही मिट्टी के खण्ड से बनाया है, ऐसा मैं मानता हूँ। कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर ये अकारण ही दूसरे जनों का निरन्तर उपकार क्यों करते? नहीं करना चाहिए था। तात्पर्य यह कि *सत्पुरुष मेघ, चन्दन और चन्द्रमा के समान निरपेक्ष होकर स्वभाव से ही दूसरों का भला किया करते हैं।।12।। दुर्जन से पीड़ित होता हुआ भी सज्जन अपने गुणों के द्वारा उसका निरन्तर उपकार ही किया करता है।* ठीक है, राहु के द्वारा पीड़ित हो करके भी चन्द्र क्या अमृत के द्वारा उसको प्रसन्न नहीं करता है? अवश्य ही प्रसन्न करता है।।13।। जिसप्रकार चन्द्रमा में स्वभाव से शीतलता तथा

सूर्य में स्वभाव से उष्णता होती है, उसी प्रकार *सज्जन में स्वभाव से आविर्भूत गुण को तथा दुर्जन में स्वभाव से आविर्भूत दोष को देख करके विवेकी पुरुष सज्जन से अनुराग और दुर्जन से द्वेष नहीं किया करते हैं।।14।।*

जिस धर्म की परीक्षा जिनेन्द्र या गणधर ने की है, उसकी परीक्षा मुझ जैसा मूर्ख कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। ठीक है, जिस वृक्ष के भंग करने में केवल गजराज समर्थ है, उस वृक्ष को क्या कभी खरगोश भंग कर सकता है? नहीं कर सकता है।।15।। जिस धर्म के भीतर अतिशय बुद्धिमान मुनीन्द्र (गणधरादि) प्रवेश कर चुके हैं, उस धर्म के भीतर मुझ जैसे जड़बुद्धि का भी प्रवेश सरलता से हो सकता है। ठीक है, जो मणि वज्र के द्वारा वेधा जा चुका है – जिसके भीतर कठोर वज्र प्रवेश पा चुका है, उसके भीतर क्या शिथिल धागा नहीं प्रविष्ट हो सकता है? वह तो सरलता से प्रवेश पा जाता है।।16।।

यहाँ सब द्वीपों के मध्य में स्थित एक जम्बूद्वीप है जो कि चक्रवर्ती के समान सुशोभित होता है – चक्रवर्ती यदि सुन्दर ध्वजा आदि से चिह्नित होता है तो वह द्वीप जम्बूवृक्ष से चिह्नित है; चक्रवर्ती जिस प्रकार आभूषणों में खचित अनेक प्रकार के रत्नों द्वारा आशाओं (दिशाओं) को प्रकाशित करता है, अथवा मूल्यवान रत्नों को देकर दूसरों की आशाओं (इच्छाओं) को पूर्ण किया करता है, उसी प्रकार से वह जम्बूद्वीप भी अपने भीतर स्थित देदीप्यमान रत्नों से समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता है तथा उन्हें देकर जनों की इच्छाओं को भी पूरा करता है; जैसे चक्रवर्ती सुवृत्त (सदाचारी) होता है वैसे ही वह जम्बूद्वीप भी सुवृत्त (अतिशय गोल) है; तथा चक्रवर्ती जहाँ अनेक राजाओं से घिरा रहता है वहाँ वह द्वीप अनेक द्वीपान्तरों से घिरा हुआ है। इस प्रकार वह द्वीप सर्वथा चक्रवर्ती की उपमा को प्राप्त है।।17।। इस जम्बूद्वीप के भीतर एक सुन्दर भारतवर्ष है जो कि हिमालय पर्वत और तीन (पूर्व, पश्चिम और दक्षिण) समुद्रों के मध्य में स्थित है। इसी से वह धनुष के आकार को धारण करता हुआ मानो अपनी छटा से चढ़ी हुई डोरी से सुसज्जित कामदेव के धनुष पर ही विजय पा रहा है।।18।।

वह भरतक्षेत्र जिस प्रकार साधारण जन के लिए दुर्गम ऐसे पूर्ण छह खण्डों के द्वारा जनों से प्रार्थनीय चक्रवर्तियों की विभूति को देता है उसी प्रकार से अन्य जनों के लिए दुर्लभ ऐसे अखण्डित छह आवश्यकों (समता-वंदना आदि) के द्वारा मुनियों के लिए निर्मल सकल चारित्र को भी देता है।

विशेषार्थ – गोल जम्बूद्वीप के भीतर दक्षिण की ओर अन्त में भरतक्षेत्र स्थित है। उसके उत्तर में हिमवान् पर्वत और शेष तीन दिशाओं में लवण समुद्र है। इससे उसका आकार ठीक धनुष के समान हो गया है। उसके बीचोंबीच विजयार्ध पर्वत और पूर्व-पश्चिम की ओर हिमवान् पर्वत से निकली हुई गंगा व सिन्धु नाम की दो महानदियाँ हैं। इस प्रकार से वह भरतक्षेत्र छह खण्डों मे विभक्त हो गया है। इन छहों खण्डों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने पर चक्रवर्तियों के लिए साम्राज्यलक्ष्मी प्राप्त होती है। तथा कर्मभूमि होने के कारण यहाँ पर भव्यजीव समता-वंदना आदिरूप छह आवश्यकों का अखिण्डत स्वरूप से परिपालन करके निर्मल सकलचारित्र (महाव्रत) को धारण करते हैं और मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से वह भरतक्षेत्र इस लोकसम्बन्धी तथा परलोकसम्बन्धी भी सर्वोकृष्ट सुख को प्रदान करने वाला है।।19।। वह भरतक्षेत्र गंगा-सिन्धु नदियों तथा विद्याधरों के पर्वत (विजयार्ध) से विभाग को प्राप्त होता हुआ छह खण्डों में इस प्रकार से विभक्त हो गया है जिस प्रकार से कि शुभाशुभरूप अनेक भेदों से युक्त तीन योगों (मन-वचन-काय) के द्वारा पुण्य व पापरूप कर्मसमूह विभक्त हो जाता है।।20।।

उस भरतक्षेत्र में प्रशंसनीय स्थान से संयुक्त व सार्थक नामवाला विजयार्ध पर्वत पूर्व एवं पश्चिम समुद्र के तट को प्राप्त होकर ऐसे स्थित है जैसे मानो अपने लम्बे शरीर को फैलाकर शेषनाग ही स्थित हो। चूंकि इस पर्वत के पास चक्रवर्ती की विजय का आधा भाग समाप्त हो जाता है अतएव उसका विजयार्ध यह नाम सार्थक है।।21।। वह विजयार्ध पर्वत वृद्धिंगत किरणांकुर से महान् अन्धकार को नष्ट करता हुआ ऐसे शोभायमान होता है जैसे मानो अपने किरणसमूह से पृथिवी को भेदकर निकला हुआ देदीप्यमान दूसरा सूर्य ही हो।।22।।

उस विजयार्ध पर्वत के ऊपर विद्याधरों से सेव्यमान उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी – ये दो श्रेणियाँ हो गयी हैं। ये दोनों श्रेणियाँ इस प्रकार शोभायमान होती हैं जैसे कि मानो सुनने योग्य गीतों को गानेवाले – गुंजार करते हुए – अनेक भौंरों से सेव्यमान गजराज के मद की दो रेखाएँ ही हों।।23।। श्रुत के पारंगत गणधरादि उस विजयार्ध की उत्तर श्रेणी में निर्मल कान्तिवाले विद्याधरों के साठ नगर तथा दक्षिण श्रेणी में उनके पचास नगर, जो कि मनमाने चल सकते थे, बतलाते हैं।।24।।

वह उन्नत विजयार्ध पर्वत चक्रवर्ती के समान शोभायमान है। कारण कि चक्रवर्ती जैसे

अनेक पत्रों (वाहनों) से संयुक्त कटकों (सेना) से सहित होता है वैसे ही वह पर्वत भी अनेक पत्रों (पक्षियों) से संयुक्त कटकों (शिखरों) से सहित है, चक्रवर्ती यदि चौदह रत्नों और नौ निधियों से प्रतिभासमान होता है तो वह भी अनेक प्रकार के रत्नों एवं निधियों से प्रतिभासमान है तथा जिस प्रकार वे देव और विद्याधर चक्रवर्ती के पादों (चरणों) की सेवा किया करते हैं उसी प्रकार वे देव और विद्याधर उस पर्वत के भी पादों (शिखरों) की सेवा (उपभोग) किया करते हैं तथा चक्रवर्ती जहाँ विभूति से उन्नत होता है वहाँ वह पर्वत अपने शरीर से उन्नत (25 योजन ऊँचा) है।।25।।

उस विजयार्ध पर्वत के ऊपर सिद्धकूट पर स्थित जिनालय में विराजमान अकृत्रिम जिन प्रतिमाएँ भव्य जीवों के द्वारा आराधित होकर उनके पाप को इस प्रकार से नष्ट कर देती है जिस प्रकार से अग्नि की ज्वालाएँ शैत्य को नष्ट किया करती हैं।।26।। उस पर्वत के ऊपर मोक्षाभिलाषी मुनियों में श्रेष्ठ चारण मुनिजन अपने वचनों (उपदेश) के द्वारा पापरूप धूलि के विनाश में उद्यत होकर मनुष्यों के समूह को इस प्रकार से आनन्दित करते हैं जिस प्रकार कि गम्भीर गर्जना करने वाले मेघ पानी की वर्षा से धूलि को शान्त करके उसे (मनुष्यसमूह को) आनन्दित करते हैं।।27।।

उस पर्वत के ऊपर दक्षिण श्रेणी में वैजयन्ती नाम की एक प्रसिद्ध नगरी है जो कि अपने चमकते हुए अनेक प्रकार के विमानों से देवों की नगरी (अमरावती) को जीतती है।।28।। उस नगरी में रहने वाले मनुष्य अपने समय को इस प्रकार से सुखपूर्वक बिताते हैं जिस प्रकार कि भोगभूमिज आर्य मनुष्य भोगभूमि में अपने समय को सुखपूर्वक बिताया करते हैं। कारण यह कि जिस प्रकार से आर्यों को भोगभूमि में इच्छानुसार भोग उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार इस नगरी में निवास करने वाले मनुष्यों को भी इच्छानुसार वे भोग उपलब्ध होते हैं तथा जिस प्रकार भोगभूमि में आर्यों का मन पारस्परिक प्रेम से परिपूर्ण रहता है उसी प्रकार इस नगरी के लोगों का भी मन पारस्परिक प्रेम से परिपूर्ण रहता है।।29।।

ब्रह्मा ने सब सुन्दरता को एक जगह दिखलाने के लिए ही मानो समस्त रमणीय श्रेष्ठ घरों को लाकर इस नगरी के भीतर स्थापित किया था। तात्पर्य यह है कि उस नगरी के भवन बहुत रमणीय थे।।30।। जिस नगरी में प्रजा ने विद्याधर स्त्रियों द्वारा देवियों को, विद्याधरों के द्वारा देवों को, विद्याधर राजाओं के द्वारा इन्द्रों को तथा भवनों के द्वारा विमानों को जीत लिया

था उस नगरी का पूरा वर्णन कैसे किया जा सकता है? अभिप्राय यह है कि वह नगरी स्वर्गपुरी से भी श्रेष्ठ थी।।31।।

उस नगरी में अपने प्रताप से शत्रुओं के नाम को झिड़कनेवाला (तिरस्कृत करनेवाला) जितशत्रु नामक विद्याधरों का राजा राज्य करता था। वज्र के समान कठोर सुन्दर भुजाओंवाला वह राजा उस नगरी में इस प्रकार से स्थित था जिस प्रकार से देवों की पुरी (अमरावती) में वज्र आयुध से शोभायमान हाथवाला इन्द्र स्थित रहता है।।32।।

वह विद्याधर नरेश दूसरों के दोषों के दिखलाने में जिस प्रकार मौन का अवलम्बन लेता था उस प्रकार न्याय और शास्त्रों के अर्थ का विचार करने में मौन का अवलम्बन नहीं लेता था तथा वह दूसरों के धन का अपहरण करने में जैसे हाथों से रहित था – उनका उपयोग नहीं करता था, वैसे अभिमानी शत्रुओं के मानमर्दन में वह हाथों से रहित नहीं था, इसके लिए वह अपनी प्रबल भुजाओं को उपयोग करता था (परिसंख्यालंकार)।।33।। वह यदि अन्धा था तो केवल रागपूर्वक परस्त्रियों के देखने में ही अन्धा था, न कि मनोहर आकृतियों को धारण करनेवाली जिनेन्द्र प्रतिमाओं के देखने में – उनका तो वह अतिशय भक्तिपूर्वक दर्शन किया करता था। इसी प्रकार यदि वह असमर्थ था तो केवल पापकार्य के करने में असमर्थ था, न कि मोक्षसुख के करनेवाले धर्मकार्य में – उसके करने में वह अपनी पूरी शक्ति का उपयोग किया करता था (परिसंख्यालंकार)।।34।।

चूँकि चन्द्रमा कलंक (काला चिह्न) से सहित है और वह राजा उस कलंक से रहित (निष्पाप) था, सूर्य विशिष्ट संताप देने वाला है और वह उस संताप से रहित था, समुद्र जड़ है (जलस्वरूप या शीतल है) और वह जड़ नहीं था (अज्ञानी नहीं था), मेरु कठोर है और वह कठोर (निर्दय) नहीं था तथा इन्द्र गोत्रभेदी है (पर्वतों का भेदन करने वाला है) और वह गोत्रभेदी नहीं था (वंश को कलंकित करने वाला नहीं था); इसीलिए ये सब उसके समान नहीं हो सकते थे – वह इन सबसे श्रेष्ठ था।।35।।

वह राजा पृथिवीस्वरूप हो करके भी उत्तम ज्ञान को धारण करने वाला था – जो पृथिवीस्वरूप होता है, वह ज्ञान का धारक नहीं हो करके जड़ होता है, इस प्रकार यहाँ यद्यपि सरसरी तौर पर विरोध प्रतीत होता है, परन्तु उसका ठीक अर्थ जान लेने पर यहाँ कुछ भी विरोध नहीं दिखता है। यथा – वह पार्थिव – पृथिवी का ईश्वर (राजा) – होता हुआ भी

सम्यग्ज्ञानी था। वह पावन (पवनस्वरूप) होता हुआ भी स्थिर स्वभाववाला था – जो पवन (वायु) स्वरूप होगा, वह कभी स्थिर नहीं होगा, इसप्रकार यद्यपि यहाँ आपाततः विरोध प्रतिभासित होता है, परन्तु वास्तविक अर्थ के ग्रहण करने पर वह विरोध नहीं रहता है। यथा – वह राजा पावन अर्थात् पवित्र होता हुआ भी स्थिर स्वभाववाला (दृढ़) था। कलाओं का निधानभूत चन्द्रमा हो करके भी वह निरस्तदोष अर्थात् दोषा (रात्रि) के संसर्ग से रहित था – चूँकि चन्द्र कभी रात्रि के संसर्ग से रहित नहीं होता है, इसलिए यद्यपि यहाँ वैसा कहने पर आपाततः विरोध प्रतिभासित होता है, परन्तु यथार्थ में कोई विरोध नहीं है। यथा – कलाओं का निधान अर्थात् वृहत्तर कलाओं का ज्ञाता हो करके भी वह निरस्तदोष अर्थात् दोषों से रहित था। वह वृषवर्धक – बैल का बढ़ाने वाला महादेव – होता हुआ भी सत्यानुरागी अर्थात् सत्यभामा से अनुराग करने वाला कृष्ण था; महादेव चूँकि कृष्ण नहीं हो सकता है, अतएव यहाँ आपाततः यद्यपि विरोध प्रतिभासित होता है, परन्तु यथार्थ अर्थ के ग्रहण करने पर कोई विरोध नहीं रहता है। यथा – वह वृषवर्धक अर्थात् धर्म का बढ़ाने वाला होता हुआ भी सत्यानुरागी – सत्यसंभाषण में अनुराग रखने वाला था (विरोधाभास) ।।36।।

उस जितशत्रु राजा के वायुवेगा नाम की अतिशय प्यारी पत्नी थी। वह विद्याधरी बढ़ती हुई कामाग्नि के लिए वायु के वेग के समान, श्रेष्ठ जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्ररूपित धर्मविद्या की धारक तथा साधी गयी बहुत-सी विद्याओं से सम्पन्न थी (यमकालंकार)।।37।। किसी स्त्री में यदि नेत्रों को आनन्ददायक मनोहर रूप होता है तो दूसरी में विद्वानों के द्वारा वन्दना किये जाने योग्य शील रहता है। परन्तु श्रेष्ठ कान्ति को धारण करने वाली उस वायुवेगा में दूसरों के लिए दुर्लभ वे रूप और शील दोनों ही आकर एकत्रित हो गये थे।।38।। मृग के समान नेत्रों को धारण करने वाली वह वायुवेगा जितशत्रु राजा के लिए इस प्रकार से अविभक्त थी – सदा उसके साथ रहने वाली थी – जिसप्रकार कि महादेव के लिए पार्वती, विष्णु के लिए लक्ष्मी, दीपक के लिए उसकी शिखा, साधु की दया, चन्द्रमा की चाँदनी तथा सूर्य की प्रभा उसके साथ रहती है।।39।।

ब्रह्मा ने उस वायुवेगा को अतिशय कान्तियुक्त बना करके कामदेव को उसका रक्षक (पहरेदार) बनाया। कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर वह कामदेव उस (वायुवेगा) की ओर देखने वाले जनसमूह को अपने समस्त बाणों से क्यों वेधता? नहीं वेधना चाहिए था।।40।।

वायुवेगा की मनोहर तारुण्यरूपी बेल (जवानीरूपी लता) दोनों हाथोंरूप पत्तों से सहित, नेत्रोंरूप फूलों से विकसित और दोनों स्तनोंरूप फलों से फलयुक्त होकर युवा पुरुषों के नेत्रोंरूप भौंरों से उपभुक्त होती शोभायमान होती थी।।41।। रमणीय शरीर को धारण करने वाला वह जितशत्रु राजा चिन्तन के साथ ही भोगों को प्राप्त करके उसके साथ रमता हुआ इसप्रकार से काल को बिता रहा था, जिसप्रकार कि इन्द्राणी के साथ रमता हुआ इन्द्र तथा रति के साथ रमता हुआ कामदेव काल को बिताता है।।42।।

विद्याधरों के स्वामी जितशत्रु के द्वारा सेव्यमान उस कृशांगी (वायुवेगा) ने प्रशंसनीय वेग से संयुक्त, शोक को नष्ट करने वाले और महान अभ्युदय से सहित ऐसे एक मनोवेग नामक पुत्र को इसप्रकार से उत्पन्न किया, जिसप्रकार कि *नीति अभीष्ट पदार्थ को उत्पन्न करती है।।43।।* जिसप्रकार चन्द्रमा अन्धकार को नष्ट करता हुआ प्रतिदिन अपनी कलाओं की समूह के साथ वृद्धि को प्राप्त होता है, उसीप्रकार विशुद्ध आचरण करने वाला वह मनोवेग पुत्र अपने निर्मल गुणसमूह के साथ प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने लगा।।44।।

जिसप्रकार लक्ष्मी (रत्नोंरूप सम्पत्ति) का स्थानभूत, स्थिर एवं गहरा समुद्र अपनी वेला (किनारा) के द्वारा नदियों को ग्रहण किया करता है, उसीप्रकार लक्ष्मी (शोभा व सम्पत्ति) के निवासस्थानभूत, दृढ़ एवं गम्भीर उस मनोवेग ने अपनी निर्मल बुद्धि के द्वारा राजाओं की चारों ही प्रकार की विद्याओं (साम, दान, दण्ड व भेद) को ग्रहण कर लिया।।45।। अतिशय प्रभावशाली व प्रशंसनीय बुद्धि वाला वह मनोवेग बाल्यावस्था में ही मुनियों के चरण-कमलों का भ्रमर बनकर (मुनिभक्त होकर) जिनागमरूप अमृत के पीने से पुष्ट होता हुआ धर्म में अनुराग करने लगा था।।46।। उसने अनन्त सुख से परिपूर्ण कर्म-कलंक से रहित एवं अनन्त सामर्थ्य (वीर्य) से सहित ऐसी मुक्तिरूपी कामिनी को शीघ्र ही वश में करने के लिए पूजने के योग्य क्षायिक सम्यक्त्वरूप रत्नों को धारण कर लिया। वह *सम्यक्त्व संसाररूप अग्नि को शान्त करने के लिए जल के समान उपयोगी है।।47।।*

उधर प्रियापुरी के स्वामी विद्याधर नरेश के एक पवनवेग नाम का पुत्र था जो उस मनोवेग का गाढ़ मित्र था। जिस प्रकार वेगशाली वायु अग्नि की वृद्धि में सहायक होती है उसी प्रकार वह पवनवेग अज्ञानतापूर्ण प्रवृत्ति से रहित (विवेकी) उस मनोवेग की कार्यसिद्धि में अतिशय सहायक था।।48।। वे दोनों महाप्रतापी एक-दूसरे को छोड़कर क्षणभर भी नहीं रह

सकते थे। उक्त दोनों मित्र दिन और सूर्य के समान माने जाते थे, अर्थात् जैसे दिन सूर्य के साथ ही रहता है - उसके बिना नहीं रहता है, वैसे ही वे दोनों भी एक-दूसरे के बिना नहीं रहते थे तथा वे सूर्य और दिन के समान ही सज्जनों के लिए मार्ग के दिखलाने में प्रवीण थे।।49।।

प्रियापुरी के राजा का पुत्र वह पवनवेग दुर्विनाश मिथ्यात्वरूप विष से व्याप्त और जिनेन्द्र के मुख से निकले हुए (उपदिष्ट) तत्त्व से बहिर्भूत (जिन भगवान् के द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर श्रद्धान न करने वाला) होकर कुयुक्ति व खोटे दृष्टान्तों के आश्रय से विवाद किया करता था।।50।। उसको मिथ्यात्व से युक्त होकर जैन धर्म के प्रतिकूल प्रवृत्ति करते हुए देखकर भव्य मनोवेग अन्तःकरण में दुःसह शोक से सन्तप्त हो रहा था।।51।। मिथ्यात्व से ग्रसित उस पवनवेग मित्र को दुर्विनाश दुःख में पड़ते हुए देखकर मनोवेग ने विचार किया कि मैं उसे इस कुमार्ग में चलने से रोकता हूँ। ठीक भी है, *विद्वान मनुष्य मित्र उसी को बतलाते हैं जो कि यहाँ उसे हितकारक पवित्र धर्म में प्रवृत्त करता है।।52।।* उस मनोवेग को दिन-रात यही चिन्ता रहती थी कि मैं पवनवेग के मिथ्यात्व को हटाकर किस प्रकार से उसे जैनधर्म में नियुक्त करूँ। इसी कारण उसे नींद भी नहीं आती थी।।53।।

लोक में जो भी श्रेष्ठ जिनेन्द्र देव के आयतन (जिनभवन आदि) थे उनकी वन्दना के लिए वह निरन्तर घूमा करता था। ठीक है, *सज्जन मनुष्य धर्म कार्य में अनर्थ के कारणभूत आलस को कभी नहीं किया करते हैं - वे धर्म कार्य में सदा ही सावधान रहते हैं।।54।।* किसी समय वह मनोवेग कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से भेद को प्राप्त हुई समस्त जिनप्रतिमाओं की वन्दना करके वापस आ रहा था। उस समय उसका विमान अकस्मात् आकाश में रुक गया।।55।।

तब यह मनोवेग अपने विमान को निश्चल देखकर मन में कुछ व्याकुल होता हुआ विचार करने लगा कि मेरे इस विमान को क्या किसी शत्रु ने रोक दिया है अथवा वह किसी उत्कृष्ट ऋद्धि के धारी मुनि के प्रभाव से रुक गया है।।56।। इस प्रकार विमान के रुक जाने के कारण के जानने की इच्छा से उसने नीचे पृथिवी की ओर देखा। वहाँ उसे नगरों, खानों, गाँवों और वनादिकों से रमणीय मालव नाम का देश दिखाई दिया।।57।।

वहाँ उसने मालव देश की पृथिवी पर मध्य में अवस्थित गौरवशालिनी प्रसिद्ध उज्जयिनी

नगरी को देखा। वह नगरी इस प्रकार सुशोभित थी मानो उत्तम ऋद्धि से संयुक्त पृथिवी की शोभा को देखने की इच्छा से इन्द्र की ही नगरी आ गयी हो।।58।। चन्द्र की किरणों के समान धवल उस नगरी का कोट ऐसा शोभायमान होता था जैसे कि मानो उज्ज्वल रत्नयुक्त शिर से पृथिवी को भेदकर स्वर्ग के देखने में प्रवृत्त हुआ अलंघनीय शेषनाग ही हो।।59।।

उस नगरी के चारों ओर जो खाई शोभायमान थी वह वेश्या की मनोवृत्ति के समान थी – जिस प्रकार वेश्या की मनोवृत्ति उद्धतभाव (अविनीतता) और वक्रता (कपट) से परिपूर्ण होती है, उसी प्रकार वह खाई भी उद्धतभाव (पानी की अस्थिरता) के साथ वक्र (टेढ़ी-मेढ़ी) थी; जैसे वेश्या की मनोवृत्ति का मध्य अलभ्य होता है – उसके अन्तःकरण की बात नहीं जानी जा सकती है, वैसे ही उस खाई का मध्य भी अलभ्य था – मध्य में वह अधिक गहरी थी; तथा जिस प्रकार वेश्या की मनोवृत्ति में प्रवेश पाना अशक्य होता है उसी प्रकार गहराई के कारण उस खाई में भी प्रवेश करना अशक्य था।।60।। उस नगरी के भीतर आकाश को छूनेवाले (ऊँचे) अनेक विस्तृत शिखरों से सहित और उठते हुए विचित्र मृदंग के शब्द से शब्दायमान जो उत्तम भवन थे वे फहराती हुई ध्वजाओंरूप चपल हाथों के द्वारा मानो कलिकाल के प्रवेश को ही रोक रहे थे।।61।।

उस नगरी में स्थित चतुर व सुन्दर रूप को धारण करनेवाली स्त्रियाँ कटाक्षों के फेंकनेरूप बाणों से संयुक्त भ्रुकुटियोंरूप मनोहर धनुषों के द्वारा युवावस्था वाले जनसमूह को पीड़ित करती हुई देवांगनाओं को जीतती हैं।।62।। जिस नगरी की लक्ष्मी को देखकर महती सम्पत्ति के स्वामी होने का अभिमान करने वाले कुबेर हृदय में अनिवार्य लज्जा को प्राप्त होते हैं उस नगरी का वर्णन भला कैसे किया जा सकता है? अर्थात् नहीं किया जा सकता है, वह अवर्णनीय है।।63।।

उस उज्जयिनी नगरी की उत्तर दिशा में एक सुन्दर उद्यान शोभायमान है। वह उद्यान सत्पुरुषों के समान महान् फलों को देनेवाले वृक्षसमूहों के द्वारा सब दिशाओं को प्रकाशित करता था – जिस प्रकार सत्पुरुष दूसरों के लिए महान फल (स्वर्गादि) को दिया करते हैं उसी प्रकार उस उद्यान के वृक्षसमूह भी प्राणियों के लिए अनेक प्रकार के फलों (आम, नीबू एवं नारंगी आदि) को देते थे तथा जैसे सब प्राणिसमूह सत्पुरुषों के आश्रय से सन्तुष्ट होते हैं उसी प्रकार वे उन वृक्षसमूहों के आश्रय से भी सन्तुष्ट होते थे। इसके अतिरिक्त वह उद्यान परस्पर

के विरोध से रहित होकर प्राप्त हुई व अनेक प्रकार की चेष्टाओं को दिखलानेवाली सब ऋतुओं के द्वारा सेवित होता हुआ जिस प्रकार इन्द्रियों को आह्लादित करनेवाले अनेक प्राणियों (भील, सिंह-व्याघ्र एवं तोता आदि) से सुशोभित होता था उसी प्रकार वह सुन्दर सुमनों (फूलों तथा पवित्र मनवाले मुनियों आदि) से भी सुशोभित होता था।।64-65।।

उस उद्यान में मनोवेग ने एक ऐसे महामुनि को देखा जो मनुष्य, देव एवं विद्याधरों के द्वारा आराधित; केवलज्ञानरूप नेत्र के धारक; उत्पन्न होकर विस्तार को प्राप्त हुए चार घातिया कर्मोंरूप वृक्षों के जलाने में अग्नि की समानता को धारण करनेवाले तथा संसाररूप समुद्र को पार करने के लिए नौका जैसे थे। वे मुनिराज अपने यशसमूह के समान एक अतिशय ऊँचे स्फटिक मणिमय आसन के आश्रित होकर मुनियों द्वारा सेवित होते हुए ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कि मानो अतिशय प्रकाशमान किरणसमूहों से सेवित चन्द्र ही हो।।66-67।। तीनों लोकों के स्वामियों (इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती) से वन्दित उन मुनिराज को देखकर जितशत्रु विद्याधर नरेश के पुत्र (मनोवेग) को ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ जैसा कि रज (धूलि, मुनीन्द्र के पक्ष में ज्ञानावरणादि) को नष्ट करनेवाले मेघ को देखकर मयूर को तथा प्रिय भाई को देखकर चिरकाल से प्रवास करनेवाले पथिक को प्राप्त होता है।।68।।

तत्पश्चात् फैलनेवाली रत्नों की कान्ति से संयुक्त मुकुट को धारण करनेवाला वह महामनस्वी पुण्यशाली मनोवेग मुनिराज के चरण-कमलों के दर्शन की अभिलाषा से आकाश से नीचे उतरकर देव के समान उस उद्यान के भीतर प्रविष्ट हुआ।।69।। वहाँ जाकर उसने अपरिमित भेदों से सहित तथा नमस्कार में तत्पर होकर शिरपर दोनों हाथों को रखनेवाले ऐसे मनुष्यों एवं देवों के समूहों द्वारा आराधनीय और मुनिसमूह से वेष्टित उन मुनीन्द्र को प्रणाम किया और तत्पश्चात् मन में अतिशय हर्ष को प्राप्त होता हुआ वह महासत्त्वशाली मनोवेग वहाँ मुनिसभा (गन्धकुटी) में बैठ गया।।70।।

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में पहला परिच्छेद समाप्त हुआ।।1।।

मेरा सो जावे नहीं,
जावे सो मेरा नहीं

दूसरा परिच्छेद

उस सभा में किसी एक भव्य ने जिनमति नाम के अवधिज्ञानी साधु को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उनसे पूछा कि हे भगवन्! इस असार संसार में परिभ्रमण करनेवाले प्राणियों को सुख कितना और दुःख कितना प्राप्त होता है, यह कृपा करके मुझे कहिए।।1-2।। इस पर वे मुनि बोले कि हे भद्र! सुनो, मैं उसको तुम्हें बतलाता हूँ। यद्यपि संसार में सुख और दुःख का विभाग करना अशक्य है, तो भी मैं दृष्टान्त देकर उसके सम्बन्ध में कुछ कहता हूँ। कारण यह है कि *बिना दृष्टान्त के मन्दबुद्धि जनों को समझाना शक्य नहीं है।।3-4।।*

जैसे - दुर्भाग्य से कोई एक पथिक अनन्त जीवों से परिपूर्ण संसार के समान अनेक जीव-जन्तुओं से व्याप्त किसी लम्बे वन के भीतर प्रविष्ट हुआ।।5।। वहाँ उसने सूँड़ को ऊपर उठाकर भयानक यमराज के समान अतिशय वेग से सामने आते हुए क्रुद्ध हाथी को देखा।।6।। उस हाथी ने उसे भीलों के मार्ग से अपने आगे कर लिया। तब उससे भयभीत होकर वह पथिक भागता हुआ जिसको पहले कभी नहीं देखा था ऐसे कुएँ के भीतर गिर पड़ा।।7।। भयभीत होकर उसमें गिरता हुआ वह तृणपुंज का (अथवा खश के गुच्छे या वृक्ष की जड़ों का) आलम्बन लेकर इस प्रकार से वहाँ स्थित हो गया जिस प्रकार कोई भव्य जीव दुर्गम नरकरूप घर में पहुँचकर धर्म का आलम्बन लेता हुआ वहाँ स्थित होता है।।8।। हाथी से भयभीत होकर जब तक यह नीचे देखता है तब तक उसे वहाँ यम के डण्डे के समान एक महान अजगर दिखाई दिया।।9।। तथा उसने यह भी देखा कि उस तृणपुंज को - जिसके कि आश्रय से वह लटका हुआ था - श्वेत और काले रंग के दो चूहे सब ओर से इस प्रकार खोद रहे हैं जिस प्रकार कि शुक्ल और कृष्ण ये दो पक्ष जीवित (आयु) को खोदते हैं - उसे क्षीण करते हैं।।10।। इसके अतिरिक्त उसने वहाँ चार कषायों के समान चारों दिशाओं में आते हुए अतिशय भयानक चार लम्बे सर्पों को देखा।।11।।

उधर क्रुद्ध उस हाथी ने आकर कुएँ के किनारे पर स्थित वृक्ष को इस प्रकार वेग से झकझोर दिया जिस प्रकार कि असंयमी जीव आराधनीय संयम को झकझोर देता है।।12।। उस वृक्ष के कम्पित होने से उसके ऊपर छत्तों में स्थित अनेक प्रकार की मधुमक्खियाँ दुःखद वेदनाओं के समान ही मानो सब ओर से विचलित हो उठीं।।13।। मर्म को वेधनेवाली उन

मधुमक्खियों के द्वारा सब ओर से काटने पर वह पथिक महान् दुःख का अनुभव करता हुआ ऊपर देखने लगा।।14।। उस वृक्ष की ओर देखते हुए उसने जैसे ही अपने मुँह को ऊपर किया वैसे ही उस बेचारे पथिक के ओठों के किनारे एक छोटी-सी शहद की बूँद आ पड़ी।।15।। उस समय यद्यपि उसको नरक की वेदना से भी अधिक वेदना हो रही थी, तो भी उसने उस वेदना को कुछ भी न मानकर उस शहद की बूँद के स्वाद में ही अतिशय सुख माना।।16।। तब वह मूर्ख उन सब पीड़ाओं का कुछ भी विचार न करके अपने मुख में वह शहद लेता हुआ उसी शहद की बूँद के स्वाद में मग्न हो गया और उसी के बार-बार गिरने की अभिलाषा करने लगा।।17।।

बस, अब जैसे इस पथिक के प्रकरण में उसे सुख और दुःख दोनों हैं वैसे ही सुख-दुःख इस आपत्तियों के खानस्वरूप संसार मे प्राणी के भी समझने चाहिए।।18।। उपर्युक्त उदाहरण में जिस भीलों के मार्ग का निर्देश किया गया है उसके समान प्रकृत में पाप, पथिक जन के समान प्राणी, हाथी के समान मृत्यु, शरस्तम्ब (तृणपुंज) के समान आयु, कुएँ के समान संसार, अजगर के समान नरक, चूहों के समान कृष्ण और शुक्ल पक्ष, चार सर्पों के समान चार कषायें, मधुमक्खियों के समान व्याधियाँ तथा शहद के छोटे बिन्दु के स्वाद के समान भोगजनित सुख माना गया है। इस प्रकार हे भव्य! उस पथिक के सुख-दुःख के समान संसार में परिभ्रमण करनेवाले प्राणियों के सुख-दुःख के विभाग को समझना चाहिए।।19-21।।

इस संसार में बार-बार परिभ्रमण करनेवाले प्राणियों के सुख और दुःख के मध्य में वस्तुतः इतना भारी अन्तर है जितना कि अन्तर मेरु पर्वत और सरसों के बीच में है - संसारी प्राणियों का सुख तो सरसों के समान तुच्छ और दुःख तो मेरु पर्वत के समान महान् है।।22।। जब कि संसार में दुःख तो मेरु पर्वत के बराबर बहुत और सुख सरसों के दाने के बराबर बहुत ही थोड़ा (नगण्य) है तब विवेकी जन को निरन्तर उस संसार के छोड़ने का उद्यम करना चाहिए।।23।।

जो मूर्ख परमाणु-प्रमाण सुख के लिए विषय भोगों का सेवन करते हैं वे मानो शैत्य [सर्दी] को नष्ट करने के लिए वज्राग्नि का उपयोग करते हैं, ऐसी मुझे शंका होती है। अभिप्राय यह है कि जैसे वज्राग्नि से कभी शीत का दुःख दूर नहीं किया जा सकता है वैसे

ही इन्द्रिय विषयों के सेवन से कभी दुःख को दूर करके सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता है।।24।। *यदि खोजा जाये तो कदाचित् अग्नि के भीतर शीतलता मिल सकती है, परन्तु संसार के भीतर सुख कभी और किसी प्रकार से भी उपलब्ध नहीं हो सकता है।।25।।*

मूर्ख जन विषयों के निमित्त से उत्पन्न हुए दुःख को 'सुख' इस नाम से कहते हैं। सो ठीक भी है, कारण कि क्या लोग बुझे हुए दीपक को 'बढ़ गया' ऐसा नहीं कहते हैं? कहते ही हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार व्यवहारी जन बुझे हुए दीप को 'बुझ गया' न कहकर 'बढ़ गया' ऐसा व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी जन विषय सेवन से उत्पन्न होनेवाले दुःख में सुख की कल्पना किया करते हैं।।26।। *विषयों से व्याकुल हुए प्राणी दुःखदायी को सुख देनेवाला मानते हैं।* ठीक भी है, धतूरे के फल को खाकर व्याकुल हुए प्राणी क्या सब वस्तुओं को सुवर्ण जैसा पीला नहीं देखते? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार धतूरे के फल के भक्षण से मनुष्य को सब कुछ पीला ही पीला दिखाई देता है, उसी प्रकार विषयसेवन में रत हुए प्राणी को भ्रान्तिवश दुःख ही सुख स्वरूप प्रतीत होता है।।27।।

प्राणियों को जो सुख प्राप्त हुआ है वह धर्म के निमित्त से ही प्राप्त हुआ है। अतएव उन्हें उस धर्म की रक्षा करते हुए ही प्राप्त सुख का सेवन करना चाहिए। जैसे – बुद्धिमान मनुष्य वृक्ष से उत्पन्न हुए फल को उस वृक्ष की रक्षा करते हुए ही खाया करते हैं।।28।। *सज्जन मनुष्य पाप से उत्पन्न हुए दुःख को देखकर उस पाप का परित्याग करते हैं।* ठीक है, अग्नि से उत्पन्न होनेवाले संताप को जानते हुए भी कौन-से ऐसे प्राणी हैं जो उसी अग्नि के भीतर प्रवेश करते हों? कोई भी समझदार उसके भीतर प्रवेश नहीं करता है।।29।।

जो भी प्राणी सुन्दर, सुभग, सौम्य, कुलीन, शीलवान, चतुर, चन्द्र के समान धवल यशवाले और स्थिर देखे जाते हैं वे सब धर्म के प्रभाव से ही वैसे होते हैं।।30।। इसके विपरीत जो भी प्राणी कुरूप, दुर्भग, घृणा करने योग्य, नीच, दुर्व्यसनी, मूर्ख, बदनाम और अस्थिर देखे जाते हैं वे सब पाप के कारण ही वैसे होते हैं।।31।। धर्म के प्रभाव से मनुष्य अन्य जनों से पूजित होते हुए हाथी पर सवार होकर जाया करते हैं और पाप के प्रभाव से दूसरे मनुष्य जननिन्दा के पात्र बनकर उनके (गजारूढ़ मनुष्यों के) ही, आगे-आगे दौड़ते हैं।।32।। प्राणी धर्म के प्रभाव से सौन्दर्य की उत्पत्ति की भूमिस्वरूप प्रिय स्त्रियों को प्राप्त किया करते हैं और पाप के प्रभाव से बेचारे वे हीन प्राणी शिविका में बैठी हुई उन्हीं स्त्रियों को ढोया करते हैं।।33।।

कितने ही मनुष्य धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्षों के समान दूसरों के लिए द्रव्य दिया करते हैं तथा इसके विपरीत दूसरे मनुष्य पाप के प्रभाव से अपने हाथों को फैलाकर याचना किया करते हैं - भीख माँगा करते हैं।।34।। पुण्यशाली मनुष्य स्त्री के द्वारा आलिंगित होकर मणिमय भवन के भीतर सोते हैं और पाप के प्रभाव से दूसरे मनुष्य हाथ में शस्त्र को ग्रहण करके उक्त पुण्यशाली पुरुष-स्त्रियों की रक्षा किया करते हैं।।35।। पुण्य-पुरुष सुवर्णमय पात्र में स्थित मधुर आहार को ग्रहण किया करते हैं और पापी जन कुत्तों के समान उनकी जूठन को खाया करते हैं।।36।।

धर्मात्मा जन प्रशस्त, बहुमूल्य, कोमल और सघन वस्त्र को प्राप्त करते हैं, परन्तु पापी जन सौ छेदोंवाली लँगोटी को भी नहीं प्राप्त कर पाते हैं।।37।। पुण्य के उदय से जिनकी कीर्ति लोक में फैली हुई है, ऐसे प्रशंसनीय पुरुषों का यशोगान किया जाता है और पाप के उदय से इनकी अनेक प्रकार से खुशामद करनेवाले दूसरे जन उनके आगे उन्हीं की कीर्ति को गाया करते हैं।।38।। तीनों लोकों को अपनी कीर्ति से व्याप्त करनेवाले चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण और प्रतिनारायण ये सब धर्म के प्रभाव से ही उत्पन्न होते हैं।।39।। इसके विपरीत सब लोगों के द्वारा अतिशय निन्दित बौने, खुजलीयुक्त शरीरवाले, कुबड़े, अधिक रोमों वाले, दास, मूर्ख और नीच जन पाप के उदय से उत्पन्न हुआ करते हैं।।40।।

धर्म तो अभीष्ट काम, अर्थ और मोक्ष - इनका देनेवाला तथा सब अनर्थों की खानस्वरूप अधर्म उन्हीं कामादिकों को नष्ट करनेवाला है।।41।। लोक में जितने भी प्रशंसनीय पदार्थ हैं, वे सब धर्म के प्रभाव से तथा जितने भी निन्दनीय पदार्थ हैं, वे सब पाप के प्रभाव से होते हैं, यह सर्वत्र विख्यात है और इसे मूर्ख भी जानते हैं।।42।। इस प्रकार *धर्म और अधर्म के फल को प्रत्यक्ष में जान करके विवेकी जीव सब प्रकार से अधर्म का परित्याग करते हुए निरन्तर धर्म किया करते हैं।।43।।*

नीच पुरुष एक भव में ही किंचित् सुख की अभिलाषा से वह कार्य कर बैठते हैं कि जिससे उन्हें लाखों भवों में अनेक प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है।।44।। क्षुद्र जन दुःसह दुःख को बढ़ाने वाली विषयरूप मदिरा के सेवन में मुग्ध होकर जीवन के आज-कल रहनेवाला (नश्वर) होने पर भी पाप कर्म को किया करते हैं।।45।। *क्षणनश्वर संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कि सुखप्रद, जीव के साथ जानेवाली, पवित्र, आत्मा के लिए*

हितकारक और स्थायी हो।।46।। मनुष्यों की युवावस्था (जवानी) बुढ़ापे से, जीवित यम (मृत्यु) से और सम्पत्तियाँ विपत्ति से व्याप्त हैं। हाँ, यदि कोई बाधा से रहित है तो वह उनकी एक तृष्णा ही है। अभिप्राय यह है कि युवावस्था, जीवन और सम्पत्ति ये सब यद्यपि समयानुसार अवश्य ही नष्ट होनेवाले हैं, फिर भी अज्ञानी मनुष्य विषयतृष्णा को नहीं छोड़ते हैं – वह उनके साथ युवावस्था के समान वृद्धावस्था में भी निरन्तर बनी रहती है।।47।।

प्राणी चाहे पर्वत के ऊपर चढ़ जावे, चाहे पृथिवी के ऊपर सब ओर घूमे, और चाहे पाताल में प्रविष्ट हो जावे; तो भी यमराज उसे अपना ग्रास बनाता ही है – वह मरता अवश्य है।।48।। सत्पुरुष, पिता (गुरुजन), स्त्रियाँ, बहिनें, भाईजन और पुत्र – ये सब आते हुए उस यमराजरूप उन्मत्त हाथी के रोकने में समर्थ नहीं है, *मृत्यु से बचानेवाला संसार में कोई भी नहीं है।।49।।* हाथी, घोड़ा, रथ और पादचारी – यह परिपुष्ट चार प्रकार का सैन्य भी मृत्युरूप राक्षस के द्वारा खाये जानेवाले प्राणी की रक्षा करने में समर्थ नहीं है।।50।। दान, पूजा, परिमित भोजन, मन्त्र, तन्त्र और रसायन (रोगनाशक औषधि) – इनके द्वारा भी उस क्रोधी यमरूप सर्प का निराकरण नहीं किया जा सकता है।।51।।

स्तनपान करनेवाला, शिशु, युवा, वृद्ध, दरिद्र, धनवान, निर्धन, मूर्ख, विद्वान, शूर, कायर, स्वामी, सेवक, दाता, सूम, पापी, पुण्यात्मा, सज्जन और दुर्जन; इनमें से कोई भी जीव उस जलानेवाली मृत्यु से नहीं छूट सकता है – समयानुसार ये सब ही मरण को प्राप्त होनेवाले हैं।।52-53।। जिस मृत्यु के द्वारा इन्द्र के साथ अतिशय बलवान् देव भी मारे जाते हैं, उस मृत्यु को मनुष्यों को मारने में कोई खेद नहीं होता है। ठीक ही है, जो अग्नि मजबूत पत्थरों से सम्बन्धित पर्वतों को जला डालती है, वह अग्नि तृणसमूहों (घास-फूस) को भला कैसे छोड़ सकती है? नहीं छोड़ती है।।54-55।।

वह कोई भी उपाय न वर्तमान में है, न भूतकाल में हुआ है और न भविष्य में होनेवाला है; जिसके द्वारा जीवों के चबाने में प्रवृत्त हुए यम को रोका जा सके – उनको मरने से बचाया जा सकता हो।।56।। *सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट रत्नत्रय स्वरूप धर्म को छोड़कर और दूसरा कोई भी जरा एवं मृत्यु के नष्ट करने में समर्थ नहीं है* – यदि जन्म, जरा और मरण से कोई बचा सकता है तो वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय ही बचा सकता है।।57।।

जीवित और मरण, सुख और दुःख तथा सम्पत्ति और विपत्ति इनके भोगने में प्राणी निरन्तर अकेला ही रहता है; उसकी सहायता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।।58।। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले जो बन्धुजन इसी भव में प्राणी से भिन्न हैं, वे अपने-अपने कर्म के आधीन होकर भला परभव में कैसे भिन्न नहीं होंगे? भिन्न होंगे ही।।59।। *वास्तव में अपने आत्मा को छोड़कर और कुछ भी अपना निजी नहीं है। 'यह अपना है और यह दूसरा है' - यह केवल मोह के द्वारा कोरी कल्पना की जाती है।।60।।*

जिस आत्मा की शरीर के साथ भी एकता नहीं है, उसकी क्या मित्र, पुत्र और स्त्री आदि बाहरी पदार्थों के साथ कभी एकता हो सकती है? नहीं हो सकती है।।61।। समस्त जन अपने कार्य के उद्देश्य से ही यहाँ मनुष्य की सेवा करते हैं। कार्य से रहित होने पर वे अपने वचन को भी नहीं देते हैं - बात भी नहीं करते हैं।।62।। स्वार्थ के बिना निश्चय से कोई भी स्नेह नहीं करता है। ठीक ही है, दूध के नष्ट हो जाने पर क्या नवजात बछड़े भी माँ को (गाय को) नहीं छोड़ देते हैं? छोड़ ही देते हैं।।63।।

यह खेद की बात है कि प्राणी दुःखदायक वस्तु को सुखदायक, अस्थिर को स्थिर और पर को स्वकीय मानकर यों ही पाप का संचय करते हैं।।64।। प्राणी पुत्र, मित्र और शरीर आदि के लिए तो पापाचरण करते हैं, परन्तु उससे उत्पन्न होनेवाली नरकादि की वेदना को भोगते वे अकेले ही हैं।।65।। खोजने पर संसाररूप समुद्र के भीतर कहीं पर भी सुख नहीं दिखता है। ठीक ही है, केले के खम्भे को छीलने पर भी क्या उसमें कभी सार देखा जाता है? नहीं देखा जाता है।।66।।

कोई भी बाह्य पदार्थ अपने साथ जानेवाला नहीं है - यह जानते हुए भी प्राणी जो उन्हीं बाह्य पदार्थों के निमित्त से महान आरम्भ में प्रवृत्त होते हैं, इससे दूसरी मूर्खता और कौन-सी होगी? अभिप्राय यह है कि जब कोई भी चेतन व अचेतन पदार्थ प्राणी के साथ नहीं जाता है, तब उसके निमित्त से व्यर्थ ही पापकार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।।67।। *चूँकि इन्द्रियविषयजनित सुख से भविष्य में दुःख तथा तपश्चरणजनित दुःख से भविष्य में अतिशय सुख प्राप्त होता है, इसीलिए विद्वज्जन उस इन्द्रियविषयजनित सुख को छोड़कर तप को किया करते हैं।।68।।*

निरन्तर पोषण करने पर भी जो विषय महान् दुःख दिया करते हैं, उनसे दूसरा और

कोई भी दुःसह शत्रु नहीं हो सकता है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियविषय शत्रु से भी अधिक दुःखदायक हैं। कारण कि शत्रु तो प्राणी को केवल उसी भव में दुःख दे सकता है, परन्तु वे विषय उसे अनेक भवों में भी दुःख दिया करते हैं।।69।। *जो धन, बन्धु और घर आदि प्रार्थना करने पर कहीं पर आते नहीं हैं और भेजने के बिना स्वयं ही चले जाते हैं, वे धनादि भला अपने कैसे हो सकते हैं?* अभिप्राय यह है कि जो धन आदि बाह्य पदार्थ हैं, उनका संयोग और वियोग अपनी इच्छानुसार कभी भी नहीं होता है, वे प्राणी के कर्मानुसार स्वयं ही आते और जाते रहते हैं। इसीलिए **उनके संग्रह में प्रवृत्त होकर पापकार्य करना योग्य नहीं है।।70।।**

संसार में जिन बाह्य पदार्थों के विषय में विश्वास है, उनसे भय उत्पन्न होता है, वे वास्तव में दुःख ही देनेवाले हैं और जिन सम्यग्दर्शनादि या तपश्चरणादि में प्राणी का कभी विश्वास नहीं रहता है, उनसे अनुपम सुख प्राप्त होता है।।71।। *जो प्राणी आत्मकार्य को छोड़कर शरीर के कार्यों में संलग्न रहते हैं, वे पर के ही गुलाम रहते हैं, उनसे निकृष्ट और दूसरे नहीं हैं।।72।। जो पुत्र-मित्रादि अनेक भवों के पवित्र सुखों का अपहरण किया करते हैं, वे भला चोरों से विशिष्ट कैसे न होंगे?* उन्हें लोकप्रसिद्ध चोरों से भी विशिष्ट चोर समझना चाहिए। कारण कि चोर तो धन आदि का अपहरण करके एक ही भव के सुख को नष्ट करते हैं, परन्तु ये विशिष्ट चोर अपने निमित्त से प्राणी को पापाचरण में प्रवृत्त करके उसके अनेक भवों के सुख को नष्ट किया करते हैं।।73।। जितना कुछ भी सांसारिक सुख है, वह सब आत्मा के लिए हितकारक नहीं हैं – उसे नरकादि के कष्ट में डालनेवाला है, ऐसा विचार करके *विवेकी जनों को निरन्तर जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट धर्म का आचरण करना चाहिए, क्योंकि आत्मा के लिए हितकारक वही है।।74।।*

जो जीव क्षमा के आश्रय से क्रोध को, मृदुता के आश्रय से मान को, ऋजुता (सरलता) के आश्रय से माया को तथा सन्तोष के आश्रय से लोभ को भी शीघ्र फेंक देता है, नष्ट कर देता है, उसके धर्म रहता है।।75।। जो भव्य जीव सदा निर्मल शील को धारण करता है, जिन भगवान की पूजा करता है, पात्रों के लिए दान देता है तथा पर्व (अष्टमी आदि) में उपवास करता है, उसके धर्म होता है (वह धर्मात्मा है) ।।76।। जो प्राणी अन्य प्राणियों की रक्षा करता है, सत्य वचन बोलता है, चोरी का परित्याग करता है, स्त्री को राक्षसी के समान

छोड़ देता है तथा परिग्रह का त्याग करके सन्तोषरूप अमृत का पान करता है; उसी धीर प्राणी के पवित्र धर्म होता है। ऐसा प्राणी नम्रीभूत होकर धर्मात्मा जनों से अतिशय अनुराग करनेवाला होता है।।77-78।। **जो भव्यजीव यथार्थ में जिनदेव के भाषित (जिनागम) का विचार करता है, वह अतिशय कठिनाई से शान्त होनेवाली संसाररूप वज्र-अग्नि को बुझाता है।।79।।**

उन जिनमति मुनिराज के इस कथन से (धर्मोपदेश से) सारी सभा इस प्रकार से प्रसन्न हुई, जिस प्रकार कि ताप को नष्ट करनेवाले मेघ के जल से पृथिवी प्रसन्न हो जाती है।।80।। इस प्रकार धर्मोपदेश को समाप्त करके उन अवधिज्ञानी जिनमति मुनिराज ने जब यह ज्ञात किया कि यह जितशत्रु राजा का पुत्र मनोवेग है, तब धर्मात्मा जनों से अनुराग करने में कुशल वे योगिराज उससे इस प्रकार बोले। ठीक है, जिनका चित्त केवल धर्म में ही आसक्त रहता है, ऐसे योगी जनों को भी भव्य जीवों के विषय में पक्षपात (अनुराग) हुआ ही करता है।।81।। हे भद्र! धर्म में निरत तेरा भव्य पिता अपने परिवार के साथ कुशलपूर्वक है? तब राजा जितशत्रु विद्याधर का पुत्र वह मनोवेग मुनिराज के इस वाक्य को सुनकर हर्षित होता हुआ प्रणामपूर्वक इस प्रकार बोला।।82।।

हे मुनीन्द्र! जिस विद्याधरों के स्वामी (मेरे पिता) की रक्षा निरन्तर आपके चरण करते हैं, उसके लिए भला विघ्न-बाधाएँ कैसे हो सकती हैं? अर्थात् नहीं हो सकती हैं। ठीक है, जिसकी रक्षा गरुड़ पक्षी करते हैं उसे क्या सर्प कभी भी पीड़ा पहुँचा सकते हैं? नहीं पहुँचा सकते हैं।।83।। इस प्रकार कहकर वह मनोवेग उठा और मस्तक पर दोनों हस्त-कमलों को रखता हुआ केवलज्ञानरूप किरणों के द्वारा पदार्थों को विकसित (प्रकट) करनेवाले उन केवलीरूप सूर्य से प्रणामपूर्वक सविनय इस प्रकार पूछने लगा। ठीक भी है, क्योंकि केवलीरूप सूर्य के बिना दूसरा कोई सन्देहरूप अन्धकार को पूर्णरूप से नहीं नष्ट कर सकता है।।84।।

हे देव! मेरे एक प्राणों से प्यारा विद्याधर मित्र है जो कि दुर्विनाश मिथ्यात्वरूप विष से व्याकुल होकर विपरीत मार्ग में प्रवृत्त हो रहा है। वह क्या कभी इस जैन धर्म में प्रवृत्त होगा अथवा नहीं होगा, यह मुझे बतलाइए।।85।। हे देव! उसे इस प्रकार कुमार्ग में वर्तमान देखकर मेरे मन में जो चिन्ता है वह मुझे दुर्निवार सन्ताप को उत्पन्न करनेवाली वज्राग्नि की शिखा

के समान सन्तप्त कर रही है। ठीक है, *समान स्वभाव और गुणवाले के साथ में जो मित्रता होती है वही वास्तव में सुख देने वाली होती है।।86।।*

जो मनुष्य अनेक प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाले मिथ्यामार्ग में आसक्त हुए मित्र को उससे नहीं रोकते हैं, वे उसे भयानक सर्पों से व्याप्त अतिशय गहरे कुएँ में गिरने के लिए प्रेरित करते हैं।।87।। *मिथ्यात्व को छोड़कर और दूसरा कोई दुर्विनाश अन्धकार नहीं है, सम्यग्दर्शन के सिवाय अन्य कोई विवेक को उत्पन्न करनेवाला नहीं है, संसार के अतिरिक्त अन्य किसी का निषेध करना योग्य नहीं है, तथा मुक्ति के बिना और कोई भी वस्तु मनुष्यों के द्वारा प्रार्थनीय नहीं है।।88।।* हे सर्वज्ञदेव! उसके पवित्र भव्यपना है अथवा नहीं है? कारण कि उसके बिना वस्तुस्वरूप की प्ररूपणा व्यर्थ होती है। ठीक है, कंकड़क (कांकटुक) मूँग के (न सीझने योग्य मूँग के) होने पर उसके पकाने के लिए की जानेवाली सब ही विधियाँ व्यर्थ ठहरती हैं।।89।।

इस प्रकार पूछकर उस विद्याधरकुमार (मनोवेग) के चुप हो जाने पर यतिश्रेष्ठ की निष्पाप एवं मनोहर भाषा उत्पन्न हुई – हे भद्र! पुष्पनगर (पटना) ले जाकर प्रतिबोधित करने पर वह शीघ्र ही उस मिथ्यात्व के दोष को छोड़ देगा।।90।। हे सुबुद्धे! तुम उसके मन में स्थान पाकर प्रविष्ट हुए उस मिथ्यात्वरूप काँटे को अनेक दृष्टान्त एवं युक्तियों के द्वारा इस प्रकार से निकाल दो, जिस प्रकार कि शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर निरन्तर दुःसह दुःख को देनेवाले काँटे आदि को संडासियों के द्वारा निकाला जाता है।।91।। वह वहाँ पूर्वापर आदि अनेक दोषों से दूषित अन्य मतों को प्रत्यक्ष देखकर शीघ्र ही प्रचुर दोषयुक्त उस मिथ्यात्वरूप अन्धकार को छोड़ता हुआ ज्ञानरूप प्रकाश को प्राप्त करेगा।।92।।

लोक में जब तक जिनेन्द्र के वचन नहीं है – जैनधर्म का प्रचार नहीं है, तब तक ही मिथ्यादृष्टियों के वचन (उपदेश) प्रकाश में आते हैं। ठीक है, लोक में प्रकाश करने में कुशल, ऐसे सूर्य के विद्यमान होने पर क्या ग्रहसमूह की प्रभा दिखती है? नहीं दिखती है।।93।। *जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये शुद्ध वाक्यों के द्वारा अभव्य को छोड़कर और दूसरा कौन प्रतिबोध को नहीं प्राप्त होता है?* अर्थात् अभव्य को छोड़कर शेष सब ही प्राणी जिन-प्ररूपित तत्त्व स्वरूप के द्वारा प्रतिबुद्ध होते हैं। ठीक है, अन्धकार के नष्ट करने में प्रवीण सूर्य की किरणों के समूहों से उल्लू को छोड़कर शेष सब ही प्राणी पदार्थ का अवलोकन करते हैं।।94।।

इस प्रकार केवली की वाणी को सुनकर वह विद्याधरकुमार (मनोवेग) अतिशय आनन्द को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् वह पाप को नष्ट करनेवाले जिनदेव के चरणकमलों में नमस्कार करता हुआ विद्या के प्रभाव से दिव्य विमान को निर्मित करके व उसमें बैठकर अपरिमित गति के साथ घर को चला गया।।95।।

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।।2।।

दुःख दूर होने का सच्चा उपाय

..... तथा इस संसारी के एक यह उपाय है कि स्वयं को जैसा श्रद्धान है, उसीप्रकार पदार्थों को परिणमित करना चाहता है। यदि वे परिणमित हों तो इसका सच्चा श्रद्धान हो जाये। परन्तु **अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं हैं, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होतीं।** उन्हें परिणमित कराना चाहे वह कोई उपाय नहीं है, वह तो मिथ्यादर्शन ही है।

तो सच्चा उपाय क्या है? जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान हो जाये तो सर्व दुःख दूर हो जायें। जिसप्रकार कोई मोहित होकर मुर्दे को जीवित माने या जिलाना चाहे तो आप ही दुःखी होता है। तथा उसे मुर्दा मानना और यह जिलाने से जियेगा नहीं - ऐसा मानना, सो ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित करना चाहे तो आप ही दुःखी होता है। तथा **उन्हें यथार्थ मानना और यह परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे - ऐसा मानना, सो ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दुःख का उपाय भ्रम दूर करना ही है।** सो भ्रम दूर होने से सम्यक्श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।.....

- मोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार

तीसरा परिच्छेद

वह मनोवेग देदीप्यमान कान्ति से प्रकाशमान देव के समान दिव्य विमान पर चढ़कर अपनी नगरी की ओर जा ही रहा था कि इस बीच में उसे विमान में बैठकर सम्मुख आते हुए पवनवेग ने इस प्रकार से देखा कि जिस प्रकार एक देव दूसरे किसी उत्तम देव को देखता है – उससे मिलता है।।1-2।। तब उसको देखकर पवनवेग ने पूछा कि जिस प्रकार नीति के बिना कामातुर मनुष्य बहुत काल स्थित रहता है उसप्रकार तुम मेरे बिना (मुझे छोड़कर) इतने काल तक कहाँ पर स्थित रहे – यह मुझे बतलाओ।।3।। जिसप्रकार सूर्य के बिना दिन नहीं रह सकता है उसप्रकार जो मैं तुम्हारे बिना एक क्षण भी रहने को समर्थ नहीं हूँ, वही मैं भला इतने दीर्घ काल तक तुम्हारे बिना कैसे रह सकता हूँ? नहीं रह सकता हूँ।।4।।

हे मित्र! मैंने तुम्हें प्रयत्नपूर्वक सर्वत्र इस प्रकार से खोजा जिस प्रकार कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव मुक्तिप्रद धर्म को खोजता है।।5।। इस प्रकार खोजते हुए जब मैंने तुम्हें उद्यान, नगर, बाजार, राजप्रासाद के आँगन और समस्त जिनालयों में से कहीं पर भी नहीं पाया तब घबड़ाकर मैं तुम्हारे घर गया और वहाँ तुम्हारे पिता तथा पितामह (आजा) से पूछा। ठीक है, इष्टसंयोग की इच्छा करनेवाला मनुष्य सब कुछ करता है।।6-7।।

इस प्रकार मैंने सब ओर पूछा, परन्तु मुझे तुम्हारा वृत्तान्त प्राप्त नहीं हुआ। अब दैवयोग से मैंने तुम्हें यहाँ आते हुए देखा है।।8।। जिस प्रकार संयमी पुरुष सन्तोष को छोड़कर इच्छानुसार घूमता है उसी प्रकार तुम मुझ जैसे मित्र को – जो कि तुम्हारे वियोग को नहीं सह सकता है तथा तुम्हें आनन्द उत्पन्न करनेवाला है – छोड़कर क्यों अपनी इच्छानुसार घूमते हो? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार *संयमी पुरुष का सन्तोष को छोड़कर इधर-उधर घूमना उचित नहीं है* उसी प्रकार मुझको छोड़कर तुम्हारा भी इच्छानुसार इधर-उधर घूमते फिरना उचित नहीं है।।9।।

वायु स्वभाव से तिरछा जाता है तथा अग्नि ऊपर जाती है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् स्थित रहने पर भी जिस प्रकार इन दोनों के मध्य में मित्रता की प्रसिद्धि है उसी प्रकार वियोग में स्थित होकर भी हम दोनों के बीच में प्रसिद्धि मात्र से मित्रता समझना चाहिए।।10।। शरीर और आत्मा के समान जिन दोनों का जन्म से लेकर मरण पर्यन्त कहीं पर भी वियोग नहीं

होता है, उनका संयोग (मित्रता) ही वास्तव में उत्तम है।।11।। जो तेजस्वी सूर्य और निस्तेज चन्द्रमा दोनों महीने में केवल एक बार अमावस्या के दिन परस्पर मिला करते हैं, उनके समान भिन्न स्वभाव वाले होकर महीने में एक-आध बार परस्पर मिलने वाले दो प्राणियों के बीच में भला मित्रता किस प्रकार हो सकती है? नहीं हो सकती है।।12।।

बुद्धिमान मनुष्यों को ऐसे मनोरम (मन को मुदित करनेवाले) प्राणी को मित्र और स्त्री बनाना चाहिए, जो कि चित्र में स्थित के समान कभी भी दूसरों के अधीन नहीं हो सकता हो।।13।। निरन्तर एक-दूसरे के बिना न रहने वाले दिन और सूर्य के समान जिन दो प्राणियों में कभी वियोग की सम्भावना नहीं है, उनकी मित्रता प्रशंसनीय है।।14।। *जो साधु (सज्जन) के क्षीण (कृश) होने पर स्वयं क्षीण होता है तथा उसके वृद्धिंगत होने पर वृद्धि को प्राप्त होता है, उसके साथ की गई मित्रता प्रशंसा के योग्य है।* जैसे - समुद्र के साथ चन्द्र की मित्रता। कारण कि कृष्ण पक्ष में चन्द्र के क्षीण होने पर वह समुद्र भी स्वयं क्षीण होता है तथा उसके शुक्ल पक्ष में वृद्धिंगत होने पर वह भी वृद्धि को प्राप्त होता है।।15।।

पवनवेग के इस उलाहने को सुनकर मनोवेग बोला कि हे अतिशय सुन्दर बुद्धिमान मित्र! तू क्रुद्ध न हो। कारण कि मैं मनुष्यक्षेत्र (अढ़ाईद्वीप) में स्थित जिनप्रतिमाओं की वन्दना करता हुआ घूमता रहा हूँ।।16।। जिनको मनुष्य और देव नमस्कार किया करते हैं, ऐसे जो कुछ भी कृत्रिम और अकृत्रिम जिनालय अढ़ाई द्वीपों के भीतर स्थित हैं, उन सबकी मैंने भक्तिपूर्वक पूजा, वन्दना और स्तुति की है। इससे जिस निर्मल पुण्य का मैंने उपार्जन किया है, वह सब प्रकार के दुःख का विनाश करने में समर्थ है।।17-18।। जिसप्रकार साधु के हृदय को सन्तुष्ट करनेवाले *प्रशम (कषायोपशमन) के बिना कभी संयम नहीं रह सकता है,* उसी प्रकार मैं तुम्हारे बिना एक क्षण भी कभी नहीं रह सकता हूँ।।19।।

मैंने भरतक्षेत्र में घूमते हुए बहुत वर्णों (ब्राह्मण आदि) से संयुक्त पाटलीपुत्र नगर को देखा है। वह नगर महिला के मस्तकगत तिलक के समान श्रेष्ठ है।।20।। इस नगर में निरन्तर आकाश में फैलने वाला यज्ञ का धुआँ ऐसे देखने में आता है, जैसे कि मानो भ्रमर समूह के समान कृष्ण वर्ण का स्त्री के बालों का समूह ही हो।।21।। उस नगर में आकाश को बहरा करनेवाली चार वेदों की ध्वनि को सुनकर मेघों के आगमन की शंका करनेवाले मयूर नाचा करते हैं।।22।। वहाँ वेद के अर्थ का प्रतिपादन करने वाली ऐसी वसिष्ठ, व्यास, वाल्मीकि,

मनु और ब्रह्मा आदि के द्वारा रची गयी स्मृतियाँ सुनी जाती हैं।।23।। वहाँ पुस्तकों को लेकर सब ओर संचार करनेवाले विद्वान विद्यार्थी सरस्वती के पुत्रों जैसे दिखते हैं।।24।। जिसप्रकार योद्धा उद्वेग से रहित होकर मर्म को भेदन करनेवाले बाणों से परस्पर युद्ध किया करते हैं, उसीप्रकार उस नगर में वादीजन उद्वेग से रहित होकर मर्मभेदी वचनों के द्वारा परस्पर वाद किया करते हैं।।25।।

वहाँ पर सब ओर मधुरभाषी शिष्यों से वेष्टित पण्डित जन भ्रमरों से वेष्टित मनोहर कमलखण्डों के समान दिखते हैं।।26।। उस नगर में सिर को मुड़ाकर ध्यान व अध्ययन में संलग्न रहनेवाले उत्तम संन्यासी गंगा के किनारे सब ओर देखे जाते हैं।।27।। वहाँ शास्त्रनिश्चय को करनेवाली अम्बुवाहिनी को सुनकर वाद की खुजली को मिटाने के लिए आये हुए दूसरे वादी जन शीघ्र ही भाग जाते हैं।।28।। वहाँ बहुत बार अग्निहोत्र आदि कार्यों को करनेवाले चतुर ब्राह्मण शरीरधारी वेदों के समान निवास करते हैं।।29।। उस नगर में समस्त शास्त्रों का विचार करनेवाले ब्राह्मण सरस्वती के विलासों के समान सर्वत्र निरन्तर मीमांसा (जैमिनीय दर्शन) का विचार किया करते हैं।।30।। जो धर्म दुःखरूपी लकड़ियों को भस्म करने के लिए अग्नि के समान है, उसकी प्रसिद्धि के लिए वहाँ अठारह पुराणों का हजारों बार व्याख्यान किया जाता है।।31।। स्थान-स्थान पर तर्क, व्याकरण, काव्य और नीतिशास्त्र का व्याख्यान करनेवाले विद्वानों से व्याप्त वह नगर साक्षात् सरस्वती देवी के मन्दिर के समान प्रतीत होता है।।32।।

हे भद्र! उस नगर को चारों ओर देखते हुए मेरा बहुत-सा काल बीत गया। ठीक भी है, जिसका चित्त विक्षिप्त होता है, वह बीते हुए काल को नहीं जान पाता है।।33।। आश्चर्य के स्थानस्वरूप उस पाटलीपुत्र नगर में मैंने जो आश्चर्य देखा है, उसको मैं कहना तो चाहता हूँ, परन्तु वचनों के द्वारा उसे कह नहीं सकता हूँ।।34।। हे भद्र! प्राणी इन्द्रियों के द्वारा जिन वस्तुओं का अनुभव किया करता है, उनको वचनों के द्वारा कहने के लिए सरस्वती भी समर्थ नहीं है।।35।। हे भद्र! धर्म के समान तुमको छोड़कर मैं दुर्विनीत जो वहाँ पर बहुत काल तक स्थित रहा हूँ, इस मेरे सब अपराध को तुम क्षमा करो।।36।।

यह सुनकर निर्मल चित्त पवनवेग ने हँसकर कहा कि *लोक में कौन-सा धूर्त अपने अधीन होकर भाषण करने वाले (अनुकूलभाषी) धूर्तों के द्वारा नहीं ठगा जाता है?।।37।।*

हे सज्जन! तुमने जो कौतुक देखा है, उसे मुझे भी दिखलाओ। कारण कि सज्जन पुरुष दूसरों को विभाग करने के बिना कभी किसी वस्तु का उपभोग नहीं किया करते हैं।।38।। हे मित्र! वहाँ फिर से चलो, मुझे देखने का अतिशय कुतूहल है। कारण कि मित्रजन मित्रों की प्रार्थना को व्यर्थ नहीं किया करते हैं।।39।। इस पर मनोवेग बोला कि हे मित्र! स्थिर होओ, चलूँगा; क्योंकि शीघ्रता से कभी ऊमर का फल नहीं पकता है।।40।। भोजन करके प्रातःकाल में निश्चिन्त होकर दोनों चलेंगे, क्योंकि भूखरूप अग्नि की चिन्ता में सब कौतुक भाग जाता है।।41।।

तत्पश्चात् सुन्दर एवं प्रकाशमान लक्ष्मी से संयुक्त वे दोनों वृद्धिंगत नय (नीति) और उत्साह के समान एक होकर प्रसन्नतापूर्वक अपने घर को गये।।42।। वहाँ उन दोनों ने मिलकर भोजन किया और फिर वे साथ ही बैठे, स्थित हुए एवं साथ ही सोये भी। ठीक है, जिनका चित्त स्नेह से परिपूर्ण होता है, वे एक-दूसरे के वियोग को नहीं सह सकते हैं।।43।। फिर प्रातःकाल में दिव्य आभरणों से विभूषित होकर उत्तम आकार को धारण करने वाले वे दोनों मित्र दो देवों के समान इच्छानुसार गमन करने वाले विमान पर चढ़कर पाटलीपुत्र की ओर चल दिये।।44।। तत्पश्चात् वे दोनों मित्र विचित्र आश्चर्यों से व्याप्त उस पवित्र पाटलीपुत्र नगर में इतने वेग से जा पहुँचे जैसे किसी अभीष्ट स्थान में मन के द्वारा शीघ्र जा पहुँचते हैं।।45।। वहाँ वे अनेक वृक्षों से व्याप्त होकर इच्छित फलों को देने वाले उस (पाटलीपुत्र) के उद्यान में इसप्रकार से उतर गये जिसप्रकार मानो दो देव नन्दन वन में ही उतरे हों।।46।।

उस उद्यान में गुच्छोंरूप स्तनों से झुकी हुई बेलों से वेष्टित वृक्ष सब ओर इस प्रकार से सुशोभित थे जिस प्रकार कि गुच्छों के समान सुन्दर स्तनों के बोझ से झुकी हुई स्त्रियों से वेष्टित होकर कामी जन सुशोभित होते हैं।।47।। वहाँ पर मनोवेग ने पवनवेग से कहा कि हे मित्र! तुम यदि मेरा कहना मानते हो तो मैं नगर के भीतर ले जाकर तुम्हारे कौतूहल को पूरा करता हूँ।।48।। उसके वचन को सुनकर पवनवेग भी बोला कि हे महाबुद्धि! मैं तुम्हारा कहना मानूँगा, तुम इसमें शंका न करो।।49।। हे मित्र! मैं तुम जैसे मित्र के सब वचनों का परिपालन करूँगा, यह निश्चित समझो। कारण यह है कि *यदि परस्पर में एक-दूसरे को ठगने की वृत्ति रही तो फिर दोनों के बीच में मित्रता ही कैसे स्थिर रह सकती है?* नहीं रह सकती।।50।। मित्र पवनवेग के इन वचनों को सुनकर मनोवेग ने विचार किया कि यह

भविष्य में सम्यग्दृष्टि हो जायेगा, जिन भगवान का कहना असत्य नहीं हो सकता।।51।। फिर उसने मन में अतिशय सन्तुष्ट होकर पवनवेग से कहा कि यदि ऐसा है तो हे मित्र! चलो फिर हम दोनों नगर के भीतर चलें।।52।।

तब अनेक प्रकार के आभूषणों को धारण करनेवाले वे दोनों घास और लकड़ियों को ग्रहण करके लीला (क्रीड़ा) से उस नगर के भीतर प्रविष्ट हुए।।53।। उन दोनों को उस प्रकार के वेष में देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। ठीक है, लोक में जिस वस्तु को पहले कभी नहीं देखा है उसके देखने पर किनको आश्चर्य नहीं होता है? अर्थात् सभी को आश्चर्य होता है।।54।। उस समय इस प्रकार के वेष में घूमते हुए उन दोनों को दर्शकजनों ने सब ओर से इस प्रकार से घेर लिया जिस प्रकार कि मानो महान् शब्द को करने वाली मक्खियों के समूह ने गुड़ के दो ढेरों को ही घेर लिया हो।।55।।

उनको इस प्रकार से देखकर वहाँ कुछ लोगों ने कहा कि देखो! आश्चर्य है कि भूषणों से विभूषित होकर उत्तम आकार को धारण करने वाले ये दोनों बेचारे घास और लकड़ियों के भार को कैसे धारण करते हैं?।।56।। दूसरे कुछ मनुष्य बोले कि ये दोनों मनुष्य अपने बहुमूल्य भूषणों को बेचकर सुख से क्यों नहीं स्थित होते?।।57।। अन्य कुछ मनुष्य बोले कि विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों घास और लकड़ी बेचने वाले नहीं हैं, किन्तु ये दोनों देव अथवा विद्याधर हैं जो कि स्पष्टतः किसी कारण से घूम रहे हैं।।58।। दूसरे कुछ भद्र पुरुष बोले कि हमें दूसरों की चिन्ता से क्या करना है, क्योंकि जो दूसरों की चिन्ता में आसक्त रहते हैं, उन्हें पाप के सिवा दूसरा कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता है।।59।।

अतिशय कान्तिशाली उन दोनों को देखकर काम के वशीभूत हुईं नगर की स्त्रियाँ अन्य कामों को छोड़कर क्षोभ को प्राप्त हुईं।।60।। कुछ स्त्रियाँ बोलीं कि 'कामदेव एक है' – यह जो प्रसिद्धि है, उसको नष्ट करने के लिए ही मानो वह कामदेव निश्चय से दो प्रकार का हो गया है। अभिप्राय यह है कि वे दोनों मित्र उन स्त्रियों के लिए साक्षात् कामदेव के समान दिख रहे थे।।61।। दूसरी कोई स्त्री बोली कि मैंने घास और लकड़ियों के बेचने वाले तो बहुत देखे हैं, परन्तु अन्य किसी में न पायी जानेवाली – ऐसी अनुपम शोभा को धारण करने वाले इन दोनों के समान अतिशय सुन्दर घास एवं लकड़ियों के बेचनेवाले कभी नहीं देखे हैं।।62।। अन्य कोई काम से व्याकुल स्त्री उनके साथ सम्भाषण करने की इच्छा से

बोली कि हे सखि! तू इन दोनों लकड़हारों को शीघ्र बुला।।63।। ये दोनों घास और लकड़ियों को जैसे (जितने मूल्य में) देंगे मैं निश्चय से वैसे (उतने मूल्य में) ही लूँगी। ठीक है, *अभीष्ट जनों से वस्तु के प्राप्त होने पर मूल्य आदि की गिनती नहीं की जाती है।।64।।*

उत्तम शरीर के धारक वे दोनों मित्र उपर्युक्त वाक्यों को सुनते हुए सुवर्णमय आसन से संयुक्त ब्रह्मशाला (ब्राह्मणों की वादशाला) में जा पहुँचे।।65।। यहाँ ये घास और लकड़ियों को छोड़कर भेरी को बजाते हुए सिंह के समान निर्भय होकर वेग से उस सुवर्णमय आसन पर बैठ गये।।66।। उस भेरी के शब्द को सुनकर 'कौन वादी यहाँ कहाँ से आया है', इस प्रकार बोलते हुए सब ब्राह्मण वाद की इच्छा से क्षोभ को प्राप्त हुए।।67।। तब निरन्तर विद्या के अभिमानरूप अग्नि से जलने वाले वे ब्राह्मण दूसरे वादी को जीतने की इच्छा से निकल पड़े।।68।।

वहाँ कुछ ब्राह्मण विद्वान बोले कि यदि कोई हमें वाद में पराङ्मुख करके चला जाता है तो फिर हमारे तर्कशास्त्र के पढ़ने का फल ही क्या होगा?।।69।। कुछ विद्वान बोले कि जो बहुत-से वाद (शास्त्रार्थ) दूसरों के द्वारा नहीं जीते जा सकते थे, उन्हें आप लोग जीत चुके हैं। अतएव अब आप लोग मौन से स्थित रहें, इस समय हम वाद करेंगे।।70।। दूसरे कुछ ब्राह्मण विद्वान वहाँ बुद्धि के अभिमान में चूर होकर बोले कि पढ़ने में परिश्रम करने वाले हम लोगों का समय अब तक यों ही गया। अर्थात् अब तक कोई वाद का अवसर न मिलने से हम अपने विद्याध्ययन में किये गये परिश्रम का कुछ भी फल नहीं दिखा सके थे, अब चूँकि वह अवसर प्राप्त हो गया है अतएव अब हम वादी को परास्त कर अपने पाण्डित्य को प्रकट करेंगे।।71।। वहाँ अन्य विद्वान बोले कि अब हम वादी को वाद में परास्त करके उसके ऊपर प्राप्त हुई विजयरूपी लाठी के द्वारा वादरूपी वृक्ष से यशरूपी फल को गिराकर उसे ग्रहण करते हैं।।72।। इनको आदि लेकर और भी अनेक वाक्यों को बोलते हुए वे श्रेष्ठ ब्राह्मण वाद की खुजली से संयुक्त होकर ब्रह्मशाला में जा पहुँचे।।73।।

वहाँ भी हार, कंकण, केयूर, श्रीवत्स और मुकुट आदि आभूषणों से विभूषित मनोवेग को देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए।।74।। वे बोले कि यह निश्चय से ब्राह्मणों का अनुग्रह करने की इच्छा से हमें भगवान विष्णु ही प्राप्त हुआ है, क्योंकि दूसरे किसी के भी शरीर की ऐसी मनोहर कान्ति सम्भव नहीं है। यह कहते हुए उन लोगों ने उसे अतिशय भक्ति के साथ प्रणाम किया। ठीक ही है, जिनकी बुद्धि में विपरीतता होती है वे भला उत्तम कार्य कैसे कर

सकते हैं? अर्थात् वे ऐसे ही जघन्य कार्य किया करते हैं।।75-76।। उनमें से कुछ बोले कि यह निश्चय से इन्द्र है, क्योंकि लोक को आनन्द देने वाली ऐसी उत्तम कान्ति दूसरे की नहीं हो सकती है।।77।।

अन्य कितने ही बोले कि यह महादेव है और अपने तीसरे नेत्र को संकुचित करके पृथिवी को देखने के लिए आया है, क्योंकि ऐसी सुन्दरता और दूसरे के नहीं हो सकती है।।78।। दूसरे कुछ ब्राह्मण बोले कि यह कोई अभिमानी विद्याधर है जो पृथिवीतल का निरीक्षण करता हुआ अनेक प्रकार की क्रीड़ा कर रहा है।।79।। इस प्रकार विचार करते हुए भी वे ब्राह्मण विश्वरूप मणि (सर्वरत्न) के समान अपनी प्रभा से समस्त दिशाओं को परिपूर्ण करने वाले उस मनोवेग के विषय में कुछ भी निश्चय नहीं कर सके।।80।।

उस समय कोई विद्वान बोला कि यह कौन है, इसका निश्चय करने के लिए इसी से पूछ लेना चाहिए; क्योंकि हाथ में कंकण के स्थित रहने पर विद्वान मनुष्य दर्पण के विषय में आदर नहीं किया करते हैं - हाथ कंगन को आरसी क्या।।81।। यदि यह वादियों के जीतने की इच्छा से यहाँ वाद करने के लिए आया है तो समस्त शास्त्रों के रहस्य को जानने वाले हम लोग इसके साथ उसे (वाद को) करेंगे।।82।। छह दर्शनों में वह कोई भी दर्शन नहीं है जिसे कि यथार्थ में पूर्णरूप से हम न जानते हों। यह नगर विद्वानों से भरपूर है, यहाँ यह दुर्बुद्धि दूसरा (छह दर्शनों से बाह्य) क्या बोलेगा?।।83।।

उसकी इस वाणी को सुनकर कोई एक ब्राह्मण आकर मनोवेग से बोला कि आप कौन हैं और विरुद्ध कार्य को करते हुए तुम यहाँ किसलिए आये हो, यह हमें बतलाओ।।84।। यह सुनकर उससे वह विद्याधरपुत्र (मनोवेग) बोला कि हे भट्ट! मैं एक निर्धन मनुष्य का पुत्र हूँ और इस बड़े भारी नगर में घास व लकड़ियों को बेचने के लिए आया हूँ।।85।। इस पर वह ब्राह्मण उससे बोला कि हे भद्र पुरुष! आप यहाँ वाद को जीतने के बिना ही शीघ्रता से वाद की भेरी को बजाकर इस पूज्य सिंहासन के ऊपर क्यों बैठ गये?।।86।। यदि तुममें वाद को जीतने की शक्ति है तो फिर तुम निर्मल बुद्धि से संयुक्त होते हुए वादिजनों के अभिमान को चूर्ण करने वाले ये जो श्रेष्ठ ब्राह्मण विद्वान हैं, उनके साथ वाद करो।।87।।

हे मूर्ख! इस नगर से कोई भी विद्वान वादियों के जीतने से प्राप्त यश से विभूषित होकर नहीं जाता है। ठीक ही है, नागभवन से कौन-सा मनुष्य शेषनाग के मस्तकगत मणि की

किरणों से रंजित होकर जाता है? अर्थात् कोई नहीं जा पाता है।।88।। क्या तुम वातूल (वायु के विकार को न सह सकने वाले) [वातरोगी] हो, क्या पिशाच से पीड़ित हो अथवा क्या जवानी के वृद्धिंगत उन्माद से व्याकुल हो; जिससे कि तुम दिव्य मणिमय एवं रत्नमय आभूषणों से भूषित होकर घास व लकड़ियों के बेचनेरूप कार्य को करते हो?।।89।। तीन लोकों में प्राणियों के मन को मुग्ध करनेवाले बहुत-से ढीठचित्त (प्रगल्भ) मनुष्य हैं, परन्तु तुम जैसा ढीठ मनुष्य यहाँ दूसरा नहीं देखा जाता है, जो कि पण्डितजनों को मोहित करता हो।।90।।

तत्पश्चात् वह मनोवेग विद्याधर बोला - हे विप्र! तुम व्यर्थ ही क्रोध क्यों करते हो? देखो, कारण के बिना सर्प क्रोध को प्राप्त होता है, परन्तु *बुद्धिमान मनुष्य कारण के बिना क्रोध को प्राप्त नहीं होता।।91।।* इस रमणीय (या उन्नत-आनत) सुवर्णमय आसन को देखकर मैं कौतुक से उसके ऊपर बैठ गया तथा हे विप्र! इसकी आकाश में कितनी ध्वनि होती है, इस विचार से मैंने भेरी को भी बजा दिया।।92।। हम तो तृण-काष्ठ बेचने वाले के लड़के हैं, जो वास्तव में शास्त्र के मार्ग को भी नहीं जानते हैं। हे भट्ट! मैं बुद्धिहीन हूँ, वाद शब्द को इस समय मैंने तुम्हारे वाक्य से जाना है।।93।। क्या तुम्हारे यहाँ महाभारत आदि की कथाओं में ऐसे (मुझ जैसे) पुरुष नहीं हैं? ठीक है, *संसार में मनुष्य केवल दूसरों के ही दोष को देखा करता है, किन्तु वह अपने दोष को नहीं देखता है।।94।।* यदि मेरे इस सुवर्णमय सिंहासन पर बैठ जाने से तुम्हारे मन में खेद हुआ है तो मैं उसके ऊपर से उतर जाता हूँ - यह कहता हुआ वह अपरिमित गतिवाला बुद्धिमान मनोवेग विद्याधर उस पर से शीघ्र ही उतर पड़ा।।95।।

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।।3।।

मोहक्षय का उपाय

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदे मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।।86।।

जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले जीव के मोह का समूह नियम से क्षय हो जाता, अतः शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए। **- प्रवचनसार**

चौथा परिच्छेद

तत्पश्चात् मनोवेग को आसन से उतरा हुआ देखकर ब्राह्मणों में अग्रगण्य वह ब्राह्मण उससे बोला कि मैंने रत्नों से अलंकृत होकर घास और लकड़ियों के बेचनेवाले नहीं देखे हैं। स्वर्गीय अलंकारों से सुशोभित मनुष्य दूसरों की सेवा करते हुए अथवा तृण-काष्ठों को ढोते हुए कभी भी नहीं देखे जाते हैं।।1-2।। यह सुनकर मनोवेग बोला कि महाभारत आदि पुराणों में ऐसे हजारों मनुष्य सुने जाते हैं, परन्तु आप जैसे लोग उन्हें स्वीकार नहीं करते हैं।।3।।

इस पर वह ब्राह्मण विद्वान बोला कि यदि तुमने रामायण या महाभारत में ऐसे मनुष्य देखे हैं तो बतलाओ, हम उन्हें स्वीकार करेंगे। इस प्रकार उक्त ब्राह्मण के कहने पर मनोवेग बोला कि हे विप्र! मैं केवल बतला तो दूँ परन्तु कहते हुए मैं यहाँ डरता हूँ। कारण इसका यह है कि आप लोगों में कोई विचार करने वाला नहीं दिखता।।4-5।। जो दुष्ट मनुष्य विचार से रहित (अविवेकी) होते हैं, वे कही गयी सच बात को भी असत्य बुद्धि से ग्रहण करके मुष्टिषोडशक (सोलह मुक्केरूप) न्याय की रचना करते हैं।।6।। इस पर - हे अतिशय बुद्धिशालिन्! वह मुष्टिषोडशक न्याय किस प्रकार का है, यह हमें बतलाइए - इस प्रकार उन ब्राह्मणों के पूछने पर मनोवेग बोला कि मैं तुम्हें उसे बतलाता हूँ, सुनिए।।7।।

मुष्टिषोडशक न्याय की कथा

मलय नाम का जो एक देश है, उसमें दुःखों से रहित एक संगाल नाम का ग्राम है। वहाँ एक गृहपति (सदा अन्नादि का दान करनेवाला - सत्री) रहता था। उसके मधुकर नाम का एक पुत्र था।।8।। एक समय वह पिता के ऊपर रुष्ट होकर घर से निकला और पृथिवी पर घूमने लगा। ठीक है, क्रोध के वश होकर मनुष्य क्या नहीं करता है? अर्थात् *क्रोध के वश में होकर मनुष्य नहीं करने योग्य कार्य को भी किया करता है।।9।।* इस प्रकार घूमता हुआ वह आभीर देश में पहुँचा। वहाँ पर उसने अलग-अलग विभक्त किये हुए चनों की अनेक ऊँची-ऊँची राशियाँ देखीं।।10।। उनको देखकर उस मूर्ख ने आश्चर्य से चकित होकर कहा कि अरे! मैंने बहुत आश्चर्यजनक बात देखी है।।11।। यह सुनकर उनके अधिकारी ने उससे पूछा कि तुमने यहाँ कौन-सी आश्चर्यजनक बात देखी है? इस पर वह मूर्ख इस प्रकार बोला।

ठीक है, अज्ञानी पुरुष आनेवाली आपत्ति को नहीं जानता है।।12।।

वह बोला – इस देश में जैसी ऊँची चनों की राशियाँ हैं, मेरे देश में वैसी मिरचों की राशियाँ हैं।।13।। यह सुनकर अधिकारी ने अतिशय क्रोधित होकर उससे कहा कि क्या तुम वायु से ग्रस्त (पागल) हो जो इस प्रकार से असत्य बोलते हो।।14।। हे दुर्बुद्धे! हम लोगों ने किसी भी देश में व कभी भी चनों की राशियों के समान मिरचों की राशियाँ नहीं देखी हैं।।15।। इस देश में मिरचों के समान चना दुर्लभ है, मेरी गिनती कहीं पर भी मिरचों में भी नहीं है; ऐसा जान करके यह दुष्ट मूर्खता से हम लोगों की हँसी करता है। इसलिए इसको शीघ्र दण्ड दिया जाना चाहिए।।16-17।। इस प्रकार उस अधिकारी के कहने से किसानों ने उस मधुकर को बाँध लिया। ठीक ही है, *अविश्वसनीय वचन को बोलने वाला ऐसा कौन-सा मनुष्य है, जो बन्धन को न प्राप्त होता हो?।।18।।*

उस समय वहाँ कोई एक दयालु किसान बोला कि हे भद्र! इस बेचारे को इसके अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाये।।19।। इसके गोल शिर के ऊपर आठ वर्तुला (मुक्के) दी जावें, जिससे कि वह फिर किसी की हँसी न करे।।20।। उसके इस वचन को सुनकर उन किसानों ने उसे बन्धनमुक्त करते हुए मस्तक पर कठोर आठ वर्तुलाएँ दे दीं।।21।। इन लोगों ने जो मुझे इन आठ वर्तुलों के साथ छोड़ दिया है, यह मुझे बहुत बड़ा लाभ हुआ। कारण यह कि जो लोग दुष्टजनों के मध्य में रहते हैं, उनके तो जीवन के विषय में भी सन्देह रहता है, फिर भला मुझे तो केवल आठ मुक्के ही सहने पड़े हैं।।22।। यही विचार करके वह भयभीत होता हुआ अपने देश को वापस चला गया। ठीक ही है, *मूर्खजन कभी कष्ट सहने के बिना वापस नहीं होते हैं* [उस कार्य को नहीं छोड़ते]।।23।।

जब वह (मधुकर) अपने संगाल देश में वापस आ रहा था, तब उसने वहाँ चनों की राशियों के समान विभक्त की गयीं मिरचों की राशियों को देखा।।24।। तब उसने वहाँ पर भी वही बात (जैसी यहाँ मिरचों की राशियाँ हैं, वैसी आभीर देश में मैंने चनों की राशियाँ देखी हैं) कही और पूर्व का दण्ड (आठ मुक्के) भी प्राप्त किया। ठीक है, *मूर्ख मनुष्य कष्ट को पाकर भी चतुर नहीं होता।।25।।* इस प्रकार सत्य बोलने पर भी चूँकि मधुकर को सोलह मुक्कोंस्वरूप दण्ड सहना पड़ा, इसीलिए तब से 'मुष्टिषोडशक न्याय' प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।।26।।

पुरुष को साक्षी के बिना सत्य भाषण भी नहीं करना चाहिए, अन्यथा उसको असत्यभाषी के समान दूसरों के द्वारा पीड़ा सहनी पड़ती है।।27।। साक्षी के रहने पर लोग असत्य को भी सत्य मानते हैं, नहीं तो फिर धूर्त लोग सब जनों को धोखा कैसे दे सकते हैं? नहीं दे सकते।।28।। इसलिए *पुरुष को चाहे वह सत्य हो और चाहे असत्य हो, ऐसा वचन बोलना चाहिए जिस पर कि लोग विश्वास कर सकें,* क्योंकि नहीं तो फिर आगे होनेवाले महान कष्ट को कौन रोक सकता है? कोई भी नहीं रोक सकेगा।।29।। *पुरुष यदि सत्य बात भी कहता है तो भी मूर्खजन उसे नहीं मानते हैं। इसलिए विचारशील मनुष्य को अपने हित की इच्छा से मूर्खों के मध्य में सत्य बात भी नहीं कहनी चाहिए।।30।।*

लोक में जो बात अनुभव में आ चुकी है, सुनी गई है, देखी गई है या प्रसिद्ध हो चुकी है, उसी को मनुष्य स्वीकार करता है; इसके विपरीत वह अननुभूत, अश्रुत, अदृष्ट या अप्रसिद्ध बात को स्वीकार नहीं करता है। इसीलिए चतुर पुरुष को ऐसी (अननुभूत आदि) बात नहीं कहनी चाहिए।।31।। यहाँ विचारहीन मनुष्यों के बीच में बोलते हुए चूँकि मेरे सामने भी वही दोष उत्पन्न हो सकता है, इसीलिए मैं यहाँ स्पष्ट बात नहीं कहना चाहता हूँ।।32।। *पूर्वापर का विचार करनेवाला जो कोई मनुष्य दूसरे के कहे हुए वचन पर विचार करता है, उसके आगे ही चतुर पुरुष बोलता है, अन्य (अविचारक) के आगे वह नहीं बोलता।।33।।* इस प्रकार कहकर मनोवेग के चुप हो जाने पर ब्राह्मणों में प्रमुख वह विद्वान बोला कि – हे सज्जन! ऐसा मत कहो, क्योंकि इस देश में अविवेकी कोई नहीं है – सब ही विचारक हैं।।34।।

तुमने जो दोष आभीर देश के अविचारी जनों में देखा है, उसे इन विचारशील विद्वानों में मत समझो। कारण यह कि पशुओं का धर्म मनुष्यों में बिलकुल नहीं पाया जाता है।।35।। तुम हम लोगों को आभीर देशवासियों के समान अविचारक मत समझो, क्योंकि कौवों के समान कभी हंस नहीं हुआ करते हैं।।36।। हे भद्र! यहाँ पर सब ही ब्राह्मण नीति में अतिशय चतुर और योग्य-अयोग्य का विचार करनेवाले हैं। इसलिए तुम किसी प्रकार की शंका न करके अपनी अभीष्ट बात को कहो।।37।। हे भद्र! जो वचन युक्ति से संगत है तथा जिसे साधुजन योग्य मानते हैं, उसे तुम निःशंक होकर बोलो। हम लोग उसे विचारपूर्वक ग्रहण करेंगे।।38।। इसप्रकार उस ब्राह्मण के द्वारा कहे गये वचन को सुनकर जिनेन्द्र भगवान के

चरणरूप कमलों का भ्रमर (जिनेन्द्रभक्त) वह मनोवेग मधुर वाणी से इस प्रकार बोला।।39।।

रक्त, द्विष्ट, मनोमूढ, व्युद्ग्राही, पित्तदूषित, चूत [आम्र], क्षीर, अगुरु, चन्दन और बालिश – ये दस मूर्ख जानने चाहिए।।40।। ये मूर्ख पशुओं के समान पूर्वापर-विचार से रहित होते हैं। वे यदि आप लोगों के बीच में हैं तो मैं कुछ कहने के लिए डरता हूँ।।41।। मनुष्यों और पशुओं में केवल यही भेद है कि प्रथम अर्थात् मनुष्य तो सब कुछ विचार करते हैं, किन्तु दूसरे (पशु) कुछ भी विचार नहीं करते हैं।।42।। *जो भव्य मनुष्य पूर्वापर विचार के ज्ञाता, राग-द्वेष से रहित, धर्म के अभिलाषी तथा पक्षपात से रहित होते हैं, वे ही सभ्य सदस्य (सभा में बैठने के योग्य) कहे गये हैं।।43।।*

यदि मूर्खों के विषय में सुखदायक सुन्दर वचन का भी प्रयोग किया जाता है तो भी वह इस प्रकार से महान पीड़ा को देता है, जिस प्रकार कि सर्पों को पिलाया गया दूध महान पीड़ा को देता है।।44।। कदाचित् पर्वत के ऊपर कमल उत्पन्न हो जावे, जल में आग उत्पन्न हो जावे और या कालकूट विष में अमृत उत्पन्न हो जावे, परन्तु कभी मूर्ख पुरुष में विचार नहीं उत्पन्न हो सकता है।।45।। हे सत्पुरुष! वे रक्तादि दस प्रकार के मूर्ख कैसे होते हैं, इस प्रकार उन ब्राह्मणों के पूछने पर उस मनोवेग विद्याधर ने उक्त रक्त व द्विष्ट आदि मूर्ख पुरुषों की चेष्टा (स्वरूप) को कहना प्रारम्भ किया।।46।।

1. रक्त मूर्ख बहुधान्यक की कथा

रेवा नदी के दक्षिण किनारे पर एक सामन्त नगर है। उसका स्वामी एक बहुधान्यक नाम का ग्रामकूट (शूद्र) था, जो बहुत धन और धान्य से सम्पन्न था।।47।। जिस प्रकार महादेव के गंगा और पार्वती ये दो मनोहर पत्नियाँ हैं, उसी प्रकार उसके सुन्दरी और कुरंगी नाम की दो रमणीय स्त्रियाँ थीं।।48।। इनमें कुरंगी युवती और सुन्दरी वृद्धा थी। तब उसने युवती कुरंगी को स्वीकार कर सुन्दरी का परित्याग कर दिया। ठीक है, सरस स्त्री के प्राप्त होने पर भला नीरस स्त्री का सेवन कौन करता है? कोई नहीं करता।।49।। उसने सुन्दरी से कहा कि हे भद्रे! तू अपना हिस्सा लेकर पुत्र के साथ अलग से दूसरे मकान में रह।।50।। तब उत्तम स्वभाव वाली वह सुन्दरी भी जैसा कि पति ने कहा था, तदनुसार अलग मकान में रहने लगी। ठीक है, शीलवती स्त्रियाँ कभी अपने पति की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करतीं

हैं।।51।। उस समय ग्रामकूट ने उसे आठ बैल, दस गायें, दो दासियाँ, दो हलवाहे (हल चलाने वाले) और एक उपकरणयुक्त घर दिया।।52।।

उधर कुरंगी में आसक्त होकर इच्छानुसार भोग को भोगते हुए उसका बहुत-सा समय इस प्रकार बीत गया जिस प्रकार कि शराब के नशे में चूर होकर शराबी का बहुत समय बीत जाता है और उसे भान नहीं होता है।।53।। वह ग्रामकूट सुन्दर आकृति को धारण करने वाली और नवीन यौवन (जवानी) से विभूषित उस प्यारी पत्नी को पाकर इन्द्राणी से आलिंगित इन्द्र को भी अपने से अधिक नहीं मानता था, उसे भी अपने से तुच्छ समझने लगा था।।54।। पुरुष के वृद्ध हो जाने पर उसमें अनुरक्त स्त्री सुशोभित नहीं होती है। ठीक है, पुराने कम्बल में स्थित रेशमी वस्त्र क्या कभी शोभायमान होता है? नहीं होता है।।55।।

जो जरारूप स्त्री का तिरस्कार करके युवती स्त्री का सेवन करता है, वह शीघ्र ही विपत्ति से पीड़ित किया जाता है। उसे वह युवती निरन्तर कष्ट दिया करती है।।56।। *युवती स्त्री को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु वृद्ध पुरुष के दुःख को बढ़ाने वाली नहीं है* – उसे सबसे अधिक दुःख देने वाली वह युवती स्त्री ही है। ठीक है, अग्नि की ज्वाला को छोड़कर और दूसरा सन्ताप का कारण कौन हो सकता है, कोई नहीं।।57।। वृद्ध पुरुषों के जीवन की स्थिति का अन्त – उनकी मृत्यु – उक्त युवती स्त्रियों के ही संयोग से होता है। ठीक है, वज्राग्नि की शिखा का संयोग होने पर भला सूखे वृक्ष की स्थित कहाँ से रह सकती है? नहीं रह सकती है।।58।।

बहुधान्यक के अनुरागरूप सूर्य के द्वारा विकास को प्राप्त हुए उस कुरंगी के मुखरूप कमल का अवलोकन करते हुए राजा के कटक का अवस्थान हुआ।।59।। तब उस देश के राजा ने बहुधान्यक को बुलाकर उससे कहा कि तुम कटक में जाओ और समुचित सामग्री को तैयार करो।।60।। उस समय वह राजा को नमस्कार करके यह निवेदन करता हुआ कि 'मैं ऐसा ही करता हूँ', घर आ गया। वहाँ वह एकान्त में स्थित प्रिया का गाढ़ आलिंगन करके उससे बोला कि हे कुरंगी! तू घर में रहना, मैं कटक में जाता हूँ, क्योंकि *जो सुख की इच्छा करते हैं उन्हें कभी अपने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।।61-62।।* हे सुन्दरी! मेरे स्वामी का कटक सम्पन्न है, मुझे वहाँ अवश्य जाना चाहिए, नहीं तो राजा क्रोधित होगा।।63।।

बहुधान्यक के इन वचनों को सुनकर वह कृश शरीर वाली कुरंगी खिन्न होकर बोली कि हे स्वामिन्! तुम्हारे साथ मुझे भी निश्चय से चलना चाहिए।।64।। हे नाथ! कारण इसका यह है कि जलती हुई अग्नि को तो सुख से सहा जा सकता है, किन्तु समस्त शरीर को सन्तप्त करने वाला तुम्हारा वियोग नहीं सहा जा सकता है।।65।। हे स्वामिन्! तुम्हारे देखते हुए अग्नि में प्रविष्ट होकर मर जाना अच्छा है, किन्तु तुम्हारे बिना वियोगरूप शत्रु के द्वारा शीघ्र मारा जाना अच्छा नहीं है।।66।। यहाँ अकेले रहने पर मुझे कामदेव इस तरह से मार डालेगा जिस प्रकार कि जंगल में रक्षक से रहित हिरणी को सिंह मार डालता है।।67।। फिर भी यदि तुम (मुझे अकेली छोड़कर) जाते हो तो जाओ, तुम्हारा मार्ग कल्याण कारक हो। इधर यमराज के घर को जाने वाले मेरे जीवन का भी मार्ग कल्याणकारक हो – तुम्हारे बिना मेरी मृत्यु निश्चित है।।68।।

कुरंगी के इन वचनों को सुनकर वह बहुधान्यक बोला कि हे मृग जैसे नेत्रों वाली! तू इस प्रकार मत बोल, तू स्थिर होकर घर पर रह और मेरे साथ जाने की इच्छा न कर।।69।। कारण यह है कि राजा परस्त्री का लोलुपी है, वह तुझे देखकर ग्रहण कर लेगा। इसीलिए मैं तुझे घर पर रखकर जाता हूँ।।70।। राजा तुम जैसी विलासयुक्त स्त्री को देखकर ग्रहण कर लेता है। ठीक है, अनुपम आकृति को धारण करनेवाले स्त्रीरूप रत्न को भला कौन छोड़ता है? कोई नहीं छोड़ता।।71।। इस प्रकार वह ग्रामकूट अपनी प्रिया (कुरंगी) को समझाकर और वहीं पर छोड़कर धन से परिपूर्ण घर को उसे समर्पित करते हुए कटक को चला गया।।72।।

यह रागी प्राणी का स्वभाव होता है कि वह अभीष्ट को प्राप्त करके किसी का भी विश्वास नहीं करता है तथा उसके वियोग में मरने की अभिलाषा करता है।।73।। कुत्ता कुत्ती को पाकर-के उसे संसार में सबसे श्रेष्ठ मानता है। वह बेचारा उसके ग्रहण से भयभीत होकर इन्द्र को भी गुर्राता है।।74।। बेचारा नीच कुत्ता कीड़ों के समूह के मैले से मलिन मृत शरीर (शव) को पाकर अमृत को भी दूषित स्वाद वाला मानता है।।75।। *जो प्राणी जिस के विषय में अनुरक्त होता है वह उसकी पूरी रक्षा करता है।* ठीक है, कौआ क्या विष्टा का संग्रह करके उसकी सबसे रक्षा नहीं करता है? करता है।।76।। अनुरागी मनुष्य मूढ बुद्धि होकर कुरूप को भी सुन्दर मानता है। ठीक है, कुत्ता गाय की हड्डी को रसायन मानकर खाया (चबाया) करता है।।77।।

पति के चले जाने पर वह कुरंगी काम की आज्ञा का पालन करती हुई शरीरधारी दुर्नयों (अन्यायों) के समान व्यभिचारी जनों के साथ निर्भय होकर रमण करने लगी।।78।। काम की इच्छा को पूर्ण करने वाली वह कुरंगी उन जार पुरुषों के लिए अनेक प्रकार के भोजनों, धनों और वस्त्रों को भी देने लगी।।79।। जो स्त्री चिरकाल से रक्षित अपने शरीर को अलंकृत करके जार पुरुषों के लिए दे सकती है उस अनुरागिणी को भला धन देने में कौन-सा परिश्रम होता है? कुछ भी नहीं।।80।। इस प्रकार से अनुरक्त होकर कुरंगी ने नौ-दस दिन में ही उन जार पुरुषों के समूह को समस्त धन की राशि को देकर खा डाला और घर में कुछ भी नहीं छोड़ा।।81।।

उस मूर्खा ने काम से सन्तप्त होकर अपने घर को वस्त्र-बर्तन और धन-धान्य से रहित कर दिया - उन जार पुरुषों के लिए सब कुछ दे डाला। अब वह घर केवल चूहों के घूमने-फिरने का स्थान बन रहा था।।82।। वह कुरंगी काम से पीड़ित होती हुई निर्भय होकर जार पुरुषों के साथ सब ओर घूमने-फिरने लगी और जहाँ-तहाँ पशुओं जैसा आचरण इस प्रकार से करने लगी जिस प्रकार कि उत्तम गाय काम से पीड़ित अनेक बैलों के साथ किया करती है।।83।।

तत्पश्चात् जब जार समूह को उसके पति के आने का समाचार ज्ञात हुआ तब भयभीत होते हुए उन सबने उसके समस्त धन को लूटकर उसे इसप्रकार से छोड़ दिया जिस प्रकार कि भयभीत चोर फलों को लूटकर मार्ग की बेरी को छोड़ देते हैं।।84।। तब कुरंगी ने पति के आने के समय को जानकर अपना ऐसा वेष बना लिया जैसा कि वह उत्तम पतिव्रता जनों का हुआ करता है। फिर वह लज्जा करती हुई भवन के भीतर स्थित हो गयी। ठीक है, धोखा देना, यह स्त्रियों के स्वभाव से ही होता है।।85।। वह उत्तम वेष को धारण करके इस प्रकार से स्थित हो गयी कि जिससे कोई यह न समझ सके कि यह दुराचारिणी है। ठीक है, जो स्त्री इन्द्र को भी मुग्ध कर लेती है उसकी भला मनुष्यों में क्या गिनती है? वह मनुष्यों को तो सरलता से ही मुग्ध कर लेती है।।86।।

उधर अपने स्वामी के कार्य को सिद्ध करके वह बहुधान्यक वापस आ गया। वह उस समय गाँव के बाहर वृक्षसमूह के मध्य में ठहर गया। आने की सूचना देने के लिए उसने एक पुरुष को अपनी प्रियतमा (कुरंगी) के पास भेज दिया।।87।। वह आकर नमस्कार करता हुआ बोला कि हे कुरंगी! तेरा प्रियतम आ गया है। तू शीघ्र ही अनेक प्रकार का उत्तम भोजन बना।

इस वार्ता को कहने के लिए उसने मुझे तेरे पास भेजा है।।88।। उसके वाक्य से पति के आने का निश्चय करके वह चतुर कुरंगी कुटिलता पूर्वक उस पुरुष से बोली कि तुम ज्येष्ठ पत्नी से जाकर कहो। कारण यह कि सज्जन पुरुष क्रम के उल्लंघन की निन्दा किया करते हैं।।89।। इस प्रकार कहकर वह उसके साथ आयी और बोली कि हे पूज्य सुन्दरी! तुम्हारा पति वापस आ गया है। तुम उसके लिए बहुत रसों से संयुक्त भोजन बनाओ, वह तुम्हारे घर पर भोजन करेगा।।90।।

यह सुनकर सुन्दरी उस कुरंगी से बोली कि हे मधुर भाषण करने वाली कुरंगी! मैं उज्ज्वल वर्ण वाले यौवन के समान भोजन को बनाती तो हूँ, किन्तु यह तेरा पति यहाँ भोजन करेगा नहीं।।91।। यह सुनकर कुरंगी ने कुछ हँसकर फिर से कहा कि हे पूज्ये! यदि वह सचमुच में मुझे प्यारी मानता है तो मेरे कहने से वह तुम्हारे घर पर भोजन करेगा। तुम भोजन को बनाओ।।92।। तब सुन्दरी ने उसके इस वाक्य को सुनकर अनेक प्रकार का उत्तम भोजन बनाया। ठीक है, *सज्जन मनुष्य समस्त जन समूह को अपने समान ही सरल समझते हैं।।93।।*

इस प्रकार से उस कुरंगी ने अपने दोष को गुप्त रखकर छलपूर्वक अपने उस धनहीन घर को प्रकट नहीं होने दिया। ठीक है, माया व्यवहार में निरत स्त्रियाँ अपने सब दोषों को आच्छादित किया करती हैं।।94।। इस प्रकार भयंकर दोषों से परिपूर्ण उस अधम कुरंगी ने धर्म के मार्ग को छोड़कर पति को धोखे में रखा। ठीक है, *पापी जीव कभी अपरिमित गतियों में घूमने के दुःख को नहीं जानते हैं।।95।।*

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में चौथा परिच्छेद समाप्त हुआ।।4।।

जगत की चिन्ता रे! अज्ञान,
सौख्य है केवल निज अवबोध।
उदित रे! विश्व-क्षितिज पर नित्य,
दे रहा आर्हत्-वच आलोक।।

पाँचवाँ परिच्छेद

तत्पश्चात् वह बहुधान्यक ग्रामकूट हृदय में काम की व्यथा से पीड़ित होकर उत्सुकता पूर्वक आया और सहर्ष वेग से कुरंगी के घर पर जा पहुँचा।।1।। वह मूर्ख मेघों से रहित आकाश एवं पुरवासी जनों से रहित उत्तम नगर के समान धन-धान्यादि से रहित कुरंगी के उस घर को देखता हुआ भी चूँकि मन में उसके मुखरूप कमल के देखने में अतिशय व्याकुल था, अतएव उसे वह घर चक्रवर्ती के घर से भी अधिक सम्पन्न दिखा।।2-3।। वह यह समझता था कि मुझको जो अभीष्ट है उसे यह मेरी प्रियतमा करती है। तथा यह मेरे लिए जो कुछ भी करती नहीं है, वह सब उसके लिए प्रिय नहीं है।।4।। *जिनके नेत्र राग से अन्धे हो रहे हैं, वे मनुष्य यदि किसी दूसरे को नहीं देखते हैं तो यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि वे तो अपने आपको भी नहीं देखते हैं - अपने हिताहित को भी नहीं जानते हैं।।5।।*

रक्त (रागान्ध) मनुष्य धर्म, अनुष्ठेय कार्य, सुख, गुण, हेय व उपादेय वस्तु, यश तथा धन और घर के विनाश को भी नहीं जानता है।।6।। रागी मनुष्य पराधीन सुख को तो स्वीकार करता है और आत्माधीन (स्वाधीन) निराकुल सुख को छोड़ता है। वह धर्म कार्य से विमुख होकर पाप कार्यों में आनन्द मानता है।।7।। राग के आधीन हुआ मनुष्य शीघ्र ही महाविपत्ति को प्राप्त करता है। ठीक है, मछली मांस से लिप्त काँटे में अपने गले को फँसाकर क्या मृत्यु को प्राप्त नहीं होती है? होती ही है।।8।। जिस प्रकार व्याध तीक्ष्ण बाणों के द्वारा हिरण को विद्ध करता है, उसी प्रकार कामदेव योग्य-अयोग्य के परिज्ञान से रहित रक्तपुरुष को अपने दुर्निवार बाणों के द्वारा विद्ध करता है - विषयासक्त करता है।।9।।

रक्तपुरुष के विषय में सज्जन खेद का अनुभव करते हैं - उसे कुमार्ग पर जाता हुआ देखकर उन्हें पश्चात्ताप होता है, किन्तु दुर्जन मनुष्य उसकी हँसी किया करते हैं। उसका सब लोग तिरस्कार करते हैं। तथा ऐसी कौन-सी आपत्ति है जिसे वह न प्राप्त करता है - उसे अनेकों प्रकार की आपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं।।10।। यह जानकर *बुद्धिमान् मनुष्य को निरन्तर उस रागरूप दूषण का परित्याग करना चाहिए।* ठीक है, जो सर्प को विष का स्थान (विषैला) जानता है वह विवेकी मनुष्य क्या उस सर्प का परित्याग नहीं करता है।।11।।

वह बहुधान्यक क्रीड़ापूर्वक जाकर कुरंगी के भवन के द्वार पर स्थित हो गया। फिर वह चौके (रसोईघर) में जाकर कान्तिमान् प्रिया के मुखरूप कमल को देखता हुआ क्षण भर के लिए वहाँ स्थित हो गया और मन को प्रिय लगने वाली पत्नी से बोला कि हे कुरंगी! मुझे जल्दी भोजन दे, देर क्यों करती है?।।12-13।। इस पर मन में कुटिल अभिप्राय को रखने वाली वह पुरुषों की घातक कुरंगी यमराज की धनुर्लता (धनुषरूप बेल) के समान भृकुटी को भयानक करके पति से बोली कि हे दुर्बुद्धि! अपनी उस माँ के घर पर जा करके भोजन कर जिसके पास स्थिति का पालन करने वाले तूने पहले आने का समाचार भेजा है।।14-15।। इस प्रकार वह सुन्दरी से स्वयं ही उसके आने की बात कह करके पति के ऊपर क्रोधित हुई। ठीक है, पति के अपने अधीन हो जाने पर स्त्रियाँ कौन-कौन से दोष का आयोजन नहीं करती हैं? अर्थात् वे पति को वश में करके उसके ऊपर अनेक दोषों का आरोपण किया करती हैं।।16।।

दुष्ट कामुकी स्त्री स्वयं ही अपराध करके अपने दोष को दूर करने के लिए स्वभाव से पहले ही पति के ऊपर क्रोध किया करती है।।17।। अन्तरंग में दुष्ट अभिप्राय रखने वाली स्त्रियाँ इस प्रकार से विचार करके बोलती हैं कि जिससे जानकार पुरुषों का भी चित्त भ्रान्ति को प्राप्त होकर हरा जाता है।।18।। स्त्री क्रोध के अवसर पर मान करना जानती है। मान के समय (दूसरों का) अपमान करना जानती है। और जब स्वयं स्त्री का अपमान दूसरों से होता है, तब वह अच्छी तरह से स्तब्ध रह सकती है कि जो स्तब्धता अन्य कोई नहीं पाल सकेगा।।19।।

स्त्री नीच रक्तपुरुष को जैसे-जैसे रोकती है वैसे-वैसे वह मेंढक की तरह उसके सम्मुख जाता है।।20।। विचित्र आश्चर्य को करने वाली स्त्री रक्तपुरुष को कषाय सहित करती है और तत्पश्चात् कषाय सहित पुरुषों के मन को शीघ्र ही अनुरंजायमान करती है।।21।। जिस प्रकार लुहार महाताप की योजना करके - अग्नि में अतिशय तपाकर - लोहे को तोड़ता है और उसे जोड़ता भी है उसी प्रकार स्त्री प्रेम के नष्ट करने में समर्थ होकर उसे फिर से जोड़ भी लेती है।।22।।

जिस प्रकार चूहा बिल्ली से भयभीत होकर अपने सब अंगोपांगों को संकुचित करता हुआ स्थित होता है उसी प्रकार वह बहुधान्यक कुरंगी के इन वचनों को सुनकर अपने समस्त

शरीर के अवयवों को संकुचित करता हुआ चुपचाप स्थित रहा।।23।। मनुष्य वज्र एवं अग्नि की ज्वालाओं को सुखपूर्वक सह सकता है, किन्तु स्त्री की भृकुटियों से भयंकर कुटिल दृष्टि को नहीं सह सकता है।।24।। बुलायी गयी दुष्ट स्त्री महाविषैली सर्पिणी के समान क्रोधित होकर दोनों भुजाओं को संकुचित करती हुई पुरुषों को फुंकार मारती है।।25।। पाप के उदय से उत्पन्न हुई इस प्रकार की दुष्ट स्वभाव वाली महिलाएँ असाध्य रोग के समान पुरुषों को निरन्तर कष्ट दिया करती हैं।।26।।

हे पिताजी! आओ भोजन करो, इस प्रकार पुत्र के द्वारा आकर आदरपूर्वक बुलाये जाने पर भी वह बहुधान्यक चुपचाप इस प्रकार बैठा रहा जैसे मानो वह चित्रलिखित ही हो।।27।। अरे पाखण्डी! तूने यह क्या ढोंग प्रारम्भ किया है? जा, अपनी प्रिया के घर पर खा। इस प्रकार कुरंगी के कहने पर वह भयभीत होकर सुन्दरी के घर गया।।28।। वहाँ अतिशय स्नेह करने वाली उस सुन्दरी ने उसे अपने निर्मल अन्त:करण के समान विशाल एवं कोमल उत्तम आसन दिया।।29।। पश्चात् उसने उसके सामने थाली आदि अनेक प्रकार के बर्तनों को रखकर सुन्दर यौवन के समान उत्तम भोजन परोसा।।30।। सुन्दरी के द्वारा दिया गया भोजन उसको इस प्रकार से रुचिकर नहीं हुआ जिस प्रकार कि *विशुद्ध जिनागम के द्वारा दिया जाने वाला चारित्र अभव्य जीव के लिए रुचिकर नहीं होता है।।31।।* यह सुन्दरी मेरा सब अनिष्ट करती है। और जो सब यह कुरंगी करती है वह मेरे लिए वैसा अनिष्ट नहीं है।।32।। *मोह से प्रेरित जो जीव जिसके विषय में विरक्त होता है वह कितना ही भला क्यों न हो, उसे किसी प्रकार से भी नहीं रुचता है।।33।।*

उसे जिस प्रकार वह सुन्दरी स्त्री प्रिय नहीं थी उसी प्रकार उसके द्वारा दिया गया पौष्टिक, बहुत घी-तेल से संयुक्त और सुवर्णमय थाली आदि (अथवा पीत आदि उत्तम वर्ण) से सुशोभित वह उत्तम भोजन प्रिय नहीं लगा। वह भद्र सुन्दरी स्त्री वस्तुत: पुष्टिकारक, अतिशय प्रेम करने वाली और उत्तम रूप से शोभायमान थी।।34।। काम से अन्धा हुआ वह बहुधान्यक अज्ञानता के कारण सामने पात्र में परोसे हुए उत्तम भोजन को शीघ्रता से देखता हुआ इस प्रकार विचार करने लगा - चन्द्र के समान आह्लादित करने वाली वह सुन्दर स्तनों से संयुक्त कुरंगी मेरे ऊपर क्यों क्रोधित हो गयी है जो मेरी ओर निगाह भी नहीं करती है। निश्चय से इसने मुझे वेश्या के साथ सोया हुआ जानकर मेरे ऊपर क्रोध किया है। ठीक है, मैं समझता हूँ कि संसार में वह कोई वस्तु नहीं है कि जिसे चतुर स्त्री नहीं जानती हो।।35-37।।

इस प्रकार ऊपर मुख करके स्थित - चिन्ता में निमग्न होकर आकाश की ओर देखने वाले उससे परिवार के लोगों ने कहा कि क्या तुम्हें यहाँ भोजन अच्छा नहीं लगता है? जीमो, सब कुछ मनोहर है।।38।। यह सुनकर वह बोला कि क्या जीमूँ, जीमने के योग्य कुछ भी नहीं है। तुम मेरे लिए कुछ भोजन कुरंगी के घर से लाओ।।39।। उसके इस कथन को सुनकर सुन्दरी कुरंगी के घर जाकर उससे बोली कि हे कुरंगी! तुम पति के लिए रुचिकर कुछ भोजन दो।।40।। इस पर कुरंगी बोली कि तुम्हारे घर पर उसके भोजन को जानकर मैंने आज कुछ भी भोजन नहीं बनाया है।।41।। यदि वह मेरा पति मेरे द्वारा दिये गये गोबर को खा लेगा तो मेरे विषय में बुद्धि के आसक्त रहने से वह मेरे सब दोष को सह लेगा, ऐसा सोचकर वह एक-एक गेहूँ के कण से वृद्धिंगत, निन्दनीय, बहुत पतले एवं कुछ गरम ताजे गोबर को लायी और बोली कि लो इस कढ़ी को ले जाकर स्वामी के लिए दे दो, यह कहते हुए उसने उसे एक बर्तन में रखकर सुन्दरी को दे दिया।।42-44।।

सुन्दरी ने उसे लाकर पति के लिए दे दिया। तब वह बहुधान्यक सुन्दर भोजन को छोड़कर बार-बार प्रशंसा करता हुआ उसको इस प्रकार खाने लगा जिस प्रकार की शूकर अपवित्र विष्टा को खाता है।।45।। उस विषयानुरागी ग्रामकूट ने यदि गोबर को खा लिया तो इसमें कौन-सा आश्चर्य है? कारण कि विषयी मनुष्य तो अपनी स्त्री के योनिद्वार में स्थित घृणित पदार्थों को भी खाया करता है।।46।। ठीक है, *विरक्त मनुष्य के लिए प्रशंसनीय वस्तु भी निन्दनीय प्रतीत होती है, किन्तु इसके विपरीत रागी मनुष्य के लिए स्पष्टतया घृणित भी सब कुछ उत्तम प्रतीत होता है।।47।।* लोक में वह कुछ भी नहीं है जिसे कि स्त्री के वशीभूत हुए मनुष्य न करते हों। जब वे घृणित गोबर को भी खा जाते हैं तब पवित्र वस्तु का क्या कहना है? उसे तो खाते ही हैं।।48।।

वह बहुधान्यक एक मात्र उस गोबर को खाकर ब्राह्मण से अपनी प्रियतमा (कुरंगी) के क्रोध के कारण को पूछने के लिए उद्यत होता हुआ सभा भवन में बैठ गया।।49।। उसने ब्राह्मण से पूछा कि हे भद्र! क्या तुम कुछ कह सकते हो कि मेरी प्रिया कुरंगी मेरे ऊपर क्यों रुष्ट हो गयी है? अथवा यदि मेरा ही कुछ दुर्व्यवहार हुआ हो तो निश्चय से वह मुझे बतलाओ।।50।। इस पर ब्राह्मण बोला कि हे भद्र! तुम अपनी प्रिया की स्थिति को अभी रहने दो। मैं पहले सामान्य से स्त्रियों की प्रवृत्ति के विषय में कुछ निवेदन करता हूँ, उसे सुनो।।51।।

लोक में वह कोई दोष नहीं है जो कि स्त्रियों में विद्यमान न हो। ठीक है, वह कहाँ का अन्धकार है जो रात्रि में नहीं होता है। अर्थात् जिस प्रकार रात्रि में स्वभाव से अन्धकार हुआ करता है उसी प्रकार स्त्रियों में दोष भी स्वभाव से रहा करते हैं।।52।। कदाचित् समुद्र के जल का परिमाण किया जा सकता है, किन्तु समस्त दोषों की विशाल खानिभूत स्त्री के दोषों का परिमाण नहीं किया जा सकता है।।53।। जिस प्रकार उत्तम छेद (बाँबी) में स्थित रहने वाली, दो जीभों से संयुक्त और अतिशय क्रोधी सर्पिणियों का क्रोध कभी शान्त नहीं होता है, उसी प्रकार दूसरे के छेद (दोष) के देखने में तत्पर रहने वाली, चुगलखोर (दूसरों की निन्दक) और अतिशय क्रोधी स्त्रियों का क्रोध भी कभी शान्त नहीं होता है।।54।।

जिस प्रकार अतिशय वृद्धिंगत वेदना (व्याधिजन्य पीड़ा) का निरन्तर उपचार (इलाज) करने पर भी वह प्राणों का अपहरण ही करती है उसी प्रकार अतिशय पुष्टि को प्राप्त हुई स्त्री निरन्तर उपचार (सेवा-शुश्रूषा) के करने पर भी पुरुष के प्राणों का अपहरण ही करती है।।55।। स्त्री की रचना करने वाले ब्रह्मदेव ने मानो उसे एक दूसरे को न देखकर इधर-उधर घूमनेवाले दोषों की सभा - उनका निवासस्थान - ही कर दिया है।।56।। जिस प्रकार नदी जल का भण्डार होती है उसी प्रकार स्त्री अनर्थों का भण्डार है। तथा जिस प्रकार सर्पिणी विषों का स्थान होती है उसी प्रकार स्त्री असदाचारों का स्थान है।।57।।

जिस प्रकार बेलों की उत्पत्ति का कारण पृथिवी है उसी प्रकार अपयशों (बदनामी) की उत्पत्ति का कारण स्त्री है तथा जिस प्रकार रात्रि अन्धकार की खान है उसी प्रकार स्त्री अनीति की खान है।।58।। स्त्री चोर के समान स्वार्थ को सिद्ध करने वाली, अग्नि की ज्वाला के समान सन्तापजनक, छाया के समान ग्रहण करने के लिए अशक्य, तथा सन्ध्या के समान क्षण भर के लिए अनुराग करने वाली है।।59।।

जिस प्रकार पापकर्म के उदय से उत्पन्न हुई नीच कुत्ती छूने के अयोग्य, स्वामी की खुशामद करने वाली और घृणित जूठन के खाने में तत्पर होती है, उसी प्रकार पापकर्म से होने वाली नीचस्त्री भी स्पर्श के अयोग्य, स्वार्थसिद्धि के लिए खुशामद करने वाली और नीचपुरुषों के द्वारा निक्षिप्त वीर्य आदि की ग्राहक है।।60।। वह दुर्लभ वस्तु (पुरुषादि) में तो अनुराग करती है और अपने अधीन (सुलभ) वस्तु को शीघ्र ही छोड़ देती है। तथा वह भयानक साहस करती है, जिसके लिए न तो वह भयभीत होती है और न लज्जित भी।।61।।

स्त्री बिजली के समान अस्थिर, व्याघ्री के समान मांस की अभिलाषा करने वाली, मछली के समान चंचल और दुष्ट नीति के समान दुःखदायक है।।62।।

हे ग्रामकूट! बहुत कहने से क्या लाभ है? वह कुरंगी तुम्हारे घर में साक्षात् शत्रु के समान अवस्थित है।।63।। हे भद्र! उस पापिष्ठा कुरंगी ने दुर्लभ चारित्र के समान तुम्हारा सब धन भी जार पुरुषों को देकर नष्ट कर डाला है।।64।। जो कुरंगी मन में किसी प्रकार का भय न करके तुम्हारे धन का अपहरण कर सकती है वह दुष्टा यदि तुम्हारे प्राणों का अपहरण करती है तो उसे कौन रोक सकता है?।।65।। स्त्री यदि नियन्त्रण से रहित (स्वतन्त्र) हो तो वह जूती के समान कुमार्ग में प्रवृत्त होकर निश्चयत: शीघ्र ही पुरुषों को मार्ग से भ्रष्ट कर देती है।।66।।

जो मूर्ख भूख से पीड़ित शरीर से सहित और मन में क्रूरता को धारण करने वाली स्त्रियों का विश्वास करता है वह भूख से व्याकुल क्रूर सर्पिणियों का विश्वास करता है – ऐसा समझना चाहिए।।67।। सर्पिणी, चोरस्त्री, श्वापदी (हिंस्र स्त्री-पशुविशेष), राक्षसी और शाकिनी के समान घर के भीतर निवास करने वाली दुष्ट स्त्री मरण को देती है – प्राणों का अपहरण करती है।।68।। इस प्रकार हितकारक भाषण करने वाले उस भद्र ब्राह्मण के कथन को सुनकर उस दुर्बुद्धि ग्रामकूट ने जाकर उस सब की सूचना कुरंगी को कर दी।।69।।

उसे सुनकर वह दुराचारिणी बोली कि हे स्वामिन्! वह मेरे शील को नष्ट करने के लिए उद्यत हुआ, परन्तु मैंने उसकी इच्छा पूर्ण नहीं की। इसीलिए वह मेरे दोष को ग्रहण करता है – मेरी निन्दा करता है।।70।। जिस प्रकार समुद्र मगर-मत्स्य आदि हिंसक जल जन्तुओं का स्थान है उसी प्रकार यह दुष्ट ब्राह्मण समस्त अन्यायों का घर है। हे स्वामिन्! उसे शीघ्र निकाल दीजिए।।71।। कुरंगी के उस वाक्य से उस हितैषी ब्राह्मण का भी निराकरण किया गया – उसके कहे अनुसार उक्त ब्राह्मण को भी निकाल दिया गया। ठीक है, स्त्रियों के वचन पर विश्वास करने वाला रक्तपुरुष क्या नहीं करता है? अर्थात् वह उनके ऊपर भरोसा रखकर अनेक अयोग्य कार्यों को किया करता है।।72।।

विवेक से रहित चुगलखोर मनुष्यों को दिया गया सदुपदेश भी इस प्रकार महान् भय को देता है जिस प्रकार कि दो जिह्वा वाले सर्पों के लिए कराया गया दुग्धपान महान् भय को देता है।।73।। दूसरों के द्वारा किये गये हितकारक भी भाषण में विषयानुराग से अन्ध हुए अविवेकी जन उक्त बहुधान्यक ग्रामकूट के समान स्पष्टतया दोष दिया करते हैं।।74।। ग्रामकूट

के हित की अभिलाषा से उस हितैषी भट्ट ने दुश्चरित्र कुरंगी के वृत्तान्त को उससे कहा था। उसे जो ग्रामकूट उसी कुरंगी से कह देता है, वह भला अन्य क्या नहीं कर सकता है।।75।।

इस प्रकार हे ब्राह्मणो! मैंने दुष्ट आचरण करने वाले रक्त पुरुष की सूचना की है – उसकी कथा कही है। अब मैं इस समय द्विष्ट पुरुष की विधिपूर्वक सूचना करता हूँ, उसे आप लोग सुनें।।76।।

2. द्विष्ट मूर्ख वक्र की कथा

कोई दो ग्रामकूट कोटीनगर में निवास करते थे। उनमें पहले का नाम स्कन्द तथा दूसरे का नाम वक्र था। दूसरा वक्र ग्रामकूट अपने नाम के अनुसार मन से कुटिल था।।77।। वे दोनों एक ही गाँव का उपभोग करते थे – उससे होने वाली आय (आमदनी) पर अपनी आजीविका चलाते थे। इसीलिए उन दोनों के बीच में वैमनस्य हो गया था। ठीक है, *एक [समान] वस्तु की अभिलाषा उत्कृष्ट बैर का कारण हुआ ही करती है।।78।।* जिस प्रकार क्रम से प्रकाश और अन्धकार की अभिलाषा करने वाले कौवा और उल्लू के बीच में स्वभाव से महान् बैर (शत्रुता) रहा करता है उसी प्रकार उन दोनों में भी परस्पर महान् बैर हो गया था जिसका निवारण करना अशक्य था।।79।। वक्र निरन्तर ग्रामवासी जनों को पीड़ा दिया करता था। ठीक है, *जिसकी बुद्धि सदा दोषों पर ही निहित रहती है वह भला किसके लिए सुख का कारण हो सकता है?* नहीं हो सकता।।80।।

किसी समय वह वक्र प्राणों का अपहरण करने वाले यमराज के समान किसी व्याधि को प्राप्त हुआ – उसे भयानक रोग हो गया। ठीक है, *जो दूसरे को दुःख दिया करता है, वह बेचारा कौन से दोष को नहीं प्राप्त होता है?* अर्थात् वह अनेक दोषों का पात्र बनता है।।81।। यह देखकर उसका वक्रदास नाम का पुत्र बोला कि हे पिताजी! *तुम निर्मल मन से दोषों को दूर करने वाले किसी ऐसे धर्म कार्य को करो जो परलोक में सुखों को देने वाला है।।82।। जो स्वयं किया हुआ कर्म सैकड़ों सुख-दुःखों के करने में समर्थ है उस एक कर्म को छोड़कर दूसरा पुत्र, स्त्री और धन आदि में से कोई भी जीव के साथ परलोक में नहीं जाता है।।83।।*

हे पिताजी! *जिस संसाररूप वन का अन्त पाना अतिशय कठिन है तथा जो अनेक योनियोंरूप बहुत से मार्गों से व्याप्त है उस जन्म-मरणरूप संसार-वन के भीतर परिभ्रमण*

करने वाले प्राणियों का कोई भी पर-पदार्थ अपना नहीं हो सकता है, ऐसा विचार करके दुर्बुद्धि को छोड़ दीजिए और किसी हितकर कार्य को कीजिए।।84।। मित्र और पुत्र आदि के विषय में मोह को छोड़कर ब्राह्मण और साधुजनों के लिए धन को दीजिए, उन्हें यथायोग्य दान कीजिए। साथ ही ऐसे किसी अभीष्ट देव का स्मरण भी कीजिए जिससे कि आपको सुखप्रद गति प्राप्त हो सके।।85।।

पुत्र के इस कथन को सुनकर वह (वक्र) बोला कि हे पुत्र! तुम मेरे लिए हितकारक एक इस कार्य को करो, क्योंकि *योग्य पुत्र कभी पिता के आदरणीय वाक्य का उल्लंघन नहीं करता है।।86।।* हे पुत्र! मेरे जीवित रहते हुए बैरी स्कन्द कभी सुख को प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु जैसा कि मैं चाहता था - यह भाई, पुत्र एवं विभूति के साथ विनाश को प्राप्त नहीं हो सका।।87।। हे वत्स! जिस प्रकार से यह समूल नष्ट हो जावे, वैसा तू कोई कार्य कर। ऐसा हो जाने पर मैं स्वर्गलोक में सुन्दर शरीर को प्राप्त होकर सन्तोष के साथ सुखपूर्वक रहूँगा।।88।।

इसके लिए तू मेरे मुर्दा शरीर को उसके खेत पर ले जाकर लकड़ी के सहारे खड़ा कर देना और तब फसल को नष्ट करने वाले समस्त गाय, भैंस और घोड़ों के समूह को छोड़ देना। तत्पश्चात् तू उसके आने को देखने के लिए मेरे पास वृक्ष और घास में छुपकर स्थित हो जाना। इस प्रकार से जब वह क्रोधित होकर मेरा घात करने लगे, तब तू समस्त जनों को सुनाने के लिए चिल्ला देना कि मेरे पिता को स्कन्द ने मार डाला। तब राजा मुझे उसके द्वारा मारा गया जानकर उसकी समस्त सम्पत्ति को हरण करता हुआ उसे दण्डित करेगा। इससे यह सकुटुम्ब मर जायेगा।।89-91।।

इस प्रकार से वह बोल ही रहा था कि इसी समय मृत्यु ने आकर उस निकृष्ट पापी को नष्ट कर दिया। उधर लड़के ने उसके वचन को पूरा किया। ठीक है, जो पाप में तत्पर होता है उसे सहायक भी उपलब्ध हो जाते हैं।।92।। जो मूर्ख मनुष्य मरणोन्मुख होता हुआ दूसरे को सुखी देखकर बैर के वश उसका घात करना चाहता है, उसको अपना ग्रास बनाने वाले यमराज को छोड़कर दूसरा कोई भी प्रबुद्ध नहीं कर सकता है।।93।। जिस वक्र ग्रामकूट ने अपने पुत्र वक्रदास के हित के सूचक कथन को नहीं किया - तदनुसार निर्दोष आचरण को नहीं किया - उसके समान निकृष्टजन यदि आप लोगों के मध्य में हैं तो मैं हित की सूचना नहीं करता हूँ।।94।। वह [द्विष्ट पुरुष] मन में महान् वैररूप वज्राग्नि से जलता हुआ दूसरे की

विभूति को न सह सकने के कारण केवल दूसरे के विनाश का चिन्तन करता है। इसको छोड़कर वह न खाता है, न सोता है और न दोनों ही लोकों में पवित्र (निराकुल) सुख को भी प्राप्त होता है।।95।। इस प्रकार के अधम, हीन, अज्ञानीजन चित्त में निरन्तर विद्वेष को धारण करते हुए नीच वृत्ति से जलती हुई दु:सह व स्थिर नरकरूप अग्नि में प्रविष्ट होकर वहाँ चिरकाल तक रहने में तो समर्थ होते हैं, किन्तु वे दूसरे की सम्पत्ति के सहने में समर्थ नहीं होते हैं।।96।। *जो अज्ञानी मनुष्य हितकारक वचन को छोड़कर विपरीत सब कुछ स्वीकार करता है, उस दुष्ट चित्त मनुष्य के आगे विद्वान् मनुष्य वचनों को नहीं बोलता है* – उसके लिए उपदेश नहीं करता है।।97।।

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में पाँचवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।5।।

चिर संचित अरमानों का घट एक दिवस ही फूट चला

..... कितना करते हो प्रयास पर बोलो कितना पा लेते हो
विफल-सफलता सफल-विफलता में बस गोते खा लेते हो
कौन कह सका रही सफलता मेरे जीवन की थाती है
स्वयं देह भी अन्तिम क्षण जब उसको छोड़ चली जाती है
सभी चलाचल चलते रहते, रही चेतना ही अचला
चिर संचित अरमानों का घट .....

..... जिसकी खोज रही युग-युग से वही छिपा देखो अन्तर में
तुम बहिरात्म रहे विभ्रम से वह बैठा था अन्तस्तल में
कहाँ खोजते ऐ मतवाले! जहाँ खोजते वहाँ नहीं है
अरे विलक्षण सुख की निधियाँ सदा तुम्हारे पास रही हैं
उसका जग में कौन सहारा जो अपने से रूठ चला
चिर संचित अरमानों का घट .....

छठवाँ परिच्छेद

हे विप्रो! इस प्रकार से मैंने अग्नि के समान सन्ताप देने वाले द्विष्ट पुरुष का स्वरूप कहा है। अब पत्थर के समान नष्टबुद्धि मूढ़ पुरुष का स्वरूप कहता हूँ, उसे सुनिए।।1।।

3. मनोमूढ़ भूतमति की कथा

देव-भवनों के समान गृहों से व्याप्त एक प्रसिद्ध कण्ठोष्ठ नाम का नगर है। अनेक निधियों का स्थानभूत वह नगर दूसरा यक्षों का निवास-स्थान जैसा दिखता है।।2।। उसमें ब्राह्मण समूह से पूजित एक भूतमति नाम का ब्राह्मण था। वह वेद-वेदांगों का ज्ञाता होने से ब्रह्मा के समान चतुर्मुख था - चार वेदोंरूप चार मुखों का धारक था।।3।। उस बाल-ब्रह्मचारी के धीरतापूर्वक वेदाभ्यास करते हुए पचास वर्ष बीत गये थे।।4।। उसके बन्धुजनों ने उसे यज्ञ की अग्निज्वाला के समान निर्मल यज्ञा नामक कन्या को विधिपूर्वक इसप्रकार से ग्रहण कराया जिस प्रकार कि विष्णु के लिए लक्ष्मी को ग्रहण कराया गया।।5।। उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित वह भूतमति ब्राह्मण यज्ञ विद्या में निपुण होकर अपनी बुद्धि को लोगों के पढ़ाने में लगा रहा था। सब ब्राह्मण उसकी पूजा करते थे।।6।। भोगशाली जनों से सम्मानित वह उस यज्ञा के साथ भोग को भोगता हुआ स्थित था। उसकी प्रसिद्धि भूतल पर स्थिरप्रज्ञ (स्थितप्रज्ञ) स्वरूप से हो गयी थी।।7।।

वहाँ यज्ञ के समान उज्ज्वल एक यज्ञ नाम का ब्रह्मचारी (अथवा बालक) आया। वह स्त्रियों के नेत्ररूप भ्रमरों के लिए कमल के समान यौवन को धारण करता था।।8।। उसे भूतमति ब्राह्मण ने नम्र, बुद्धिमान् और वेदार्थ ग्रहण के योग्य देखकर अपने पास स्वयं मूर्तिमान् अनर्थ के ही समान रख लिया।।9।। जिस प्रकार बहुत बोझ से संयुक्त गाड़ी धुरी के टूट जाने से शीघ्र ही अस्त-व्यस्त हो जाती है उसी प्रकार यज्ञा उस बटुक को देखते ही इन्द्रियों के वेग के भग्न होने से कामासक्त हो जाने से विह्वल हो गयी।।10।। रति और कामदेव के समान उन दोनों के संगमरूप जल से सींचा गया स्नेहरूप वृक्ष वृद्धि को प्राप्त होकर अभीष्ट फल को देने वाला हो गया।।11।।

दरिद्र की गोष्ठी (पोषण के योग्य कुटुम्ब की अधिकता), सेवक की प्रतिकूलता

(विपरीतता) और वृद्ध पुरुष की युवती स्त्री – ये कुल का विनाश करने वाली हैं।।12।। दूसरे से संगत स्त्री समस्त दोष को करती है। ठीक है, वज्राग्नि की ज्वाला भला किसको सन्तप्त नहीं करती है? अर्थात् वह सभी को अतिशय सन्ताप देती है।।13।। जो मनुष्य घर में स्त्री को अंकुश से रहित स्वतन्त्र करता है – उसे इच्छानुसार प्रवर्तने देता है, वह धान्य (फसल) में भड़की हुई अग्नि की ज्वाला को नहीं बुझाता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार फसल के भीतर लगी हुई अग्नि को यदि बुझाया नहीं जाता है तो वह समस्त ही गेहूँ आदि की फसल को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार स्त्री को स्वच्छन्द आचरण करते हुए देखकर जो पुरुष उस पर अंकुश नहीं लगता है – उसे इच्छानुसार प्रवर्तने देता है, उसका उत्तम कुल आदि सब कुछ नष्ट हो जाता है।।14।। जिस प्रकार निरन्तर अतिशय वृद्धि को प्राप्त होने वाले रोग की वृद्धि की यदि उपेक्षा की जाती है तो वह अन्त में प्राणों के विघात को करता है, उसी प्रकार निरन्तर स्वेच्छाचारिता में वृद्धि करने वाली स्त्री की भी यदि उपेक्षा की जाती है तो वह भी अन्त में प्राणों का विघात करती है।।15।।

स्त्री चूँकि समस्त विश्व को शीघ्र ही नष्ट किया करती है, अतएव वह 'योषा' मानी गयी है। तथा वह चूँकि विश्व को पाप में रमाती है, अतएव वह 'रमणी' कही जाती है।।16।। वह पृथिवी (कु) को मारने के कारण 'कुमारी' तथा क्रोध करने के कारण 'भामिनी' (भामते इति भामिनी कोपना) कही जाती है।।17।। इसके विषय में चूँकि पुरुषों का चित्त विलीन होता है, अतएव वह विद्वानों के द्वारा 'विलया' तथा चूँकि वह दोषों को आच्छादित करती है, अतएव 'स्त्री' (स्तृणातीति स्त्री) कही जाती है।।18।। वह लोगों को निर्बल बनाने के कारण 'अबला' कही जाती है तथा चूँकि उसके विषय में आसक्त होकर लोग प्रमाद करते हैं, अतएव वह 'प्रमदा' कही जाती है।।19।। अनेक अनर्थों के करने में चतुर उन स्त्रियों के समस्त नाम इस प्रकार दुःख के कारणभूत हैं जिस प्रकार कि अनेक अनर्थों को करने वाली वेदनाओं के सब नाम दुःख के कारणभूत हैं।।20।। यदि स्त्री की रक्षा नहीं की जाती है, उसे नियन्त्रण में नहीं रखा जाता है तो वह मनोवृत्ति के समान निरन्तर पाप को करती है। इसीलिए उसकी उक्त मनोवृत्ति के ही समान सदा रक्षा करना चाहिए, उसे मनोवृत्ति के समान निरन्तर अपने वश में रखना चाहिए।।21।। हित के इच्छुक सज्जन मनुष्य नदी, सर्पिणी, बाघिनी और स्त्री – इनका कभी भी विश्वास नहीं किया करते हैं।।22।।

एक समय उस भूतमति ब्राह्मण को पुण्डरीक महायज्ञ करने के लिए कुछ श्रेष्ठ ब्राह्मणों

ने मूल्य देकर मथुरा नगरी में आमंत्रित किया।।23।। तब वह पत्नी से 'हे यज्ञे! तू गृह की रक्षा करती हुई घर के भीतर सोना और इस बटुक को दरवाजे पर सुलाना' यह कहकर मथुरा चला गया।।24।। पति के चले जाने पर उस पापिष्ठा ने उस बटुक को जार बना लिया। ठीक है, सूने घर में दुराचारिणी स्त्रियों का पूरा राज्य हो जाता है।।25।। उस समय उन दोनों के मध्य में एक दूसरे के देखने, स्पर्श करने और गुप्त इन्द्रियों को प्रकट करने से काम-वासना वेग से इस प्रकार वृद्धिंगत हुई जिस प्रकार कि घी के स्पर्श से अग्नि वृद्धिंगत होती है।।26।।

सभी स्त्रियाँ स्वभावत: सब पुरुषों के मन को आकर्षित किया करती हैं। फिर क्या दुराचारिणी युवती स्त्री दुराचारी युवक पुरुष के मन को आकर्षित नहीं करेगी? वह तो करेगी ही।।27।। वह बटुक यज्ञा के कठोर स्तनों से पीड़ित होकर उसे निरन्तर ही भोगने लगा। ठीक है, एकान्त स्थान में युवती स्त्री को पाकर भला कौन-सा पुरुष विश्रान्ति को प्राप्त होता है? कोई भी नहीं - वह तो निरन्तर ही उसको भोगता है।।28।। विलास की स्थानभूत वह यज्ञा जब उस बटुक का गाढ़ आलिंगन करती थी तब वह पार्वती के द्वारा आलिंगित महादेव को तृण जैसा भी नहीं मानता था - वह उस समय अपने को पार्वती से आलिंगित महादेव की अपेक्षा भी अधिक सौभाग्यशाली समझता था।।29।।

स्त्री और पुरुष के संयोग को कराने वाला न कोई दूत है और न काम भी है। किन्तु उक्त स्त्री-पुरुष परस्पर दृष्टि के विलास से (आँखों के मिलने से) ही स्वयं शीघ्र संयोग को प्राप्त होते हैं।।30।। भय से रहित, काम से पीड़ित और नवीन यौवन से संयुक्त कुलटा स्त्री यदि पुरुष को देखकर यों ही स्थित रहती है - उससे सम्भोग नहीं करती है, तो इससे दूसरा आश्चर्य और कौन हो सकता है?।।31।। नम्र भृकुटियों को धारण करने वाली स्त्री के द्वारा स्पर्श किया गया मनुष्य शीघ्र ही स्वभाव से इस प्रकार द्रवीभूत हो जाता है जिस प्रकार कि अग्नि की ज्वाला से स्पर्श किया गया घी का घड़ा स्वभाव से शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाता है - पिघल जाता है।।32।।

मनुष्य भोगों से सम्पन्न एवं अपनी स्त्री के द्वारा दिये गये सुरत-सुख से सुखी होकर भी एकान्त स्थान में दूसरे की प्रियतमा को पा करके प्राय: क्षोभ को प्राप्त हो जाता है।।33।। फिर भला जो बटुक काम के उन्माद से सहित, ब्रह्मचर्य से पीड़ित (स्त्री सुख से वंचित) और युवावस्था को प्राप्त था वह एकान्त में दूसरे की स्त्री (यज्ञा) को पा-करके क्या क्षोभ को नहीं

प्राप्त होता? उसका क्षोभ को प्राप्त होना अनिवार्य था।।34।। इस प्रकार जिनका मन दृढ़ प्रेमपाश में जकड़ चुका था ऐसे उन दोनों (यज्ञा और बटुक) के विषय-सुखरूप समुद्र में मग्न होते हुए वहाँ चार मास बीत चुके थे।।35।।

एक समय उस बटुक यज्ञ के प्रेम-भार से आलस्य को प्राप्त हुई यज्ञा उससे बोली कि हे स्वामिन्! आज तुम खिन्न क्यों दिखते हो, यह मुझसे कहो।।36।। यह सुनकर वह बोला कि हे प्रिये! लक्ष्मी के साथ सुख का उपभोग करते हुए विष्णु के समान तुम्हारे साथ सुख को भोगते हुए मेरे बहुत दिन बीत चुके हैं।।37।। हे कृशोदरी! अब इस समय भट्ट (भूतमति) के आने के दिन हैं। इसलिए मन को आह्लादित करने वाली तुमको छोड़कर मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ?।।38।। यदि मैं इसी स्थान में रहता हूँ, तब तो यहाँ अब आपत्ति बहुत है और अन्यत्र जाने में पाँव नहीं चलते हैं - तुम्हारे बिना अन्यत्र जाने का जी नहीं चाहता है। इधर किनारा है और उधर व्याघ्र है, इन दोनों के मध्य में स्थित मैं अब क्या करूँ?।।39।।

इस पर यज्ञा बोली कि तुम शोक को छोड़कर स्वस्थ होओ और अन्यथा विचार न करो। बल्कि मैं जो कहती हूँ उसको करो।।40।। हे सज्जन! हम दोनों बहुत से धन को लेकर यहाँ से दूसरे स्थान पर चलें और वहाँ मनोहर विषय-भोगरूप अमृत को भोगते हुए इच्छानुसार क्रीड़ा करें।।41।। यह जो यौवन जा रहा है उसके श्रेष्ठ आनन्द का उपभोग करते हुए हम दोनों इस दुर्लभ व मनोहर मनुष्य जन्म को सफल करें।।42।। तुम चिन्ता को छोड़कर दो शवों (मुर्दा शरीरों) को ले आओ। फिर मैं यहाँ से निकलने का वह उपाय करती हूँ जिससे समस्त जन नहीं जान सकेंगे।।43।। इस पर बटुक ने हर्षित-चित्त होकर उस यज्ञा के समस्त कथन को स्वीकार कर लिया। ठीक है, कामीजन ऐसे कार्य में दूसरों की शिक्षा की अपेक्षा नहीं करते हैं, वे ऐसे कार्य के विषय में दु:प्रबोध नहीं हुआ करते हैं - ऐसे कार्य को वे बहुत सरलता से समझ जाते हैं।।44।।

तत्पश्चात् वह रात्रि में जाकर दो मृत शरीरों को ले आया। ठीक है, स्त्रियों के प्रार्थना करने पर मनुष्य कौन से साहस को नहीं करता है? वह उनकी प्रार्थना पर भयानक से भयानक कार्य के करने में उद्यत हो जाता है।।45।। तब यज्ञा ने उनमें-से एक मृत शरीर को द्वार पर और दूसरे को घर के भीतर रखकर सब धन को ले लिया और उस घर में आग लगा दी।।46।। तत्पश्चात् वे दोनों उस नगर से निकलकर उत्तर की ओर इस प्रकार से चल दिये

जिस प्रकार कि हिरण व्याध की प्राणघातक बागुरा (मृगों को फँसाने वाली रस्सी) से छूटकर शीघ्र चल देते हैं।।47।।

उधर अग्नि उस घर को धीरे-धीरे जलाकर शान्त हो गयी। लोगों ने वहाँ केवल भस्म को देखा। इस दुर्घटना को देखकर सब शोक करने लगे।।48।। वे सोचने लगे कि जो यज्ञा ब्राह्मणी सतियों में श्रेष्ठ और गुणों से विभूषित थी, आश्चर्य है कि बटुक के साथ उसको अग्नि ने देखते-देखते कैसे जला डाला।।49।। वे लोग घर के बाह्य और अभ्यन्तर भाग में हड्डियों के समूह को देखकर मन में बहुत खिन्न हुए। अन्त में वे सब अपने-अपने घर को चले गये।।50।। तीनों लोकों में ऐसा कोई प्रपंच (धूर्तता) नहीं है जिसे काम के द्वारा शिक्षित की जाने वाली स्त्रियाँ न जानती हों। अभिप्राय यह कि स्त्रियाँ काम के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के षड्यन्त्रों को स्वयं रचा करती हैं।।51।।

इधर नगरवासी जनों ने ब्राह्मण के पास जो उसके घर के जलने का समाचार भेजा था उसे देखकर वह ब्राह्मणों में श्रेष्ठ मूर्ख भूतमति वहाँ आया और अपने जले हुए घर को देखकर विलाप करने लगा।।52।। वह सोचने लगा कि उस अग्नि ने मेरी आज्ञा का पालन करने वाले और गुरु की उपासना में चतुर उस अतिशय बुद्धिमान् बटुक को निर्दयतापूर्वक कैसे जला डाला?।।53।। जो यज्ञ बटुक ब्रह्मचारी, पवित्र, निपुण, विनयशील तथा शास्त्र में पारंगत था वैसा वह बटुक अब कहाँ से दिख सकता है? नहीं दिख सकता है।।54।। हे यज्ञे! मेरी आज्ञा में रहने वाली और गृहकार्य में तत्पर तुझ जैसी पतिव्रता कोमल स्त्री को अग्नि ने कैसे जला डाला?।।55।। हे कान्ते! गुण, शील एवं कलाओं की आधारभूत, पति की भक्ति में निरत और वृद्धिंगत लज्जा से सहित (लज्जालु) तुझ जैसी प्रिया कभी भी नहीं हो सकेगी।।56।।

हे कृश उदर से सहित व चन्द्र के समान मुखवाली प्रिये! तू जो मेरे कहने से घर में रहकर विपत्ति को प्राप्त हुई है इस मेरे पाप की शुद्धि कैसे होगी?।।57।। हे तन्वि! तू अपने दोनों चरणों से कमलों को, जंघाओं से कामदेव के भाथा (बाणों के रखने का पात्र) को, जाँघों से केले के खम्भों को, जघन की शोभा से रथ के पहिये को, नाभि की छटा से जल के भ्रमण को, पेट से वज्र की कान्ति को, दोनों स्तनों से सुवर्ण-कलशों को, कण्ठ से शंख की शोभा को, मुख से चन्द्रबिम्ब को, नयनों से हरिण के नेत्रों को, मस्तक से अष्टमी के चन्द्रमा को, बालों से चमर मृग की पूँछ को, वचन से कोयल की वाणी को तथा क्षमा से पृथिवी को

जीतती थी। हे प्रिये! इस प्रकार के तेरे रूप का स्मरण करते हुए मुझे शान्ति कहाँ से प्राप्त हो सकती है?।।58-61।।

हे यज्ञे! तेरा दर्शन, स्पर्शन, देख करके हँसना, मृदु भाषण, यह सब यमराज ने दूर कर दिया है।।62।। इस रमणीय कण्ठोष्ठ नगर में आकर मैं देवों की सुन्दरी (अप्सरा) के समान कण्ठ और होठों आदि अवयवों से सुन्दर तुझे उपभोग के लिए नहीं प्राप्त कर सका।।63।। हे मृग के समान सुन्दर नेत्रों वाली! जिस प्रकार चक्रवाकी के बिना चक्रवाक कभी सुख से स्थित नहीं हो सकता है, उसी प्रकार मैं भी तेरे बिना किस प्रकार सुख से स्थित रह सकता हूँ? नहीं रह सकता।।64।।

इस प्रकार शोक से पीड़ित उस ब्राह्मण विद्वान् से एक ब्रह्मचारी बोला कि हे मूर्ख! प्रयोजन के बीत जाने पर अब व्यर्थ क्यों रोता है?।।65।। जिस प्रकार वायु से प्रेरित होकर पत्तों के समूह कभी संयोग को और कभी वियोग को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार *कर्म के वशीभूत होकर जीवों के समूह भी संयोग और वियोग को प्राप्त होते हैं।।66।।* वियोग को प्राप्त हुए प्राणियों का फिर से संयोग होना दुर्लभ है। ठीक भी है, पृथक्ता को प्राप्त हुए परमाणु फिर से किसी प्रकार भी सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं।।67।। रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्य के समूहभूत तथा सूक्ष्म चमड़े से आच्छादित स्त्री के शरीर में भला रमणीय वस्तु क्या है?।।68।। यदि दैवयोग से स्त्री के शरीर के बाहरी और भीतरी भागों में विपरीतता हो जाये - कदाचित् उस शरीर का भीतरी भाग बाहर आ जाये तो उसका आलिंगन तो दूर रहा, उसे देख भी कौन सकता है? अर्थात् उसकी ओर कोई देखना भी नहीं चाहता है।।69।।

हे मूर्ख! जो स्त्री का जघन रुधिर के बहने का द्वार है, दुर्गन्ध से सहित है, वचन से कहने में दुःखप्रद है, अर्थात् जिसका नाम लेना भी लज्जाजनक है, तथा जो मल के गृह (संडास) के समान होता हुआ निन्द्य है, उसका स्पर्श कैसे किया जाता है? अर्थात् उसका स्पर्श करना उचित नहीं है।।70।। लार, थूक, कफ और दाँतों के कीड़ों से व्याप्त स्त्री के मुख के लिए चतुर कवि चन्द्र की उपमा कैसे दिया करते हैं?।।71।। मांस की गाँठों के समान जो स्त्री के दोनों स्तन मिट्टी आदि के लौंदों के समान (अथवा फोड़ों के समान) हैं, उन्हें तीक्ष्ण बुद्धिवाले कवि सुवर्ण के घड़ों के समान कैसे बतलाते हैं?।।72।। सम्पूर्ण अपवित्रता के स्थानभूत स्त्री और पुरुष के छेदों (जननेन्द्रियों) के संयोग को चतुर पुरुष अपवित्र (मल से

परिपूर्ण) दो घड़ों के संयोग के समान मानते हैं।।।73।।

रागरूप लहरों से सम्पन्न स्त्रीरूपी नदी पुरुषरूप वृक्षों को उखाड़ कर बार-बार ले जाती है और संसाररूप समुद्र में फेंक देती है।।74।। जो स्त्री नीच पुरुषों को अनुरक्त करके नरकरूप घर (नारकबिल) में पटक देती है और स्वयं साथ में नहीं जाती है उसका सेवन विद्वान् मनुष्य कैसे किया करते हैं? अर्थात् विवेकी जनों को उसका सेवन करना उचित नहीं है।।75।। जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को जलाया करती है उसी प्रकार उत्पन्न होने वाले दुष्ट भोग निरन्तर हृदय को जलाया करते हैं - सन्तप्त किया करते हैं। उनके समान शत्रु कहाँ से हो सकते हैं? अर्थात् *वे विषयभोग शत्रु की अपेक्षा भी प्राणी का अधिक अहित करने वाले हैं।।76।।*

जीव जिस प्रकार समस्त विवेक-बुद्धि को नष्ट करने वाली मदिरा से मोहित होकर हित और अहित को नहीं समझता है उसी प्रकार वह उस मदिरा के ही समान समस्त विवेक को नष्ट करने वाली स्त्रियों से मोहित होकर हित और अहित को नहीं समझता है, यह स्पष्ट है।।77।। यह स्त्री है, यह पुत्र है, यह माता है, और यह पिता है, इस प्रकार की बुद्धि कर्म के वश मूर्खों के हुआ करती है।।78।। **जिस संसार में जन्म से लेकर पुष्ट किया गया अपना शरीर नष्ट हो जाता है उसमें भला स्त्री, पुत्र और धन आदि के विषय में निर्वाह कैसा?** अर्थात् जब प्राणी के साथ सदा रहने वाला यह शरीर भी नष्ट हो जाता है तब भला प्रत्यक्ष में भिन्न दिखने वाले स्त्री, पुत्र और धन आदि कैसे स्थिर रह सकते हैं?।।79।।

ब्रह्मचारी के इस उपदेश को सुनकर क्रोध को प्राप्त हुआ वह मूर्ख भूतमति इस प्रकार बोला। ठीक है, *अविवेकी जनों को दिया गया उपदेश व्यर्थ हुआ करता है।।।80।।* यदि स्त्रियाँ इस प्रकार से अतिशय निन्द्य होतीं, तो समस्त मार्गों (प्रवृत्तियों) में विचारशील मन वाले महादेव, ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र उन स्त्रियों को हृदय में कैसे धारण करते हैं?।।81।। जिन स्त्रियों को जड़ अशोक आदि वृक्ष भी स्पष्टतया नहीं छोड़ते हैं, समस्त सुख के करने में अतिशय चतुर उन स्त्रियों को भला ये (विचारशील) पुरुष कैसे छोड़ सकते हैं, बतलाओ।।82।।

उत्तम शरीर को धारण करने वाली जो स्त्रियाँ पुत्ररूप फलों को देती हैं और समस्त कष्ट को नष्ट करती हैं उन स्त्रियों को छोड़कर यहाँ समस्त इन्द्रियों को सुख देने वाली कोई भी

दूसरी वस्तु नहीं है।।83।। यदि स्त्रियों के सेवन से समस्त पुरुष विवेकहीन होते हैं तो फिर संसार में उन स्त्रियों के संग में आसक्त पुरुषों में श्रेष्ठ कोई भी मनुष्य विचारशील नहीं हो सकता था।।84।। *संसार भिन्न रुचि वाला है*, उसमें यदि कोई अपने मन को प्रिय अन्य वस्तु कहे, तो उसे मैं नहीं रोकता हूँ, परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि युवती को छोड़कर दूसरा कोई सुख का कारण नहीं है।।85।।

इस प्रकार कहकर उस विचारहीन ब्राह्मण ने स्वयं दो तूम्बड़ियों में अपनी प्रियतमा (यज्ञा) एवं उस बटुक की हड्डियों के समूह को रखा और शीघ्रता से गंगा नदी की ओर चल दिया।।86।। इस प्रकार से जाते हुए उसे किसी नगर में वह निकृष्ट बटुक मिल गया। वह भय से काँपते हुए उसके पाँवों में गिर गया और बोला कि हे प्रभो! मेरे दुराचरण को क्षमा कीजिए।।87।। यह सुनकर वह ब्राह्मण बोला कि हे बटुक! तुम कौन हो। उसके इस प्रकार पूछने पर वह नम्रतापूर्वक ब्राह्मण से बोला कि हे प्रभो! आपके चरण-कमलों की उपासना पर जीवित रहने वाला में वही यज्ञ बटुक हूँ जो आपके घर में रहता था।।88।। इस बात को सुनकर वह दुर्बुद्धि ब्राह्मण बोला कि वह मेरा चतुर बटुक जलकर भस्म हो चुका है, वह अब कहाँ से आ सकता है? जा, किसी दूसरे को धोखा देना। हे मूर्ख! तेरे धोखा देने वाले कथन को कौन नहीं जानता है?।।89।।

इस प्रकार कहकर वह आगे चल दिया। तब आगे जाते हुए उसे किसी दूसरे नगर में अकस्मात् वह दुष्ट यज्ञा प्रियतमा भी मिल गयी। वह भय से काँपती हुई उसके चरण-कमलों में मस्तक को रखकर इस प्रकार बोली।।90।। हे गुणों के भण्डार! तुम्हारा सब धन व्यवस्थित है, मेरी दुष्प्रवृत्ति को क्षमा कीजिए। कारण यह कि जिसका मन अपने दुराचरण से काँप रहा है, उसके ऊपर उत्तम बुद्धि का धारक मनुष्य कभी भी क्रोधित नहीं होता है।।91।। उसके इस कथन को सुनकर ब्राह्मण उससे बोला कि तुम कौन हो? इसके उत्तर में उसने कहा कि हे ब्राह्मण! वह मैं तुम्हारी यज्ञा हूँ। इस पर ब्राह्मण बोला कि उसका शरीर तो इस तूंबड़ी के भीतर रखा है, फिर भला वह मेरी प्रियतमा यज्ञा बाहर कैसे आ सकती है?।।92।। यदि तुम मुझे इस नगर में नहीं रहने देती हो तो मैं दूसरे नगर में चला जाता हूँ। इस प्रकार कहकर वह समस्त विवेक-बुद्धि से हीन ब्राह्मण मन में क्रोधित होता हुआ वहाँ से चला गया।।93।।

इस प्रकार जिस मूढ़ मनुष्य को वस्तु के स्वयं देख लेने पर भी स्पष्टतया उसका निश्चय

नहीं होता है उस विचारहीन मनुष्य के लिए मूढ़ों के मर्दन करने वाले यमराज को छोड़कर दूसरा कौन समझा सकता है?।।94।। इस प्रकार *विवेक-ज्ञान से रहित मनुष्य संसार के भय को नष्ट करने वाले अपरिमित ज्ञानी (सर्वज्ञ अथवा अमितगति आचार्य) के वचन को हृदय में धारण नहीं करता है। परन्तु जो उत्तम बुद्धि के धारक (विवेकी) हैं, वे निर्मल बुद्धि को विस्तृत करके अविनश्वर मोक्ष सुख को प्रदान करने वाले उस निर्मल वचन को हृदय में धारण किया करते हैं।।95।।*

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में छठवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।6।।

ओ चिन्मय!

.....प्रलय-सृष्टि से पार शान्त एकान्त विजन में
अरे! देह में ही विदेह चिन्मय अमि-घट रे
किन्तु मृत्यु के कृत्रिम-तन्तु कल्पना बुनती
आत्म तत्त्व तो सब सन्दर्भों में अक्षय रे
हिम शैलों पर हमने रवि को तपते देखा
पर हिम के शीतल अन्तस् में तपन नहीं है.....

..... अरे! आत्मविस्मृति के तम की घन-परतों में
यों चिन्मय मणि-दीप प्रदीप्त निरन्तर ही है.....

.....पैठो, पैठो, अतल शून्य के तल में पैठो
मदिर सुरभि बहती है अगणित शक्ति-सुमन की
वहाँ पराये का कोई भी देश नहीं है
सबकी सब है सिर्फ अरे! अपनों की बस्ती
तम के परिकर का उस तल को स्पर्श नहीं रे
अरे! चिरन्तन चित्-प्रकाश का भवन वही है

सातवाँ परिच्छेद

हे ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने आप लोगों से विवेकहीन मूढ़ का वृत्तान्त कहा है। अब अपने अभिप्राय के ग्रहण में दुराग्रह रखने वाले व्युद्ग्राही पुरुष का स्वरूप कहा जाता है।।1।।

4. व्युद्ग्राही मूर्ख जात्यन्ध की कथा

नन्दुरद्वारी नगरी में वह एक दुर्धर नाम का राजा था, जिसके कि जन्म से अन्धा एक जात्यन्ध नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था।।2।। वह पुत्र प्रतिदिन अपने शरीर पर स्थित हार, कंकण, केयूर और कुण्डल आदि आभूषणों को याचकों के लिए दे दिया करता था।।3।। उसके इस अपूर्व दान को देखकर मंत्री राजा से बोला कि हे स्वामिन्! कुमार ने दान देकर सब खजाने को नष्ट कर दिया है।।4।। यह सुनकर राजा बोला कि हे सज्जन! यदि इसको भूषण न दिया जाये तो वह किसी प्रकार भी भोजन नहीं करता है, इसके लिए मैं क्या करूँ?।।5।। इस पर मंत्री ने राजा से कहा कि इसका उपाय मैं करता हूँ। तब राजा ने कहा कि ठीक है, करो उसका उपाय, मैं नहीं रोकता हूँ।।6।।

तब मंत्री ने कुमार को लोहमय आभूषण और साथ में जनों का घात करने में समर्थ एक लोह निर्मित दण्ड को देते हुए उससे कहा कि विद्वानों से पूजित यह भूषण तुम्हारे राज्य क्रम से (कुल परम्परा से) चला आ रहा है। हे तात! इसे किसी के लिए भी नहीं देना। कारण इसका यह है कि इसके दे देने पर यह राज्य नष्ट हो जायेगा। हे कुमार! जो-जो मनुष्य इसे लोहमय कहे, उसके सिर पर इस दण्ड की ठोकर मारना, इसके लिए कहीं भी दया नहीं करना।।7-9।। मंत्री के इस समस्त कथन को कुमार ने स्वीकार कर लिया। ठीक है, *चतुर पुरुषों के द्वारा कहे गये वचन को यहाँ कौन नहीं स्वीकार करते हैं?* अर्थात् चतुर पुरुषों के कथन को सब ही स्वीकार करते हैं।।10।। उस लोहमय दण्ड को लेकर उसके मन में बहुत सन्तोष हुआ। तब वह रोमांचित शरीर से संयुक्त होता हुआ उस दण्ड के साथ स्थित हुआ।।11।। उसके समक्ष जो भी उस आभूषण को लोहे का कहता, वह उसके मस्तक पर उस लोहदण्ड का प्रहार करता। ठीक है, *जिस नीच मनुष्य की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करा दिया गया है - जो बहका दिया गया है, वह अच्छा कार्य कहाँ-से कर सकता है?* नहीं कर सकता है।।12।।

जो निकृष्ट मनुष्य प्राप्त हुए अपने इष्ट जन के कथन को तो उत्तम मानता है तथा दूसरे के सब कथन को बुरा समझता है, उसे भला कौन समझा सकता है? ऐसे दुराग्रही मनुष्य को कोई भी नहीं समझा सकता है।।13।। जो मूर्ख उस जात्यन्ध कुमार के समान दूसरे के वचन पर विचार नहीं करता है और अपने दुराग्रह में ही बुद्धि को आसक्त करता है उसे पण्डित जन व्युद्ग्राही मानते हैं।14।। *कदाचित् हाथ की ठोकर से मेरु पर्वत को भेदा जा सकता है, परन्तु वचनों द्वारा कभी व्युद्ग्राही मनुष्य को प्रतिबोधित नहीं किया जा सकता है।।15।।*

जिस प्रकार उस दीन जात्यन्ध कुमार ने सुवर्ण के भूषण को छोड़कर लोहे के भूषण को लिया, उसी प्रकार अज्ञान से अन्धा मनुष्य उत्तम वस्तु को छोड़कर निरन्तर हीन वस्तु को ग्रहण किया करता है।।16।। *जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर वस्तु को निकृष्ट मानता है, उसके आगे बुद्धिमान् पुरुष सुन्दर भाषण नहीं करता है।।17।।* जो लोग काम और अर्थ के साधन में उद्युक्त रहते हैं, वे चूँकि सब ही अन्य मनुष्यों को धोखा दिया करते हैं, अतएव सत्पुरुषों को सदा निर्मल बुद्धि से इसका विचार करना चाहिए।।18।।

हे ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने व्युद्ग्राही पुरुष का स्वरूप कहा है। अब इस समय पित्त-दूषित पुरुष के स्वरूप को कहता हूँ, उसे आप लोग स्थिरता से सावधान होकर सुनें।।19।।

5. पित्तदूषित मूर्ख पुरुष की कथा

कोई एक पुरुष था, जिसका शरीर अग्नि के समान तीव्र पित्तज्वर से व्याकुल व पीड़ित हो रहा था।।20।। उसके लिए अमृत के समान पवित्र, शक्कर से मिश्रित एवं सन्तोष व पुष्टि को देने वाला औटाया हुआ दूध दिया गया।।21। इस दूध को उस नीच ने नीम के रस के समान कडुवा माना। सो ठीक ही है, उल्लू सूर्य के चमकते हुए प्रकाश को अन्धकार स्वरूप ही समझता है।।22।। इसी प्रकार *जिस-किसी मनुष्य का हृदय मिथ्याज्ञानरूप तीव्र पित्तज्वर से व्याकुल होता है, वह भी योग्य और अयोग्य का विचार नहीं कर सकता है।।23।। उसके लिए अमृत के समान उत्कृष्ट शान्ति के उत्पन्न करने में समर्थ और जन्म, मरण व जरा को नष्ट करने वाला जो दुर्लभ वस्तु का यथार्थ स्वरूप दिखलाया जाता है, उसे वह मूर्ख दुर्बुद्धि कालकूट विष के समान अशान्ति का कारण तथा जन्म, मरण एवं जरा को करने वाला सुलभ मानता है।।24-25।।* जो अज्ञान से व्याकुल चित्तवाला मनुष्य निरन्तर समस्त प्रशंसनीय वचन आदि को निन्द्य समझा करता है उसे पित्तदूषित कहा जाता है।।26।।

इस प्रकार *जो अज्ञानी मनुष्य न्यायोचित बात को अन्याय स्वरूप मानता है, उसके लिए तत्त्वज्ञ पुरुष कुछ भी उपदेश नहीं दिया करते हैं।।27।।* मैंने उपर्युक्त प्रकार से आप लोगों के लिए विपरीत अभिप्राय वाले पित्तदूषित पुरुष का स्वरूप कहा है। अब इस समय आम्रपुरुष के स्वरूप को कहता हूँ, उसे सावधान होकर सुनिए।।28।।

6. आम्र मूर्ख नृपशेखर की कथा

अंग देश में विद्वानों से पूजित एक चम्पा नगरी थी। जिस प्रकार स्वर्ग में देवों से पूजित, सुन्दर अप्सराओं से रमणीय, एवं मनोहर भवनों से परिपूर्ण अमरावती पुरी सुशोभित है, उसी प्रकार उक्त देश के भीतर स्थित वह चम्पा नगरी भी अप्सराओं के समान सुन्दर स्त्रियों से रमणीय और मनोहर प्रासादों से वेष्टित होकर शोभायमान होती थी।।29।। जिस प्रकार अमरावती में देवों से आराधनीय इन्द्र रहता है, उसी प्रकार उस चम्पा नगरी में नमस्कार करते समय मुकुटों को झुकाने वाले अनेक राजाओं से सेवनीय नृपशेखर नाम का राजा था।।30।।

उस राजा के पास उसके हितैषी बंगदेश के राजा ने सुगन्धि से खींचे गये भ्रमरों से व्याप्त एक आम्रफल को भेजा। जिस प्रकार *जीवों के द्वारा सेव्यमान दुर्लभ पूज्य रत्नत्रय उनके सब रोगों और जरा को नष्ट किया करता है* उसी प्रकार दूसरों के लिए दुर्लभ, मनोहर और पूजा को प्राप्त वह आम्रफल भी प्राणियों के द्वारा सेव्यमान होकर उनके सब प्रकार के रोगों एवं जरा को दूर करने वाला था, तथा जिस प्रकार दिव्य स्त्री का यौवन सुन्दर व सुखप्रद रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के द्वारा प्राणियों के मन को प्रमुदित किया करता है उसी प्रकार वह आम्रफल भी सुन्दर व सुखप्रद अपने रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के द्वारा मनुष्यों के अन्त:करण को आनन्दित करता था।।31-33।।

उसके देखने मात्र से ही राजा को बहुत हर्ष हुआ। ठीक है, रमणीय वस्तु के देखने पर किसे हर्ष नहीं हुआ करता है? सभी को हर्ष हुआ करता है।।34।। समस्त रोगों के लिए अग्निस्वरूप इस एक आम्रफल से मेरे प्रजाजन को कोई विभाग नहीं किया जा सकता है, अतएव जिस प्रकार से ये संख्या में बहुत होते हैं वैसा कोई उपाय कराता हूँ, ऐसा सोचकर राजा ने उसे वनपाल को दे दिया और उससे कहा कि हे भद्र! जिस प्रकार से यह आम्रफल

बहुत फलों को देने वाला होता है वैसा कार्य करो – इसे ले जाकर तुम अपने किसी वन में लगा दो।।35-37।।

यह सुनकर वृक्षों के बढ़ाने में निपुण उस वनपाल ने राजा को नमस्कार करके उसे ले लिया और यह कहकर कि ऐसा ही करता हूँ, उसने उसे विधिपूर्वक वन के भीतर लगा दिया और बढ़ाने लगा।।38।। इस प्रकार से उस आम्रवृक्ष ने सज्जन के समान शीघ्र ही महानता का रूप धारण कर लिया; जिस प्रकार सज्जन बहुत से फूलों से पूजा आदि से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि के उत्पादक पुण्य से युक्त होता है, उसी प्रकार वह वृक्ष भी बहुत से आम्र फलों से व्याप्त हो गया था, जिस प्रकार सज्जन मनुष्य प्राणियों को आनन्दित किया करता है, उसी प्रकार वह वृक्ष भी प्राणियों को आनन्दित करता था तथा जिस प्रकार सज्जन समीचीन छाया (कान्ति) से सुशोभित होता है उसी प्रकार वह विशाल वृक्ष भी समीचीन छाया से सुशोभित था।।39।।

उस समय एक पक्षी सर्प को ले जा रहा था। भाग्यवश उसकी चर्बी उक्त आम्र वृक्ष के एक फल के ऊपर गिर गयी।।40।। सब प्रकार से निन्दनीय उस चर्बी के संयोग से वह नेत्रों को आनन्द देने वाला मनोहर फल इस प्रकार से पक गया, जिस प्रकार से जरा के संयोग से यौवन पक जाता है।।41।। विष के ताप से सन्ताप को प्राप्त होकर वह फल शीघ्र ही इस प्रकार से पतित हो गया – गिर गया, जिस प्रकार कि अतिशय भयानक अन्याय से प्रतिष्ठित महान् कुल पतित हो जाता है – निन्द्य बन जाता है।।42।। सब इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले उस पके हुए फल को मन में सन्तुष्ट वनपाल ने लाकर राजा को दिखलाया।।43।।

राजा ने विकल होते हुए (शीघ्रता से) विष से व्याप्त उस दूषित मनोहर आम के फल को देखकर युवराज के लिए दे दिया।।44।। तब राजपुत्र ने 'यह आपका बड़ा अनुग्रह है' कहते हुए भयानक कालकूट विष के समान प्राणघातक उस फल को लेकर शीघ्र ही खा लिया।।45।। उसके खाते ही वह राजपुत्र प्राणों से रहित हो गया, मर गया। ठीक है, *की गयी दुष्ट की सेवा* (दूषित वस्तु का उपभोग) *भला किसके प्राणों का अपहरण नहीं करती है?* वह सब ही के प्राणों का अपहरण किया करती है।।46।। तब राजा ने इस प्रकार से मरण को प्राप्त हुए राजपुत्र को देखकर क्रोधरूप अग्नि से सन्तप्त होते हुए उद्यान की शोभास्वरूप उस आम्रवृक्ष को कटवा डाला।।47।।

उस समय जो लोग खाँसी, शोष (यक्ष्मा), कोढ़, छर्दि, शूल और क्षय आदि दु:सह रोगों से पीड़ित होकर जीवन से विरक्त हो चुके थे, उन लोगों ने जब यह सुना कि राजा ने विषमय आम्र के वृक्ष को कटवा डाला है, तब उन सबने मरने की इच्छा से उसके फलों का लेकर खा लिया।।48-49।। उनके खाते ही वे सब शीघ्र उपर्युक्त समस्त रोगों से रहित होकर कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाले हो गये।।50।। जब राजा ने उक्त वृक्ष की रोग-नाशकता (या कल्पवृक्षरूपता) को सुना तो उसने उक्त रोगियों को बुलाकर आश्चर्यपूर्वक प्रत्यक्ष में देखा कि उनके वे दु:साध्य रोग सचमुच ही नष्ट हो गये हैं। इससे उसे वृक्ष के कटवा डालने पर बहुत पश्चात्ताप हुआ।।51।।

तब राजा सोचने लगा कि वह वृक्ष चक्रवर्ती के समान महान् अभ्युदय से सम्पन्न था - जिस प्रकार चक्रवर्ती अनेक प्रकार के पत्रों (हाथी, घोड़ा एवं रथ आदि वाहनों) से सहित होता है, उसी प्रकार वह वृक्ष भी अनुपम पत्रों (पत्तों) से सहित था, यदि चक्रवर्ती पृथ्वीमण्डल से मण्डित होता है - उस पर एक छत्र राज्य करता है, तो वह वृक्ष भी पृथ्वीमण्डल-मण्डित था, पृथ्वीमण्डल को सुशोभित करता था तथा जिस प्रकार चक्रवर्ती मनुष्यों की आशाओं को पूर्ण करता है, उसी प्रकार वह वृक्ष भी उनकी आशाओं को पूर्ण करने वाला था। इस प्रकार जो वृक्ष पूर्णतया चक्रवर्ती की समानता को प्राप्त था, उस उन्नत वृक्ष को क्रोध से अन्धे होकर विवेक-बुद्धि को नष्ट करते हुए मैंने कैसे जड़-मूल से नष्ट कर दिया। तथा मैंने दुर्बुद्धिवश कुछ भी विचार न करके उसके उस विषैले फल को राजकुमार को क्यों दिया और यदि अविवेक से दे भी दिया था, तो फिर उस रोगनाशक आम्रवृक्ष को कटवा क्यों दिया?।।52-54।। इस प्रकार वह राजा मन में दुर्निवार वज्राग्नि के समान उसके पश्चात्ताप से बहुत काल तक सन्तप्त रहा।।55।।

जो मनुष्य पूर्वापर विचार न करके कार्यों को करता है, वह उस आम्रवृक्ष के घातक राजा के समान महान् पश्चात्ताप को प्राप्त होता है।।56।। *जो दुर्बुद्धि मनुष्य बिना विचारे काम को करता है, उसका अभीष्ट शीघ्र ही पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है।।57।। जिस अविवेकी जीव का चित्त क्रोध से हरा जाता है, उसके दोनों ही लोकों में सब दु:ख हस्तगत होते हैं।।58।।* इस प्रकार अविवेकी मनुष्य के दुर्निवार दोष को जानकर हृदय में दोनों लोकों में सुखप्रद विवेक को धारण करना चाहिए।।59।। *जो विद्वान् अपने हित का इच्छुक है उसे निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, बल और योग्य-अयोग्य आदि बातों का विचार अवश्य करना चाहिए।।60।।*

मनुष्य और पशुओं में केवल यही भेद है कि मनुष्य विचारशील होते हैं और पशु उस विचार से रहित होते हैं।।61।।

इस प्रकार से मैंने विचारहीन आम्रघाती पुरुष की सूचना की है। अब इस समय क्षीर पुरुष के स्वरूप को कहता हूँ, उसे सावधानता से सुनिए।।62।।

7. क्षीर मूर्ख तोमर की कथा

छोहार देश में समुद्र सम्बन्धी वृत्तान्त का जानकार (अथवा सामुद्रिक शास्त्र का वेत्ता) एक प्रसिद्ध सागरदत्त नाम का वैश्य था। वह जल यात्रा में तत्पर हुआ।।63।। एक समय वह जहाज पर चढ़कर नक्र, मगर और ग्राह आदि जल जन्तुओं से व्याप्त समुद्र को पार करके चौल द्वीप में पहुँचा।।64।। जाते समय वह अपने साथ **जिनवाणी के समान सुखप्रद** एक दूध देने वाली कामधेनु (गाय) को ले गया।।65।। वहाँ जाकर व्यवहार में चतुर उस सागरदत्त वैश्य ने भेंट को आगे रखते हुए उक्त द्वीप के स्वामी तोमर राजा का दर्शन किया।।66।। दूसरे दिन उक्त वैश्य ने अमृत के समान स्वादिष्ट और शरीर में कान्ति को देने वाली खीर को ले जाकर उस तोमर राजा से भेंट की।।67।। तत्पश्चात् किसी दूसरे समय में उसने अमृत के समान दुर्लभ सुन्दर शालि-धान के उत्कृष्ट भात को दही से संस्कृत करके उस राजा को दिया और उसका दर्शन किया।।68।।

तोमर राजा को इस प्रकार का उज्ज्वल मीठा भोजन पहले कभी नहीं मिला था, इसलिये उसे खाकर उसके मन में बहुत हर्ष हुआ। तब उसने सागरदत्त से पूछा कि हे वैश्यराज! तुम्हें इस प्रकार का दिव्य भोजन कहाँ से प्राप्त होता है। इसके उत्तर में सागर दत्त ने कहा कि मुझे ऐसा भोजन कुलदेवी देती है।।69-70।। यह सुनकर उस म्लेच्छराज (तोमर) ने सागरदत्त वैश्य से कहा कि हे भद्र! तुम अपनी इस कुलदेवी को मुझे दे दो।।71।। इस पर सागरदत्त बोला कि हे इस द्वीप के स्वामिन्! यदि तुम मुझे मनचाहा द्रव्य देते हो तो मैं तुम्हें अपनी उस कुलदेवी को दे सकता हूँ।।72।। वैश्य के इस प्रकार उत्तर देने पर उक्त द्वीप के स्वामी ने कहा कि हे भद्र! तुम जरा भी सन्देह मत करो। तुम अपनी इच्छानुसार धन ले लो और उस कुलदेवता को मुझे दे दो।।73।। तदनुसार सागरदत्त वैश्य ने तोमर से इच्छानुसार द्रव्य लेकर उस गाय को उसे सौंप दिया। तत्पश्चात् वह जहाज से समुद्र को पार करके वहाँ से चला गया।।74।।

दूसरे दिन तोमर ने गाय के आगे बरतन को रखकर उससे कहा कि जो भोजन तू उस वैश्य को दिया करती है उस दिव्य भोजन को मुझे दे।।75।। उसके इस प्रकार कहने पर वह गाय चुपचाप इस प्रकार से अवस्थित रही, जिस प्रकार कि मूर्ख कामी के कहने पर चतुर स्त्री (या वेश्या) अवस्थित रहती है।।76।। इस प्रकार गाय को कुछ न कहते हुए देखकर राजा ने फिर से उससे कहा कि हे कुलदेवते! प्रसन्न होकर मुझे दिव्य भोजन दे और भक्त के कहने को कर।।77।।। उसको फिर भी मौन स्थित देखकर वह उससे बोला कि हे देवी! तू आज सेठ का स्मरण करती हुई निराकुलता से स्थित रह और सवेरे मुझे भोजन दे।।78।। दूसरे दिन वह उसके आगे विशाल थाली को रखकर बोला कि तू अब स्वस्थ हो गयी है, अतएव मुझे इस समय इच्छित भोजन दे।।79।। उस समय भी जब वह मौन से ही स्थित रही, तब उसके इस मौन को देखकर तोमर के मन में बहुत क्रोध हुआ। इससे उसने सेवकों को आज्ञा देकर उसे द्वीप से बाहर निकलवा दिया।।80।।

इस तोमर की मूर्खता को देखो कि जो यह भी नहीं जानता है कि माँगने पर गाय कभी किसी को भी दूध नहीं दिया करती है।।81।। उस मूर्ख म्लेच्छ ने दूध देने वाली उत्तम गाय को व्यर्थ ही निकलवा दिया। ठीक है, अज्ञानी जन के हाथ में आया हुआ महान् प्रयोजन को सिद्ध करने वाला रत्न व्यर्थ ही जाता है।।82।। गाय अपने पास में स्थित निर्मल दूध को प्रक्रिया (नियम) के बिना नहीं दिया करती है। ठीक है, पत्थर में अवस्थित सोना क्रिया के बिना प्रकट अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ करता है।।83।।

यह कार्य समूह किस प्रकार से सिद्ध हो सकता है तथा इसके सिद्ध करने में किस प्रकार से हानि और किस प्रकार से वृद्धि हो सकती है – इस प्रकार का जो विचार नहीं करता है, वह दोनों ही लोकों में निरन्तर दुःख को प्राप्त होता है।।84।। जो अधम मनुष्य अभिमान में चूर होकर मन में श्रेष्ठ विचार नहीं करता है, वह उस म्लेच्छ के समान गर्व से रहित होता हुआ अपने कार्य को नष्ट करता है। ऐसे मनुष्य का विद्वान् परित्याग किया करते हैं।।85।। उस बुद्धिहीन (मूर्ख) म्लेच्छ राजा ने गाय को असह्य पीड़ा पहुँचायी। ठीक है, *जो जन मूर्ख की संगति करते हैं, वे सब प्रकट में उन समस्त दोषों को प्राप्त होते हैं, जिनका किसी भी प्रकार से निवारण नहीं किया जा सकता है।।86।।*

मूर्खता के समान दूसरा कोई अन्धकार नहीं है, ज्ञान के समान दूसरा कोई प्रकाश नहीं है, जन्म के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है तथा मोक्ष के समान अन्य कोई बन्धु नहीं

है।।87।। सूर्य की उष्ण किरण में कदाचित् अन्धकार का निवास हो जाये, अग्नि में कदाचित् शीतलता हो जाये तथा चन्द्रमा की शीतल किरण में कदाचित्त् सन्ताप उत्पन्न हो जाये, परन्तु मूर्ख मनुष्य में कभी भले-बुरे का विचार नहीं हो सकता है।।88।। *व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं से परिपूर्ण वन में रहना उत्तम है, सर्पराज की सेवा करना श्रेष्ठ है तथा वज्राग्नि का समागम भी योग्य है, परन्तु मूर्ख मनुष्य की क्षणभर भी सेवा करना योग्य नहीं है।।89।।*

जिस प्रकार अन्धे के आगे नाचना व्यर्थ होता है, बहिरे के आगे गाना व्यर्थ होता है, कौवे को शुद्ध करना व्यर्थ होता है, मृतक (मुर्दा) को भोजन कराना व्यर्थ होता है तथा नपुंसक के लिए स्त्री का पाना व्यर्थ होता हैं, उसी प्रकार मूर्ख के लिए दिया गया सुखकर रत्न भी व्यर्थ होता है।।90।। जिस मूर्ख म्लेच्छ ने उत्तम धन देकर उस गाय को तो ले लिया, परन्तु यह नहीं पूछा कि यह गाय मुझे दूध कैसे देगी; उसके समान और दूसरा कोई मूर्ख नहीं है।।91।। जो मूर्ख धन को देकर बिना कुछ पूछे ही वैश्य के धन [वस्तु] को लेता है, वह वन के भीतर अभीष्ट वस्तु के लेने के लिए चोरों को अमूल्य रत्न देता है, ऐसा मैं समझता हूँ।।92।। इसलिए *जो सज्जन दोनों ही लोकों में सुख को चाहते हैं, उन्हें मान को छोड़कर विनम्रतापूर्वक जिन कामों का ज्ञान नहीं है उनके विषय में पहले अनुभवीजनों से पूछना चाहिए और तब कहीं उन सब कामों को नियमपूर्वक करना चाहिए।।93।।*

जो दुर्बुद्धि जन राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, लोभ और अज्ञानता के कारण विचार नहीं करते हैं, वे अपने मस्तक पर वज्र को पटकते हैं।।94।। जो मूर्ख दुर्भेद्य अभिमानरूप पर्वत के शिखर पर चढ़कर दूसरे से नहीं पूछता है, वह चोच (या चोल) द्वीप के अधिपति उस तोमर राजा के हाथ में प्राप्त हुए पवित्र दूध के समान अपने हाथ में आये हुए निर्मल रत्न को दूर करता है।।95।। जो प्राणी विनयपूर्वक दूसरे से पूछकर उसके सम्बन्ध में भली-भाँति विचार करते हुए मन में योग्य-अयोग्य का पूर्व में निश्चय करते हैं और तत्पश्चात् निरन्तर समस्त कार्य को किया करते हैं, वे अपनी कीर्ति को विस्तृत करके प्रथमत: मनुष्य और देवगति के सुख को प्राप्त करते हैं और फिर अन्त में केवलज्ञान से विभूषित होकर समस्त आपदाओं से मुक्त होते हुए मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।।96।।

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्म परीक्षा में सातवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।7।।

आठवाँ परिच्छेद

तोमर म्लेच्छ ने प्राप्त हुए दूध को किस प्रकार से नष्ट किया, इसकी कथा कही जा चुकी है। अब अज्ञानी ने अगुरु चन्दन को पाकर-के उसे किस प्रकार से नष्ट किया है, इसकी कथा कही जाती है।।1।।

8. अगुरु मूर्ख हालिक की कथा

मगध देश के भीतर एक प्रसिद्ध गजरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह शत्रु रूप मदोन्मत्त हाथियों के कुम्भस्थल को खण्डित करने के लिए सिंह के समान था।।2।। क्रीड़ा में अतिशय अनुराग रखने वाला वह राजा एक दिन उस क्रीड़ा के निमित्त से नगर के बाहर निकला और सेना को छोड़कर दूर निकल गया। उस समय उसके साथ दूसरा मन्त्री था।।3।। राजा ने वहाँ आगे एक सेवक को देखकर मंत्री से पूछा कि यह मनुष्य कौन है तथा वह किसका सेवक और किसका पुत्र है, यह मुझे कहिए।।4।। इसके उत्तर में मंत्री बोला कि राजन्! 'हालिक' इस नाम से प्रसिद्ध यह आपके प्रधान हरि का पुत्र व आपका सेवक है। कष्ट सहकर आपके चरण-कमलों की सेवा करते हुए इसके बारह वर्ष पूर्ण हो रहे हैं।।5-6।।

इस उत्तर को सुनकर राजा ने मंत्री से कहा कि हे सत्पुरुष! आपने इसके उस क्लेश के कारण को जो मुझसे नहीं कहा है, यह विरुद्ध कार्य किया है, अच्छा नहीं किया। भो मन्त्रिन्! कौन सैनिक क्लेश सह रहा है और नहीं सह रहा है तथा कौन सेवाकार्य को कर रहा है और कौन उसे नहीं कर रहा है, इस सबकी जानकारी प्राप्त करके मंत्री को राजा से कहना चाहिए। साधुसमूह को निरन्तर स्वाध्याय का, कुलीन स्त्री को गृहस्वामी (पति) के कार्य का तथा मंत्री को सदा राजा के कार्य का चिन्तन करना चाहिए।।7-9।।

तत्पश्चात् राजा ने मन में हर्षित होकर उस हालिक से कहा कि हे भद्र! मैं तुम्हें शंखराढ़ नाम के मटम्ब (500 ग्रामों में प्रधान - तिलोय पण्णत्ति, 4-1399) को देता हूँ, तुम उस उत्तम मटम्ब को स्वीकार करो। हे भद्र! दूसरे कल्पवृक्षों के ही समान मानो अभीष्ट वस्तु को प्रदान करने वाले पाँच सौ ग्रामों से संयुक्त इस मटम्ब को तुम ग्रहण करो।।10-11।। राजा के इस वचन को सुनकर हालिक बोला कि हे देव! मैं अकेला ही हूँ, अतएव इन बहुत से

ग्रामों के द्वारा मैं क्या करूँगा? इस प्रकार से दिये जाने वाले हजारों ग्रामों का ग्रहण तो उसके लिए योग्य हो सकता है, जिसकी रक्षा करने वाले पदचारी सैनिक विद्यमान हैं।।12-13।।

यह सुनकर राजा ने उससे कहा कि हे भद्र! उन मनोहर ग्रामों के आश्रय से सब ग्रामों की रक्षा करने वाले सेवक स्वयं हो जायेंगे। इसका कारण यह है कि ग्रामों के आश्रय से धन उत्पन्न होता है, धन के निमित्त से सेवकरूप सम्पत्ति होती है और सेवकों के द्वारा राजा होकर सेवित होता है। ठीक है, धन से उत्कृष्ट और दूसरा कुछ भी नहीं है - लोक में सर्वोत्कृष्ट धन ही है।।14-15।। मनुष्य धन के आश्रय से कुलीन, विद्वान्, आदर का पात्र, पराक्रमी, न्यायनिपुण, चतुर, धर्मात्मा और सबका स्नेह भाजन होता है।।16।। योगी, वचनपटु, चतुर, वृद्ध और शास्त्र के रहस्य के ज्ञाता - ये सब ही जन खुशामद करते हुए धनिक की भक्तिपूर्वक सेवा किया करते हैं।।17।।

लक्ष्मीवान् पुरुष के पाँव, हाथ और नासिका यदि सड़-गल भी रही हों तो भी नवीन यौवन से सुशोभित स्त्रियाँ उसका आलिंगन करके सोती हैं।।18।। जिसके घर में सम्पत्ति रहती है उसके सब ही जन आज्ञाकारी, सब ही उसके हितकर और सब ही उसकी अधीनता के कहने वाले (उसके वशीभूत) होते हैं।।19।। जिसको सम्पत्ति ने अपना घर बना लिया है (जो सम्पत्ति का स्वामी है) वह यदि मूर्ख भी हो तो उसकी विद्वान् प्रशंसा करता है, वह यदि कायर हो तो भी उसकी शूरवीर सेवा किया करता है, वह पापी भी हो तो भी धर्मात्मा उसकी स्तुति करता है।।20।। चक्रवर्ती, नारायण (अर्धचक्री) और बलभद्र ये सब ग्रामों के प्रसाद से - ग्राम-नगरादिकों के स्वामी होने से - ही अनुपम लक्ष्मी के स्वामी होकर महिमा को प्राप्त हुए हैं।।21।।

राजा के उपर्युक्त वचनों को सुनकर हालिक बोला कि हे देव! आप कृपा कर मुझे एक ऐसा खेत दे दीजिए जो सदा जोता व बोया जा सकता हो तथा वृक्षों एवं झाड़ियों से रहित हो।।22।। इस पर राजा ने विचार किया कि यह अपने हित को नहीं समझता है। अथवा ठीक भी है, हल चलाने वाले पामरों के भला निर्मल बुद्धि कहाँ से हो सकती है? नहीं हो सकती है।।23।। तत्पश्चात् राजा ने मंत्री से कहा कि हे भद्र! इसे अगुरु-चन्दन का खेत दे दीजिए, जिससे यह बेचारा लकड़ी को बेचकर आजीविका कर सकेगा।।24।। तदनुसार मंत्री ने उसे कल्पवृक्षों के समान अभीष्ट वस्तुओं को प्रदान करने वाले अगुरुवृक्षों से व्याप्त खेत को दिखलाया।।25।।

उसे देखकर हालिक ने इस प्रकार विचार किया कि इस लोभी राजा ने सन्तुष्ट होकर अनेक प्रकार के वृक्षों से व्याप्त कैसे खेत को दिया है, मुझे अनेक वृक्षों से व्याप्त ऐसा खेत नहीं चाहिए था, मैंने तो वृक्ष-वेलियों से रहित खेत को माँगा था।। 26।। मैंने ऐसे खेत को माँगा था जो सदा जोता जा सकता हो (या मृदु हो), अंजन के समान कृष्ण वर्ण वाला हो, विस्तृत हो, चूहों आदि के उपद्रव से रहित हो तथा छिन्न-भिन्न हो। परन्तु राजा ने इसके विपरीत ही खेत दिया है।।27।। अब मैं इसी खेत को लेकर उसे स्वयं उत्तम बनाऊँगा। यदि राजा इसको भी न देता तो मैं क्या कर सकता था।।28।।

इस प्रकार विचार करके उसने राजा का आभार मानते हुए उस खेत को ले लिया। तत्पश्चात् वह मूर्ख हालिक घर आया और तीक्ष्ण कुठार को लेकर उस खेत पर जा पहुँचा।।29।। इस प्रकार उसने उक्त खेत में भौंरों को आकृष्ट करने वाली सुगन्ध से दिङ्मण्डल को सुगन्धित करने वाले, ऊँचे, सीधे, सत्पुरुषों के समान सेवनीय, सुखप्रद, दुर्लभ व धन को देने वाले जो अगुरु के वृक्ष थे, उनको काटकर जला डाला। ठीक है, विवेक-बुद्धि से रहित किसान कहीं पर भी उत्तम कार्य नहीं कर सकते हैं।।30-31।। जिस प्रकार न्याय-नीति से रहित कोई मनुष्य सुन्दर भवन को कृषि के योग्य बना देता है - उसे धराशायी कर देता है, उसी प्रकार उस मूर्ख हलवाहक ने उस खेत को निर्मल हथेली के समान शीघ्र ही खेती के योग्य बना दिया।।32।।

तत्पश्चात् उन अगुरु के वृक्षों को काटकर विशुद्ध किये गये उस खेत को उसने हर्षपूर्वक राजा को दिखलाया। ठीक है, *अभिमानी नीच मनुष्य अज्ञानता से भी सन्तुष्ट हुआ करते हैं।।33।।* खेत की उस दुरवस्था को देखकर राजा ने उस हलवाहक से पूछा कि तुमने इस प्रकार के खेत में क्या बोया है। इस पर उसने उत्तर दिया कि हे राजन्! इसको भली-भाँति जोतकर मैंने उसमें महान् फल को देने वाले कोदों बोये हैं।।34।। तब उसकी दुर्बुद्धि को देखकर राजा ने हलवाहक से कहा कि हे कृषक! यहाँ जलाये गये उन वृक्षों का क्या कुछ अवशेष है?।।35।। इस पर उसने जलने से बचे हुए अगुरु वृक्ष के एक हाथ प्रमाण टुकड़े को लाकर राजा को दिखलाया। उसे देखकर राजा ने उससे कहा कि हे भद्र! तुम इसे लेकर शीघ्र जाओ और बाजार में बेच डालो। यह सुनकर कृषक ने कहा कि हे देव! इस लकड़ी का क्या मूल्य होगा।।36-37।। इसके उत्तर में राजा ने हँसकर उस बुद्धिहीन से कहा कि दुकानदार इसका जो भी मूल्य तुम्हें देगा, उसे ले लेना।।38।। तदनुसार वह उस लकड़ी के टुकड़े को बाजार

में ले गया। उसे देखकर दुकानदार ने उसे उसका मूल्य पाँच दीनार दिया।।39।।

तत्पश्चात् वह हलवाहक विषादरूप अग्नि से सन्तप्त होकर इस प्रकार विचार करने लगा। ठीक है, *जो बिना जाने-पूछे कार्य को करता है उसे सन्ताप होता ही है।।40।।* उसने विचार किया कि उन वृक्षों के एक ही टुकड़े को बेचने से यदि इतना धन प्राप्त होता है तो उन सब ही वृक्षों के मूल्य को कौन आँक सकता है, उनसे अपरिमित धनराशि प्राप्त की जा सकती थी। राजा ने मुझे निधि के समान उस विस्तृत खेत को दिया था, किन्तु खेद है कि मुझ जैसे अज्ञानी व पापी ने उसे यों ही नष्ट कर दिया। यदि मैंने प्रयत्नपूर्वक उन वृक्षों की रक्षा की होती तो मुझे उनसे जीवन-पर्यन्त सुख को सिद्ध करने वाला धन प्राप्त होता।।41-43।। इस प्रकार से वह हलवाहक दीर्घकाल तक पश्चात्तापरूप अग्नि से सन्तप्त रहा जैसे कि अनिवार्य व दु:सह काम से विरही मनुष्य सन्तप्त रहा करता है।।44।।

जो निकृष्ट मनुष्य बहुत आरम्भ के द्वारा धन को प्राप्त करके नष्ट कर देता है, वह उस पामर के समान निरन्तर दुर्निवार पश्चात्ताप को प्राप्त होता है।।45।। जो नष्टबुद्धि सार व असारभूत वस्तुओं को नहीं जानता है वह दूसरों को दुर्लभ - ऐसे हाथ में प्राप्त हुए रत्न को नष्ट करता है, यह समझना चाहिए।।46।। जो हेय और उपादेय वस्तुओं का विचार नहीं करता है, वह मूर्ख मानो सुवर्णमय हल से आक के मूल (अथवा तूल=रुई) के लिए भूमि को जोतता है।।47।। हे विप्रो! यदि यहाँ उस हलवाहक के समान सार व असार का विचार न करने वाला कोई है तो मैं पूछे जाने पर भी कहने के लिए डरता हूँ।।48।। इस प्रकार मैंने आप लोगों से दुर्लभ अगुरुवृक्षों को काटकर जलाने वाले उस अविवेकी हलवाहक की कथा कही है। अब इस समय चन्दन-त्यागी के वृत्त को कहता हूँ, उसे सुनिए।।49।।

9. चन्दन-त्यागी मूर्ख धोबी की कथा

कुरु (उत्तर भोगभूमि) के समान सुख के आधारभूत व पूजनीय मध्यदेश के भीतर मथुरा नगरी में एक शान्तमना नाम का राजा था।।50।। एक समय जिस प्रकार दुर्निवार ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी सूर्य के ताप से पीड़ित होकर हाथी व्याकुल होता है उसी प्रकार वह राजा पित्तज्वर से पीड़ित होकर व्याकुल हुआ।।51।। जिस प्रकार अतिशय थोड़े पानी में स्थित मत्स्य सूर्य के द्वारा सन्तप्त होकर तड़पता है उसी प्रकार वह उस तीव्र ज्वर से सन्तप्त होकर

कोमल शय्या के ऊपर तड़प रहा था।।52।। उसके इस पित्तज्वर की यद्यपि शक्तिशाली औषधियों के द्वारा चिकित्सा की जा रही थी, फिर भी वह दुर्विनाश ज्वर उत्तरोत्तर इस प्रकार बढ़ रहा था जिस प्रकार कि लकड़ियों के द्वारा अग्नि बढ़ती है।।53।।

आठ प्रकार की चिकित्सा के जानने वाले वैद्य भी उसके उस ज्वर के सिद्ध करने में (उसके दूर करने में) इस प्रकार समर्थ नहीं हुए जिस प्रकार कि सज्जन मनुष्य दुर्जन के सिद्ध करने में (उसे वश करने में) समर्थ नहीं होते हैं।।54।। राजा के शरीर में बढ़ते हुए उस दाह को देखकर मंत्री ने मधुरा (मथुरा) में सब ओर यह घोषणा करा दी कि जो कोई राजा के शरीर से उस दाह को नष्ट कर देगा, उसे धन्यवादपूर्वक सौ ग्राम दिये जायेंगे। इसके साथ ही उसे उत्तम हार, दुर्लभ कटिसूत्र और राजा के द्वारा पहने हुए दो वस्त्र भी दिये जायेंगे।।55-57।।

तब एक वैश्य चन्दन की लकड़ी लेने के लिए नगर के बाहर गया। भाग्यवश उसे एक चन्दन की लकड़ी वहाँ धोबी के हाथ में दिखाई दी।।58।। उसने भौंरों से व्याप्त उस लकड़ी को गोशीर्ष चन्दन की जानकर धोबी से पूछा कि हे भद्र! तूने यह नीम की लकड़ी कहाँ से प्राप्त की है।।59।। इसके उत्तर में धोबी ने कहा कि यह मुझे नदी के जल में बहती हुई प्राप्त हुई है। इस पर वैश्य ने कहा कि तू इसके बदले में दूसरी लकड़ियों के समूह को लेकर उसे मुझे दे दे।।60।। यह सुनकर 'हे सज्जन! तुम इसे ले लो, इसमें क्या हानि है' यह कहते हुए उस विवेकशून्य धोबी ने बदले में अन्य लकड़ियों के समुदाय को लेकर वह लकड़ी वैश्य को दे दी।।61।।

तत्पश्चात् उस बुद्धिमान वैश्य ने शीघ्र आकर उस लकड़ी को घिसा और उस चन्दन से राजा के शरीर को सब ओर से लिप्त कर दिया।।62।। उसके स्पर्श से राजा का वह समस्त ज्वर इस प्रकार नष्ट हो गया जिस प्रकार कि अभीष्ट कान्ता के स्पर्श से वियोगी जनों का दुर्विनाश कामज्वर नष्ट हो जाता है।।63।। तब राजा ने घोषणा के अनुसार वैश्य को ग्रामादि को देकर वस्तुतः उसकी पूजा की। ठीक ही है, श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा किया गया उपक्रम कल्प वृक्ष के समान फलप्रद हुआ करता है।।64।।

इस प्रकार उस लकड़ी के प्रभाव से वैश्य की उक्त पूजा को सुनकर धोबी शोक से अतिशय सन्तप्त हुआ, तब वह अपना सिर पीटकर विलाप करने लगा।।65।। वह आकर बोला कि यही वह परिचित वैश्य है। खेद है कि इसने मुझे मूर्ख बनाकर दुरात्मा यम के समान

कैसे ठग लिया, इसने नीम कहकर मेरे गोशीर्ष चन्दन को कैसे ले लिया। निश्चय से ये असत्यभाषी वैश्य यमराज को भी ठग सकते हैं।।66-67।। इस प्रकार वह धोबी महान् शोक से रात-दिन सन्तप्त रहा। ठीक है, *अज्ञान में वर्तमान - बिना विचारे कार्य करने वाले - मनुष्यों के सुख की स्थिति कैसे हो सकती है?* नहीं हो सकती है।।68।। वह वैश्य एक नीम की लकड़ी के लिए लकड़ियों के समूह को कैसे देता है, इस परिवर्तन को धोबी नहीं जान सका।।69।।

यह अज्ञानरूप अन्धकार न तो सूर्य की किरणों द्वारा भेदा जा सकता है और न चन्द्र की किरणों द्वारा भी नष्ट किया जा सकता है। इसीलिए इस दुर्निवार अज्ञान को उस लोकप्रसिद्ध अन्धकार से भी उत्कृष्ट अन्धकार समझना चाहिए।।70।। इसका कारण यह है कि अन्धकार से विमूढ़ मनुष्य यद्यपि आँख से वस्तुस्वरूप को नहीं देखता है, फिर भी वह अन्त:करण से तो वस्तुस्वरूप को देखता ही है। परन्तु *जिसका मन अज्ञानता से मुग्ध है, वह उस वस्तुस्वरूप को न अन्त:करण से देखता है और न आँख से भी देखता है।।71।।*

अतएव हे विप्रो! बहुत-सी लकड़ियों से उस चन्दन की लकड़ी का परिवर्तन करने वाले उस धोबी के समान यदि कोई ब्राह्मण आपके मध्य में विद्यमान है तो मैं पूछे जाने पर भी कुछ कहने के लिए डरता हूँ।।72।। इस प्रकार मैंने विवेक-ज्ञान से शून्य होकर चन्दन का परित्याग करने वाले उस धोबी की कथा कही है। अब इस समय अज्ञानादि सब ही दोषों के आश्रयभूत मूर्ख की कथा कही जाती है।।73।।

10. चार बालिश मूर्खों की कथा

कहीं पर चार महामूर्ख क्रीड़ा से जा रहे थे। उन्होंने मार्ग में जिनेश्वर के समान निर्दोष किसी एक मोक्षार्थी साधु को देखा।।74।। वह साधु शूर-वीरों का स्वामी होकर भी निर्दय नहीं था, यह विरोध है (कारण कि शूर-वीर कभी शत्रु के ऊपर दया नहीं किया करते हैं)। उसका परिहार - वह कर्म विजेता होकर भी प्राणि रक्षा में तत्पर था। वह द्वैतवादी होकर भी सच्चा था, यह विरोध है। परिहार - वह अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, नित्य-अनित्य और भेद-अभेद आदि परस्पर विरुद्ध दो धर्मों का नयों के आश्रय से कथन करता हुआ भी यथार्थ वक्ता था। वह दूसरों के चित्त का अपहरण करता हुआ भी चौरकर्म से रहित था - वह व्रत संयमादि

के द्वारा भव्यजनों के चित्त को आकर्षित करता हुआ चौर्यकर्म आदि पापों का सर्वथा त्यागी था; कामदेव से रहित होकर भी अतिशय बलवान् था – सब प्रकार की विषय-वासना से रहित होकर आत्मिकबल से परिपूर्ण था; ग्रन्थ (परिग्रह) को धारण करता हुआ भी उस परिग्रह से रहित था – अनेक ग्रन्थों का ज्ञाता होता हुआ भी दिगम्बर था; मलपूर्ण शरीर को धारण करता हुआ भी मल से रहित था – स्नान का परित्याग कर देने से मलिन शरीर को धारण करता हुआ भी सब प्रकार के दोषों से रहित था; गुप्ति (कारागार या बन्धन) से संयुक्त होता हुआ भी बन्धन से रहित (स्वतन्त्र) था – मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों का धारक होकर भी क्लिष्ट कर्म बन्ध से रहित था; कुरूप होकर भी जनों को प्रिय था – विविध स्वरूप का धारक होकर भी तप संयमादि के कारण जनों के अनुराग का विषय था; महाव्रत (प्राणिरक्षा व्रत) में स्थित होकर भी अन्धे शत्रुओं का संहारक था – अहिंसादि महाव्रतों का परिपालक होकर भी अज्ञानरूप अन्धकार का समूल विनाश करनेवाला था; समस्त झगड़ों से रहित होता हुआ भी युद्धों का प्रवर्तक था – सब प्रकार के विकल्पों से रहित होता हुआ भी ईर्या-भाषादि पाँच समितियों का परिपालन करनेवाला था; प्राणिसमूह का रक्षक होकर भी धनुष से बाणों के छोड़ने में कुशल था – प्राणिसमूह के विषय में दयालु होकर भी धर्म के खोजने में चतुर था तथा सत्य में आरोपितचित्त होकर (चित्त को स्थित करके) भी धर्मवृद्धि का करने वाला था – सत्य भाषण में आरोपितचित्त होकर (चित्त को दृढ़ता से अवस्थित करके) धर्म की वृद्धि करने वाला था।।75-78।।

उक्त साधु समुद्र के समान गम्भीर, सुमेरु के समान अटल, सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रमा के समान कान्तिमान्, सिंह के समान निर्भय, कल्पवृक्ष के समान अभीष्ट को देनेवाला, वायु के समान निष्परिग्रह और आकाश के समान निर्मल था।।79-80।। जिस प्रकार देदीप्यमान अग्नि का सेवन करने वाले प्राणी शीत की बाधा से मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार उस जैसे तेजस्वी साधु की आराधना करनेवाले भव्यजन सम्यग्दर्शन व संयम को नष्ट करके समस्त प्राणिसमूह को पीड़ित करने वाले पापों से क्षणभर में मुक्त हो जाते हैं।।81।।

जिस कामदेव द्वारा बाणों से आहत करके वश में किये गये इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु और महादेव निरन्तर सैकड़ों दु:खों को प्राप्त हुए हैं, उस अतिशय प्रबल कामदेव को उस मुनि ने नष्ट कर दिया था।।82।। जिस मुनि ने देव समूह को जीतने वाले कामदेव को जीत लिया है,

वह हम सबको शीघ्र ही जीत लेगा – ऐसा विचार करके ही मानो बलवान् क्रोधादि शत्रुओं ने अतिशय भयभीत होकर उस महापराक्रमी मुनि की सेवा नहीं की। तात्पर्य यह कि उक्त मुनि ने काम के साथ ही क्रोधादि कषायों को भी जीत लिया था।।83।।

वह मुनि तपों का आराधन करता था, परन्तु अज्ञान अन्धकार की आराधना कभी नहीं करता था; वह धर्म कथाओं का वर्णन तो करता था, किन्तु स्त्रीकथा आदिरूप अप्रशस्त विकथाओं का वर्णन नहीं करता था; वह अनेकों दोषों को तो नष्ट करता था, किन्तु गुणों को नष्ट नहीं करता था तथा उसने निद्रा को तो छोड़ दिया था, किन्तु जिनवाणी को नहीं छोड़ा था।।84।। जिनेन्द्र के समान इन्द्रों व चक्रवर्ती से वन्दित उस मुनि ने समस्त चराचर लोक की स्थिति को जानकर सब ही प्राणियों को प्रतिबोधित कर विश्व का हित करने वाले आगम (उपदेश) को किया था।।85।। वह मुनीन्द्र इन्द्रियों के व्यापार को रोक करके भी समस्त पदार्थ समूह को प्रत्यक्ष देखता था – अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा समस्त पदार्थों को स्पष्टता से जानता था तथा स्थावर व त्रस प्राणियों का संरक्षण करके भी विषय-भोगों का अतिशय खण्डन करता था – इन्द्रिय विषयों को वह सर्वथा नष्ट कर चुका था।।86।।

उपर्युक्त चारों मूर्खों ने उस मुनीन्द्र के उन दोनों चरण-कमलरूप नौका की पृथिवी पृष्ठ पर मस्तक रखकर वन्दना की जो कि गुणों से सम्बद्ध होकर प्राणियों को संसाररूप समुद्र से पार उतारने वाले थे।।87।। तब वृद्धिंगत पापरूप पर्वत को खण्डित करने के लिए वज्र के समान होकर निर्दोष आचरण करने वाले उस मुनीन्द्र ने एक साथ उन चारों के दुःख को नष्ट करके सुख देने वाली धर्मवृद्धि (आशीर्वाद-स्वरूप) दी।।88।। पश्चात् वे चारों मूर्ख उक्त मुनिराज के पास से एक योजन अधिक जाकर उस आशीर्वादस्वरूप धर्मवृद्धि के विषय में परस्पर विवाद करने लगे। ठीक है, विवेक-बुद्धि से रहित प्राणियों के भला इच्छित समस्त फलों को प्रदान करने वाला समीचीन ज्ञान कहाँ से हो सकता है? नहीं हो सकता है।।89।। उनमें-से एक बोला कि साधु ने आशीर्वाद मुझे दिया है, दूसरा बोला कि मुझे दिया है, तीसरा बोला कि नहीं, मुझे साधु ने आशीर्वाद दिया है तथा चौथा बोला कि उसने मुझे आशीर्वाद दिया है। इस प्रकार से विवाद करते हुए उन चारों मूर्खों के मध्य में बहुत समय तक निरंकुश झगड़ा चलता रहा।।90।।

अन्त में किसी एक ने कहा कि अरे मूर्खों! व्यर्थ क्यों झगड़ा करते हो, उसके विषय

में निश्चय करा देनेवाले उसी मुनि से जाकर पूछ लो। कारण यह कि सूर्य के होने पर कभी अन्धकार नहीं रहता है।।91।। उसके इस वचन को सुनकर वे सब मूर्ख मुनीन्द्र के पास जाकर बोले कि हे मुनिश्रेष्ठ! जिस आशीर्वाद को तुमने दिया है, कृपा करके यह कहिए कि वह किसके लिये है।।92।। इस पर मुनिराज बोले कि आप लोगों में जो पूर्णरूप से अतिशय मूर्ख है, उसके लिए वह आशीर्वाद दिया गया है। यह सुनकर वे सब बोले कि मैं सबसे अधिक मूर्ख हूँ, मैं सबसे अधिक मूर्ख हूँ। ठीक है, प्राणी कहीं पर भी तिरस्कार को नहीं सह सकते हैं।।93।। उनके इस दुष्ट उत्तररूप वचन को सुनकर मुनि बोले कि हे मूर्खों! तुम लोग नगर में जाकर पण्डितजनों के वचनों द्वारा अपनी मूर्खता का निर्णय करा लो, यहाँ झगड़ा न करो।।94।। साधु के इस वचन को सुनकर वे सब मूर्ख सन्तोषपूर्वक कलह का परित्याग करके अपरिमित गमन करते हुए शीघ्रता से नगर की ओर चल दिये। ठीक है, पशु भी जब हृदय में हर्षित होकर साधु के वचन को पालन करते हैं – उसके कथनानुसार कार्य किया करते हैं, तब क्या बुद्धिमान् मनुष्य विश्व से पूजित उस मुनि वाक्य का पालन नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे।।95।।

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में आठवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।8।।

साधक की विश्व को चुनौती

.....मेरी अक्षय सत्ता है रे! मैं हूँ अमरपुरी का वासी
सुधा-सिन्धु मेरा जीवन है, नहीं मुक्ति का मैं प्रत्याशी
मर्त्य लोक का मानव करता, मेरे जन्म मृत्यु की बातें
किन्तु अरे! वे तो हैं मेरे जीवन की श्वासें-प्रश्वासें.....

.....पर क्या तुमने सोचा है रे! कितनी गहरी कब्र खोद लो
अमर मरेगा क्या, तुम चाहे धरती का पाताल शोध लो
अविनश्वर की नश्वरता का यत्न सफल कब होगा बोलो? .....

.....रे अबोध! तूने सोचा था खाक हुई चेतन की हस्ती
ओ नादान! चला चेतन तो अपनी नई बसाने बस्ती.....

नौवाँ परिच्छेद

तत्पश्चात् वे चारों मूर्ख नगर में पहुँचकर पुरवासी जनों के समक्ष बोले कि हे नागरिको! आप हम लोगों के व्यवहार के विषय में विचार करें।।1।। इस पर नगरवासियों ने उन मूर्खों से पूछा कि हे भद्र पुरुषो! जिस व्यवहार के विषय में तुम विचार करना चाहते हो, वह व्यवहार किस प्रकार का है। इसके उत्तर में उन लोगों ने कहा कि वह व्यवहार हम लोगों की मूर्खता-विषयक है; हम लोगों में सबसे अधिक मूर्ख कौन है - इसका विचार आपको करना है।।2।। यह सुनकर नगरनिवासी बोले कि इसके लिए तुम लोग अपना-अपना वृत्तान्त कहो। तदनुसार एक मूर्ख बोला कि पहले मेरे वृत्तान्त को सुनिए।।3।।

10. (क) पहले बालिश मूर्ख 'विषमेक्षण' की कथा

मेरे लिए विधाता ने थाली के समान विस्तीर्ण उदरवाली और लम्बे स्तनोंवाली दो स्त्रियाँ दी थीं जो साक्षात् वेताली के समान भयानक थीं।।4।। अभीष्ट सुख को प्रदान करने वाली वे दोनों मुझे प्राणों से भी अतिशय प्यारी थीं। ठीक भी है, समस्त जन के लिए सब ही स्त्रियाँ - चाहे वे सुन्दर हों या कुरूप, अनुरागिणी हों या कलहकारिणी - स्वभाव से ही प्यारी हुआ करती हैं।।5।। मैं उन दोनों स्त्रियों से निरन्तर राक्षसियों के समान डरा करता था। ठीक है, लोक में प्राय: ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो स्त्री से भयभीत न रहता हो, उससे भयभीत प्राय: सब ही रहा करते हैं।।6।। उनके साथ रमण करते हुए मेरा समय सुख से बीत रहा था। एक दिन मैं रात में सुन्दर शय्या के मध्य में सो रहा था। उस समय गुणों की आश्रयभूत ये दोनों प्रियतमाएँ वेग से आयीं और मेरे दोनों हाथों का आलम्बन लेकर - एक-एक हाथ को अपने सिर के नीचे रखकर - दोनों ओर सो गयीं।।7-8।।

सोने के पूर्व मैंने विलास के लिए अपने मस्तक के ऊपर एक दीपक ले रखा था। सो ठीक भी है, कामीजन आगे होने वाली विपत्ति को कभी नहीं देखा करते हैं।।9।। इसी समय एक दुष्ट चूहे ने उस दीपक की बत्ती को ले जाते हुए उसे ऊपर मुँह करके सोते हुए मेरी आँख के ऊपर गिरा दी।।10।। तत्पश्चात् आँख के जलने पर शीघ्र जागृत होकर व्याकुल होते हुए मैंने यह विचार करना प्रारंभ किया कि यदि मैं अपने दाहिने हाथ को खींचकर उससे आग को

बुझाता हूँ तो मेरे दाहिने पार्श्वभाग में सोयी हुई स्त्री क्रुद्ध होगी और यदि दूसरे (बायें) हाथ को खींचकर उससे आग को बुझाता हूँ तो दूसरी स्त्री क्रुद्ध होगी।।11-12।। यह विचार करते हुए मैं स्त्रियों के भय से ग्रस्त होकर तब तक वैसा ही स्थिर होकर पड़ा रहा जब तक कि मेरा बायाँ नेत्र फूट करके काना नहीं हो गया।।13।।

इस प्रकार से जलकर नेत्र के फूट जाने पर वह आग स्वयं शान्त हो गयी। परन्तु भयभीत होने के कारण मैंने उसकी शान्ति के लिए कोई उपाय नहीं किया।।14।। जो स्त्रियों से भयभीत होकर जलते हुए अपने शरीर की उपेक्षा कर सकता है - ऐसा मेरे समान यदि कोई मूर्ख लोक में हो तो उसे आप लोग बतला दें।।15।। स्त्रियों से भयभीत होने के कारण जब से मेरा वह बायाँ नेत्र फूटा है, तब से मेरा नाम 'विषमेक्षण' प्रसिद्ध हो गया है।।16।। लोक में वह कोई दु:ख नहीं है जिसे कि स्त्रियों की इच्छानुसार प्रवृत्ति करने वाले, उनके वशीभूत हुए पुरुष दोनों लोकों में न प्राप्त करते हों। तात्पर्य यह कि मनुष्य स्त्री के वश में रहकर इस लोक और परलोक दोनों में ही दु:सह दु:ख को सहता है।।17।। जो बेचारे स्त्री के वशीभूत होकर अपने नेत्र के जलने पर भी चुपचाप (खामोश) अवस्थित रहते हैं, वे अन्य क्या नहीं कर सकते हैं? अर्थात् वे सभी कुछ योग्यायोग्य कर सकते हैं।।18।।

मनोवेग कहता है कि हे ब्राह्मणो! यदि आप लोगों के मध्य में उस विषमेक्षण के समान कोई है तो मैं पूछे जाने पर भी कहने के लिए डरता हूँ।।19।। इस प्रकार अपनी मूर्खता-विषयक वृत्तान्त को कहकर एक मूर्ख के चुप हो जाने पर दूसरे मूर्ख ने अपनी मूर्खता-विषयक वृत्तान्त को इस प्रकार से कहना प्रारम्भ किया।।20।।

10. (ख) दूसरे बालिश मूर्ख 'कुंठहंसगति' की कथा

अकौवे के फल के समान अधरोष्ठ वाली जो दो स्त्रियाँ मेरे थीं, उन्हें ब्रह्मदेव ने समस्त कुत्सित वस्तुओं को एकत्रित करके निर्मित किया था, ऐसी मुझे शंका है - ऐसा मैं समझता हूँ।।21।। कौड़ी के समान दाँतोंवाली, काली तथा लम्बी जंघाओं, पाँवों और नाक से संयुक्त वे दोनो स्त्रियाँ कँसेरों (काँसे के बर्तन बनाने वालों) की देवी के समान सूखे हाथों व ऊरुकों (जाँघों) [या नखों] से सहित थीं।।22।। कुत्सित अन्न के द्वारा चाण्डाल को मात करनेवाली वे दोनों निन्दनीय स्त्रियाँ भोजन, अपवित्रता और चंचलता से क्रमश: गधी, शूकरी और

काक-स्त्री [कौवी] को जीतकर शोभायमान हो रही थीं।।23।। उनमें अतिशय प्रीति को धारण करती हुई एक प्रियतमा तो मेरे बाँये पाँव को धोया करती थी और दूसरी दाहिने पाँव को धोया करती थी।।24।। 'ऋक्षी' और 'खरी' - इन नामों से प्रसिद्ध उन दोनों स्त्रियों के साथ लीलापूर्वक रमण करके सुख का उपभोग करते हुए मेरा समय जा रहा था। इस बीच प्राणों से भी अतिशय प्यारी ऋक्षी ने प्रसन्नचित्त होकर मेरे एक पाँव को धोया और दूसरे पाँव के ऊपर रख दिया।।25-26।।

यह देखकर खरी ने शीघ्र ही पाँव के ऊपर स्थित उस पाँव को निर्दयतापूर्वक मूसल के प्रहार से आहत करते हुए तोड़ डाला।।27।। इस पर ऋक्षी ने खरी से कहा कि दुराचरण करते हुए धर्मिष्ठा बननेवाली (या युवती) हे खरी! आज तुझे क्या बाधा उपस्थित हुई है जो इस प्रकार का कार्य (अनर्थ) कर रही है।।28।। हे दुष्टे! जिस प्रकार गधी अनेक गधों का उपभोग किया करती है, उसी प्रकार तू हजारों जारों को निरन्तर भोगकर भी पतिव्रता बन रही है।।29।। यह सुनकर खरी ने ऋक्षी से कहा कि हे दुष्टे! तू अपनी माँ के समान अनेक प्रकार से व्यभिचारियों के समूह का स्वयं सेवन करके मुझे दोष देती है।।30।। दुराचरण करके स्वयं निर्दोष बननेवाली हे धूर्त ऋक्षे! मैं तेरे सिर का मुण्डन कराकर और पाँच जटावाली करके सकोरों की माला से पूजा करती हुई तुझे नगर के भीतर घुमाऊँगी।।31।।

इस प्रकार क्रुद्ध हुई राक्षसियों के समान उन दोनों के बीच जो दुर्निवार महाकलह हुआ, वह लोगों के देखने के लिए एक विशेष दृश्य बन गया था।।32।। अन्त में अतिशय क्रोध को प्राप्त होती हुई खरी बोली कि ले अब तेरे उस पाँव की रक्षा तेरी माँ आकर कर ले, ऐसा कहते हुए उसने दूसरे पाँव को तोड़ डाला।।33।। जिस प्रकार क्रुद्ध हुई दो व्याघ्रियों के मध्य में बकरा भय से काँपता हुआ स्थित रहता है, उसी प्रकार मैं भी क्रुद्ध हुई उन दोनों स्त्रियों के इस दुर्व्यवहार से मन में आश्चर्यचकित होता हुआ चुपचाप स्थित रहा।।34।। चूँकि मैंने स्त्रियों से भयभीत होकर अपने पाँव के संयोग की भी उपेक्षा की थी, इसीलिए तब से मेरा नाम 'कुण्ठहंसगति' (हाथ रहित - पंखहीन - हंस जैसी अवस्था वाला, अथवा कुण्ठ - अकर्मण्य - हंस के समान) प्रसिद्ध हो गया है।।35।। उस मेरी मूर्खता को देखो जो मैं स्त्रियों के भय से पीड़ित होकर मौन का आलम्बन लेता हुआ स्थित रहा।।36।।

दुष्ट स्वभाववाली, कुरूप व निन्द्य कुल में उत्पन्न हुई स्त्रियों को अपने सौभाग्य, रूप

और सुन्दरता का जैसा अभिमान होता है, वैसा अभिमान उत्तम स्वभाववाली, सुन्दर, उच्च कुल में उत्पन्न हुई व पापाचरण से रहित धर्मात्मा स्त्रियों को कभी नहीं होता।।37-38।। विद्वान् मनुष्य को ऐसी एक ही स्त्री स्वीकार करना चाहिए जो कुलीन हो, अपने विषय में अनुराग रखती हो, शान्त स्वभाववाली हो, **धर्ममार्ग के अन्वेषण में चतुर हो** तथा अपना हित चाहने वाली हो।।39।। स्त्रियों द्वारा आक्रान्त - उनके वशीभूत - हुआ प्राणी अपने कुल की कीर्ति व सुख को नष्ट करके दु:सह नरक के दु:ख को प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।।40।। लोक में शत्रु, व्याघ्र और सर्प से भयभीत न होने वाले बहुत से मनुष्य हैं, परन्तु ऐसा वहाँ एक भी मनुष्य नहीं देखा जाता जो कि स्त्री से भयभीत न रहता हो।।41।। जो दुर्बुद्धि मनुष्य हस्त (पंख) हीन हंस के समान अवस्था वाले हैं उनके सामने बुद्धिमान् मनुष्य को भाषण नहीं करना चाहिए।।42।।

इस प्रकार अपने वृत्तान्त को कहकर जब वह दूसरा मूर्ख चुप हो गया तब तीसरे मूर्ख ने अपनी बुद्धि के अनुसार उस मूर्खता के सम्बन्ध में कहना प्रारम्भ किया।।43।। वह कहता है कि हे पुरवासियो! अब मैं आप लोगों से अपनी मूर्खता के विषय में कहता हूँ। आप अपने मन को एकाग्र करके उसका निश्चय करें।।44।।

10. (ग) तीसरे बालिश मूर्ख 'बोड़' की कथा

एक बार मैं अपने ससुर के घर जाकर मन को प्रिय लगने वाली स्त्री को ले आया। वह रात में शय्या पर आकर कुछ बोलती नहीं थी। तब मैंने उससे कहा कि हे कृश उदरवाली प्रिये! हम दोनों में से जो कोई पहले भाषण करेगा, वह निश्चयत: घी और गुड़ से परिपूर्ण दस पूवों को हारेगा। उसे सुस्वादु दस पूवे देने पड़ेंगे।।45-46।। इसपर मेरी प्रिय पत्नी ने कहा कि ठीक है, नि:सन्देह ऐसा ही हो। सो यह उचित ही है, क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ कभी पति के वचन के विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं किया करती हैं।।47।।

इस प्रकार हम दोनों प्रतिज्ञाबद्ध होकर मौन से स्थित थे। उधर चोर ने घर में प्रविष्ट होकर समस्त धन का अपहरण कर लिया।।48।। उसने धन का अपहरण करते हुए घर के भीतर कुछ भी शेष नहीं छोड़ा था। ठीक है, छिद्र (योग्य अवसर अथवा दोष - मौन) के होने पर व्यभिचारियों और चोरों की प्रभुता व्याप्त हो जाती है। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार कुछ

दोष पाकर व्यभिचारी जनों का साहस बढ़ जाता है उसी प्रकार उस दोष को (अथवा भित्ति आदि में छेद को भी) पाकर चोरों का भी साहस बढ़ जाता है।।49।।

अन्त में जब चोर ने मेरी प्रिय पत्नी की साड़ी को भी खींचना प्रारंभ कर दिया तब वह बोली कि अरे दुष्ट! तू क्या अब भी उपेक्षा कर रहा है? हे मूर्ख! इस चोर के द्वारा मेरे अधोवस्त्र के खींचे जाने पर भी – मुझे नंगा करने पर भी – तू किस प्रकार जीवित रह रहा है? इससे तो तेरा मर जाना ही अच्छा था। कारण यह कि कुलीन पुरुष तब तक ही जीवित रहते हैं, जब तक कि उनके समक्ष उनकी स्त्री का तिरस्कार नहीं किया जाता है – उसकी लज्जा नहीं लूटी जाती।।50-51।।

उसके इस वचन को सुनकर मैंने हँसकर कहा कि हे प्रिये! तू हार गयी, हार गयी, क्योंकि पहले तू ही बोली है।।52।। हे कमल जैसे नेत्रों वाली! तूने घी और गुड़ से मिश्रित दस पूवों के देने की जो स्वयं प्रतिज्ञा की थी, उन्हें अब मेरे लिए दे।।53।। वह तीसरा मूर्ख कहता है कि हे पुरवासियो! मेरी इस मूर्खता को देखो कि जिसके कारण मैंने पूर्व में कमाये हुए उस सब ही धन को लूट लेने दिया जो दुर्लभ होकर धर्म और सुख को देने वाला था।।54।।

उस समय लोगों ने मेरा नाम 'बोड़' (मूर्ख) प्रसिद्ध कर दिया। ठीक है, *प्राणी मिथ्या-अभिमान के कारण कौन से तिरस्कार या उपहास को नहीं प्राप्त होता है,* सभी प्रकार के तिरस्कार और उपहास को वह प्राप्त होता है।।55।। *प्राणी तिरस्कार के कारण प्राणों का परित्याग कर देता है, परन्तु वह खण्ड-खण्ड किये जाने पर भी अभिमान को नहीं छोड़ता है।।56।। मिथ्या-अभिमानी मनुष्य यदि सब धन के विनाश को सह लेता है तो इससे सत्पुरुषों को कोई आश्चर्य नहीं होता है। कारण कि वह तो उस मिथ्या-अभिमान के वशीभूत होकर नरक के दुःख को भी शीघ्रता से सहता है।।57।।*

मनोवेग कहता है कि हे विप्रो! जो निकृष्ट मनुष्य बोड़ के सदृश मूर्ख होते हैं वे योग्यायोग्य का विचार करने के अधिकारी नहीं होते हैं।।58।। इस प्रकार अपनी मूर्खता का प्रतिपादन करके उस तृतीय मूर्ख के चुप हो जाने पर जब लोगों ने चौथे मूर्ख से अपनी मूर्खता-विषयक वृत्तान्त के कहने को कहा, तब उसने भी अपनी मूर्खता के विषय में इस प्रकार से कहना प्रारम्भ किया।।59।।

10. (घ) चौथे बालिश मूर्ख 'गल्लस्फोटिक' की कथा

एक बार मैं अपनी पत्नी को लेने के लिए ससुर के घर गया था। अभीष्ट सुख का स्थानभूत वह घर मुझे दूसरे स्वर्ग के समान प्रतीत हो रहा था।।60।। वहाँ मुझे मेरी सास ने जो भोजन दिया था, वह उज्ज्वल जिनागम के समान था – जिस प्रकार जिनागम अनेक वर्णों (अकारादि अक्षरों) से व्याप्त है, उसी प्रकार वह भोजन भी अनेक वर्णों (हरित-पीतादि रंगों) से व्याप्त था, जैसे जिनागम स्नेह से परिपूर्ण (अनुराग का विषय) होता है, वैसे ही वह भोजन भी स्नेह से (घृतादि चिक्कण पदार्थों से) परिपूर्ण था तथा जिस प्रकार प्राणियों के मन को आह्लादित (प्रमुदित) करने में वह आगम समर्थ है, उसी प्रकार वह भोजन भी उनके मन को आह्लादित करने में समर्थ था।।61।।

परन्तु दुर्विनाश व दुर्लंघ्य मारी (रोग विशेष – प्लेग) के समान लज्जा को धारण करते हुए मैंने विकलतावश उस प्रिय करनेवाले (हितकर) भोजन को नहीं किया।।62।। मैंने वहाँ ग्रामीण स्त्रियों को मूर्तिमती पीड़ाओं के समान देखकर दूसरे दिन भी भोजन नहीं किया।।63।। इससे तीसरे दिन समस्त शरीर को प्रज्वलित करने वाली व प्रलयकालीन अग्नि के समान भयानक औदर्य अग्नि – भूख की अतिशय बाधा – उद्दीप्त हो उठी।।64।।

तब मैंने धीरे से शय्या के नीचे का भाग देखा। ठीक है, भूख से पीड़ित प्राणी किसके सम्मुख नहीं देखता है? वह उस भूख की पीड़ा को नष्ट करने के लिए जहाँ-तहाँ और जिस-किसी के भी सम्मुख देखा करता है।।65।। वहाँ मैंने आकाश के मध्य में फैली हुई चन्द्र किरणों के समान उज्ज्वल शालि-धान के चावलों से भरा हुआ एक बड़ा बर्तन देखा।।66।। उसे देखकर मैंने घर के द्वार की ओर देखा और उधर जब कोई आता-जाता न दिखा, तब मैंने अपने मुँह को उन चावलों से भर लिया। सो ठीक भी है, जो पेट की अग्नि से (भूख से) सन्तप्त होता है, उसका न्याय मार्ग में अवस्थान कहाँ से सम्भव है? अर्थात् वह उस भूख की बाधा को नष्ट करने के लिए उचित या अनुचित किसी भी उपाय का आश्रय लेता ही है।।67।।

इसी समय वहाँ मेरी प्रिय पत्नी ने प्रवेश किया। उसे देख मन में लज्जा उत्पन्न होने के कारण मैं मुँह के भीतर चावल रहने से गालों को फुलाये हुए वैसे ही स्थित रह गया।।68।। उसने मुझे इस प्रकार से फूले हुए गालों व स्थिर नेत्रों से संयुक्त देखकर महती पीड़ा की आशंका से इसकी सूचना अपनी माँ को कर दी।।69।। सास ने आकर जब मुझे इस अवस्था में देखा

तो उसे मेरे जीवित रहने में शंका हुई, उसने मुझे मरणासन्न ही समझा। सो ठीक भी है, क्योंकि *प्रेम असमय में भी अपने प्रिय की उत्कृष्ट विपत्ति को देखा करता है* – अतिशय अनुराग के कारण प्राणी को अपने इष्टजन के विषय में कारण पाकर अनिष्ट की आशंका स्वभावत: हुआ करती है।।70।।

सास शोक से पीड़ित होकर जैसे-जैसे मेरे गालों को पीड़ित करती – उन्हें दबाती थी, वैसे-वैसे मैं व्याकुलशरीर होकर उन्हें निश्चल करके अवस्थित रह रहा था।।71।। उस समय मेरी प्रिया को रोती हुई सुनकर गाँव की स्त्रियाँ मिल करके आयीं व हजारों रोगों की योजना करती हुई यों बोलीं।।72।। उनमें से एक बोली कि चूँकि दुर्गा-पार्वती आदि माताओं की पूजा नहीं की गयी है, इसीलिए यह दोष उत्पन्न हुआ है; इसका और दूसरा कोई कारण नहीं है।।73।। दूसरी बोली कि यह दोष देवताओं का है, यह स्पष्ट है। इसके बिना इस प्रकार की पीड़ा कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।।74।। तीसरी स्त्री ने बायें हाथ पर मेरे मुख को रखकर दूसरे हाथ को चलाते हुए कहा कि हे माता! यह तो कर्णसूचिका व्याधि है।।75।। इसी प्रकार से किसी ने उसे कफजनित, किसी ने पित्तजनित, किसी ने वातजनित और किसी ने संनिपातजनित दोष बतलाया।।76।।

वे सब स्त्रियाँ व्याकुल होकर इस प्रकार बोल ही रही थीं कि उसी समय एक शाबर वैद्य अपने वैद्यस्वरूप को – आयुर्वेद विषयक प्रवीणता को – प्रकट करता हुआ वहाँ आ पहुँचा।।77।। तब व्याकुलचित्त होकर मेरी सास ने उस वैद्य को तुरन्त बुलाया और मेरे मुखविषयक दोष (रोग) की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निवेदन करते हुए मुझे उसके लिए दिखलाया।।78।। वह शरीर की चेष्टा को जनता था। इसीलिए उसने शंख (अथवा शंख को बजानेवाले पुरुष) के समान फूले हुए व पत्थर के समान कठोर मेरे गालों का हाथ से स्पर्श करके विचार किया कि भूख से पीड़ित होने के कारण इसके मुँह के भीतर कोई वस्तु बिना चबायी हुई रखी गयी है, ऐसी मुझे शंका होती है; क्योंकि इस प्रकार की चेष्टा दूसरे किसी की नहीं होती है।।79-80।।

तत्पश्चात् उस चतुर वैद्य ने खाट के नीचे स्थित चावलों के बर्तन को देखकर कहा कि हे माता! इसको तन्दुलीय व्याधि – चावलों के रखने से उत्पन्न हुआ विकार – हुआ है। यह रोग प्राणघातक, दुर्विनाश और कष्टसाध्य है। यदि तुम मुझे मेरी इच्छानुसार बहुत-सा धन देती हो तो मैं तुम्हारे पुत्र के इस रोग को नष्ट कर देता हूँ। इस पर सास ने कहा कि हे

वैद्य! मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छानुसार बहुत-सा धन दूँगी। तुम इसके रोग को दूर कर दो, जिससे यह बालक जीता रहे।।81-82।। तब उसने शस्त्र से मेरे गालों को चीरकर शोक करने वाली उन स्त्रियों को शालिधान के चावल-कणों के समान अनेक आकार वाले कीड़ों को दिखलाया।।83।।

तत्पश्चात् स्त्रियों के द्वारा पूजा गया वह वैद्य दो वस्त्रों को ग्रहण करके सन्तुष्ट होता हुआ वहाँ से शीघ्र ही भाग गया। इस प्रकार से मैं निरर्थक अभिमानरूप अग्नि से सन्तप्त होकर उस दु:सह पीड़ा को सहता हुआ चुपचाप स्थित रहा।।84।। उस समय सब लोगों ने पुन: पुन: हँसकर मेरा नाम 'गल्लस्फोटिक' प्रसिद्ध कर दिया। ठीक है, जो प्राणी दूषित प्रवृत्ति में निरत होता है, वह क्या शीघ्र ही परिहास के साथ निन्दनीय दु:ख को नहीं प्राप्त होता है? अवश्य प्राप्त होता है।।85।। हे नगरवासियो! जो मैं गालों के चीरते समय उत्पन्न हुई असह्य पीड़ा को सहता हुआ भी चुपचाप स्थिर रहा, उस मुझ जैसे स्वार्थ को नष्ट करनेवाली इस प्रकार की मूर्खता यदि आप लोगों के द्वारा अन्यत्र कहीं पर भी देखी गयी हो तो उसे बतलाइए।।86।।

लज्जा, मान, पुरुषार्थ, शुद्धि, धन, काम, धर्म, संयम, अपरिग्रहता - इन सबको जान करके यदि इनका आश्रय योग्य समय में किया जाये तो वह प्राणियों के लिए शीघ्र ही अभीष्ट सिद्धि को प्रदान करता है।।87।। जो मूर्ख हेय और उपादेय के विवेक से रहित होकर समय के बीत जाने पर - अयोग्य समय में - अभिमान करता है; वह परिहास, दु:ख और सब लोगों के द्वारा की जाने वाली निन्दा को प्राप्त होकर भयानक नरकवास को प्राप्त होता है - नरक में जाकर वहाँ असह्य दु:ख को भोगता है।।88।।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों मूर्खों की मूर्खता के इस वृत्त को सुनकर नगरवासियों ने उनसे कहा कि हे भद्र पुरुषो! तुम लोग शीघ्र ही उस साधु के समीप में जाकर अपनी मूर्खता को शुद्ध कर लो - इस प्रकार कहकर उन सबने उनको विदा कर दिया। ठीक है, *जो कार्य सिद्ध ही नहीं हो सकता है, उसके विषय में सत्पुरुष कभी प्रयत्न नहीं किया करते हैं।।89।।*

मनोवेग कहता है कि हे विप्रो! जो मूर्ख योग्य-अयोग्य आचरण और गमन का अपहरण करता है - उसका विचार नहीं किया करता है - उसके चार भेदों का मैंने

निरूपण किया है। ऐसा कोई भी मूर्ख यदि आप लोगों के बीच में है तो मैं उस प्रकार के तत्त्व को - यथार्थ वस्तु-स्वरूप को - कहने के लिए डरता हूँ।।90।।

लज्जा करने से वेश्या, अत्यधिक दान करने से धनवान्, अभिमान के करने से सेवक, भोग भोगने से ब्रह्मचारी, पवित्र आचरण से भाँड, शील को नष्ट करने से पतिव्रता पुत्रवती स्त्री और लोभ के करने से राजा नाश को प्राप्त होता है - ये सब ही उक्त व्यवहार से अपने-अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकते हैं।।91।। विवेकहीन मनुष्य को न कीर्ति, न कान्ति, न लक्ष्मी, न प्रतिष्ठा, न धर्म, न काम, न धन और न सुख - कुछ भी नहीं प्राप्त होता। इसीलिए इनकी अभिलाषा करने वाले मनुष्यों को सदा विवेक को करना चाहिए।।92।। *जो कर्तव्य कार्य के बिना ही अभिमान करता है उस दुर्बुद्धि मनुष्य की जनों के द्वारा निन्दा की जाती है व उसके दोनों ही लोकों में जीवित [जीवन] के साथ सब कार्य भी विनष्ट होते हैं।।93।।*

जो विवेकी सत्पुरुष यहाँ विचार करके समय के अनुकूल ही सब कार्यों को करता है वह विद्वानों द्वारा पूजित होकर सारभूत सब ही अभीष्ट को प्राप्त करके अन्त में मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है।।94।। मनुष्य यहाँ अहित करने पर आगे निरन्तर हित को प्राप्त होता है व हित करने पर अहित को प्राप्त होता है। परन्तु अपरिमित ज्ञान के धारक (विवेकी) हितैषी जन बुद्धि से विचार करके आगे मन में हित को ही विस्तृत करते हैं।।95।।

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में नौवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।9।।

...तो चेतन बनने का क्या अधिकार तुम्हें है

....तू आनन्द-निकेतन बोधि-निधान रे
चिन्मय काया का अमूर्त-परिधान रे
अरे! अमरता के पुतले ठहरो जरा,
विस्मय है हर कदम मुत्यु-आतंक तुम्हें है
तुम्हें धरा पर यदि जड़ता से प्यार है
तो चेतन बनने का क्या अधिकार तुम्हें है?

दसवाँ परिच्छेद

जिसके नेत्र राग से अन्धे हो रहे हैं – ऐसा रक्त पुरुष, द्वेष करने वाला दुष्ट द्विष्ट पुरुष, विवेक से रहित मूढ़ पुरुष, व्युद्ग्राही माना गया दुष्ट पुरुष, विपरीत स्वभाववाला पैत्तिक (पित्तदूषित), योग्य-अयोग्य का विचार न करके आम के वृक्ष को कटवानेवाला (आम्रघाती), अज्ञानता से उत्तम गाय का परित्याग करने वाला (क्षीरमूढ़), अगुरु को जलाकर पीछे पश्चात्ताप करने वाला, लोभ के वश नीम की लकड़ी लेकर उत्तम चन्दन को बेचने वाला और विवेकबुद्धि से रहित मूर्ख; इस प्रकार मैंने जिन दस प्रकार के मूर्खों का यहाँ वर्णन किया है, वे यदि आप लोगों के मध्य में हैं तो मैं कुछ बोलते हुए डरता हूँ।।1-3।। मनोवेग के इस कथन को सुनकर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र पुरुष! हम सब विचारक (विवेकी) हैं। जिस प्रकार गरुड़विद्या के ज्ञाता (मांत्रिक, अथवा गरुड़ पक्षी) दो जिह्वा वाले सर्प को शीघ्र दण्डित किया करते हैं, उसी प्रकार हम दुष्ट जन को शीघ्र दण्डित किया करते हैं।।4।।

तत्पश्चात् मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो! अपने वचन के ग्रहण में शंका रखने वाले मुझे मन में अभी भी थोड़ा-सा भय बना हुआ है। कारण यह है कि जिसके पास कोमल आसन (अथवा उत्तम भोजन), उन्नत शिरयन्त्रिका (पगड़ी अथवा चोटी), नवीन व श्रेष्ठ पुस्तक, सुन्दर योगपट्टक (ध्यान के योग्य वस्त्र विशेष), रमणीय खड़ाऊ का जोड़ा और लोगों को अनुरंजित करने वाला वेष नहीं है; उसके कथन को लोग प्रमाणभूत नहीं मानते हैं।।5-7।। इसके अतिरिक्त वेष से रहित मनुष्य का आदर तीनों लोकों में कोई भी नहीं करता। मनुष्य सर्वत्र आटोप (टीम-टाम, बाहरी दिखावा) की ही पूजा किया करते हैं, गुणों की पूजा वे नहीं किया करते।।8।।

इस पर वे विद्वान् ब्राह्मण बोले कि तुम भयभीत न होकर प्रस्तुत बात को – भारत व रामायण आदि में उपलब्ध होने वाले रत्नालंकारों से विभूषित तृण-काष्ठ के विक्रेताओं के वृत्त को – कहो। कारण यह कि कोई भी महापुरुष चबाये हुए अन्नादि को पुनः पुनः चबाना – एक ही बात को बार-बार कहना – योग्य नहीं मानता है।।9।। उनके इस प्रकार कहने पर मनोवेग बोला कि यदि ऐसा है तो हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो! मेरे कथन को पूर्वापर विचार के साथ स्वीकार कीजिए।।10।। यह कहकर मनोवेग बोला कि –

विष्णु के स्वरूप व अवतारों की परीक्षा

यहाँ (लोक में) प्रसिद्ध वह विष्णु परमेश्वर अवस्थित है जो जगत् की रचना, उसके पालन व विनाश का उत्कृष्ट कारण है; जिसके प्रसाद से लोग अविनश्वर पद (मुक्तिधाम) प्राप्त करते हैं; जो आकाश के समान व्यापक, नित्य, निर्मल एवं सदा अविनश्वर है; धनुष, शंख, गदा और चक्र से सुशोभित जिसके बाहु तीनों लोकरूप घर के आधारभूत स्तम्भों के समान होकर दावानल के समान शत्रुओं को भस्म करने वाले हैं; जिस प्रकार सूर्य अन्धकार समूह को शीघ्र नष्ट कर देता है, उसी प्रकार जो लोक में उपद्रव करने वाले दुष्ट जनों को शीघ्रता से नष्ट कर देता है; जिस प्रकार चन्द्र के शरीर में सन्ताप को नष्ट करने वाली मनोहर चाँदनी अवस्थित है, उसी प्रकार जिसके शरीर में लोगों को आनन्दित करने वाली पूज्य लक्ष्मी अवस्थित है तथा जिसके शरीर में अवस्थित निर्मल कान्तिवाला कौस्तुभमणि ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे मानो वह लक्ष्मी के द्वारा अपने सुन्दर भवन में स्थापित किया गया दीपक ही हो।।11-16।। हे विप्रो! इस प्रकार के असाधारण स्वरूप को धारण करके जो सब देवों में श्रेष्ठ देव है, उस विष्णु परमात्मा के विषय में आप लोगों का विश्वास है या नहीं?।।17।।

इसके उत्तर में वे सब ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! चराचर लोक में व्याप्त इस प्रकार का विष्णु परमात्मा है ही, इसमें कौन विवाद करता है? अर्थात् हम सब उस विष्णु परमात्मा पर विश्वास रखते हैं।।18।। जो लोग दुःखरूप अग्नि को शान्त करने के लिए मेघ के समान व संसाररूप समुद्र से पार उतारने के लिए नौका के समान उस विष्णु परमात्मा को स्वीकार नहीं करते हैं, उन्हें मनुष्य के शरीर को धारण करनेवाले पशु ही समझना चाहिए।।19।।

इस पर मनोवेग बोला कि हे वेदज्ञ विप्रो! यदि विष्णु इस प्रकार का है तो फिर वह नन्दगोकुल (नन्दग्राम) में ग्वाले का शरीर धारण करके गायों को चराता हुआ क्यों स्थित रहा तथा वही मोर के पिच्छों को धारण कर व कुटज पुष्पों की माला से जूड़ा (केशकलाप) बाँधकर स्थान-स्थान पर ग्वालों के साथ क्रीड़ा क्यों करता रहा।।20-21।। वह पाण्डु के पुत्र अर्जुन के द्वारा दूतकार्य के लिए भेजे जाने पर पादचारी सैनिक के समान शीघ्रता से दुर्योधन के समीप में क्यों गया?।।22।। वह हाथी, घोड़ा, रथ और पादचारी सैनिकों से व्याप्त रणभूमि में अर्जुन का सारथि बनकर रथ को क्यों चलाता रहा?।।23।। उसने बौने

के रूप को धारण करके दरिद्र के समान दीनता से परिपूर्ण दूषित वचनों को कहते हुए बलि राजा से पृथिवी की याचना क्यों की थी?।।24।।

तथा वह सर्वज्ञ (विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा), व्यापक और स्थिर होकर समस्त लोक को धारण करता हुआ कामी पुरुष के समान सीता के वियोग से सर्वत: क्यों सन्तप्त हुआ?।।25।। **इस प्रकार से जो देव योगी जनों के द्वारा जाना जाता है, वन्दनीय है व तीनों लोकों का स्वामी है - उस महात्मा को क्या इस प्रकार के कार्य करना योग्य है?।।26।।** यदि वह विष्णु वीतराग होकर इस प्रकार के कार्यों को करता है तो निर्धन के पुत्र होने से हम दोनों को लकड़ियों के बेचने में क्या दोष हैं?।।27।। यदि कहा जाये कि यह तो उस विष्णु परमेश्वर की क्रीड़ा है; तो फिर बल के अनुसार हम लोगों के भी उस क्रीड़ा को कौन रोक सकता है? कोई नहीं रोक सकता है।।28।।

मनोवेग विद्याधर के इस कथन को सुनकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बोले कि हमारा देव इसी प्रकार का है, इसका हम तुम्हें क्या उत्तर दे सकते हैं?।।29।। इस समय हम लोगों के मन में भी यह संदेह होता है कि वह विष्णु परमेष्ठी (देव) होकर इस प्रकार के कार्यों को कैसे करता है?।।30।। हे भद्र! अभी तक हमारा मन अतिशय मूढ़ हो रहा था। इस समय तुमने हम-जैसे मूढ़बुद्धि जनों को प्रबुद्ध कर दिया है। ठीक है, नेत्रों से संयुक्त होकर भी प्राणी दीपक के बिना - प्रकाश के अभाव में - रूप को नहीं देख पाता है।।31।।

यदि वह विष्णु परमेष्ठी की (ब्रह्मदेव की) प्रेरणा से इस प्रकार के कार्य को करता है तो फिर यह (मनोवेग) पिता की प्रेरणा पाकर घास व लकड़ियों के बेचने के काम को करता है।।32।। *देव के स्वयं अन्याय करने पर शिष्य जनों को उस अन्याय से नहीं रोका जा सकता है।* जैसे राजा ही यदि दूसरों के धन का अपहरण करता हो - स्वयं चोर हो, तो फिर चोर को चोरी करने से दूसरा कौन रोक सकता है? कोई नहीं रोक सकता है।।33।। विष्णु के स्वयं ही ऐसे अयोग्य कार्यों में संलग्न होने पर अन्य किसी को दोष नहीं दिया जा सकता है। ठीक भी है, जहाँ सास स्वयं दुराचरण करती है, वहाँ पुत्रवधू को दोष नहीं दिया जा सकता है।।34।। इसके अतिरिक्त **उस विष्णु के अंशभूत अन्य जनों के रागयुक्त होने से परमेष्ठी के भी राग होना ही चाहिए। कारण यह कि अवयवों के (अंशों के) राग होने पर अवयवी (अंशवान्, ईश्वर) उस राग से रहित कैसे हो सकता है?** उसका भी सराग होना अनिवार्य है।।35।।

जब समस्त लोक ही विष्णु के उदर में स्थित है, तब भला सीता का अपहरण कैसे किया जा सकता है? उसका अपहरण संभव नहीं है। कारण यह कि किसी सुरक्षित स्थान के भीतर अवस्थित वस्तु का बाहर निकलना संभव नहीं है।।36।। **फिर जब वह ईश्वर - राम - सर्वत्र व्यापक है, तब उसके इष्ट का - सीता का - वियोग भी कैसे हो सकता है;** उसके सर्वत्र विद्यमान रहते हुए किसी का वियोग सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त **जब वह नित्य है - सदा एक ही स्वरूप में रहता है, तब वह इष्ट वियोग से पीड़ित भी कैसे हो सकता है?** नहीं हो सकता है; अन्यथा उसकी नित्यता की हानि अनिवार्य होगी।।37।।

वह समस्त लोक का स्वामी होकर अन्य के आदेशानुसार कैसे कार्य करता है? वैसा करना उसे उचित नहीं है। यथा - जो राजा है वह कभी सेवकों के कार्य को नहीं किया करता है।।38।। **वह सर्वज्ञ होकर भी राम के रूप में अन्य जन से सीता की वार्ता को कैसे पूछता है, सर्वसमर्थ होकर भी बलि राजा से याचना कैसे करता है, प्रबुद्ध (जागृत) होकर भी कैसे सोता है, तथा राग से रहित होकर भी विषय-भोग का अभिलाषी कैसे होता है ?।।39।।** वह अन्य प्राणी के समान मत्स्य, कछुवा, शूकर, नृसिंह, वामन (ब्राह्मण बटु) और तीन प्रकार से राम होकर दुःखित क्यों हुआ है?।।40।।

जो कर्म से रचा गया शरीर अनेक प्रकार के छेदों से छिद्रित मल के घड़े के समान नौ मलद्वारों से - 2 नेत्र, 2 कान, 2 नासिकाछिद्र, मुख, जननेन्द्रिय और गुदा के द्वारा - सब ओर से अपवित्र मल को छोड़ा करता है तथा जो सभी अपवित्र (घृणित) वस्तुओं का घर है, ऐसे **उस निन्द्य शरीर को वह ईश्वर पापों से रहित व स्वतंत्र होकर भी कैसे ग्रहण करता है?।।41-42।। असाधारण प्रभाव से संयुक्त वह ईश्वर दानवों को बना करके तत्पश्चात् स्वयं उनको नष्ट कैसे करता है?** कारण यह कि लोक में ऐसा कोई भी नहीं देखा जाता है जो अपने पुत्रों का स्वयं अपकार (अहित) करता हो।।43।। **वह सदा तृप्ति को प्राप्त होकर भोजन कैसे करता है, अमर (मृत्यु से रहित) होकर मरता कैसे है, तथा भय व क्रोध से रहित होकर शस्त्र को कैसे स्वीकार करता है?** अर्थात् यह सब परस्पर विरुद्ध है।।44।। **वह**

सर्वज्ञ होकर चर्बी, रुधिर, मांस, हड्डियों, मज्जा और वीर्य आदि से दूषित ऐसे पुरीषालय (संडास) के समान घृणास्पद गर्भ के भीतर कैसे स्थित रहता है?।।45।।

इस प्रकार विचार करते हुए वे ब्राह्मण विद्वान् मनोवेग से बोले कि हे भद्र! हम लोग पूर्वापर विचार करने वाले हैं, इसीलिए हम सबकी तुम्हारे कथन पर अतिशय भक्ति (श्रद्धा) हुई है।।46।। *जो व्यक्ति अपने ही सन्देह के दूर करने में समर्थ नहीं है, वह युक्ति का आश्रय लेने वाले अन्य जनों को कैसे उत्तर दे सकता है?* नहीं दे सकता है।।47।। यह कह करके उन्होंने मनोवेग से कहा कि हे भद्र! अब तुम जयलाभ से विभूषित होकर यहाँ से जाओ। हम लोग समस्त दोषों से रहित यथार्थ देव की खोज करते हैं।।48।। **जो विवेकी जन अपने कल्याण को चाहते हैं; उन्हें जन्म, मरण, जरा, रोग, क्रोध, लोभ और भय के नाशक तथा पूर्वापर विरोध से रहित वचन से संयुक्त (अविरुद्धभाषी) देव को खोजना चाहिए।।49।।** ब्राह्मणों के इस प्रकार कहने पर वह विद्वान् विद्याधर (मनोवेग) जिनेन्द्र भगवान के वचनरूप जल से अतिशय निर्मल किये गये मन से संयुक्त होता हुआ वहाँ से चल दिया।।50।।

पश्चात् वह विद्याधर उपवन के समीप आकर मित्र पवनवेग से इस प्रकार बोला – हे मित्र! यह जो देव अन्य साधारण लोगों के समान है, उसका विचार किया गया है और उसे तूने सुना है। अब मैं अन्य प्रसंग को कहता हूँ, उसे सुन। वह तेरे संशयरूप अन्धकार के नष्ट करने में सूर्य का काम करेगा।।51-52।। हे मित्र! अपने-अपने स्वभाव से संयुक्त जिस प्रकार छह ऋतुओं की क्रमश: यहाँ प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार इस भारतवर्ष में अपने-अपने स्वभाव से संयुक्त इन छह कालों की क्रमश: प्रवृत्ति होती है – सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादु:षमा, दु:षमासुषमा, दु:षमा और अतिदु:षमा।।53।। उनमें से चतुर्थकाल में श्रेष्ठ, सम्माननीय और चन्द्र के समान निर्मल कीर्ति को विस्तृत करने वाले त्रेसठ (63) शलाकापुरुष हुआ करते हैं।।54।। वे शलाकापुरुष ये कहे गये हैं – बारह (12) चक्रवर्ती, चौबीस (24) तीर्थंकर जिन तथा बलदेव, नारायण और प्रतिनारायण – इनमें से प्रत्येक नौ-नौ (9 ह्न 3 = 27)।।55।। पृथिवीमण्डल को भूषित करने वाले वे सब ही मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। लोक में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो कि काल के द्वारा कवलित न किया जाता हो – समयानुसार सभी का विनाश अनिवार्य है।।56।।

विष्णुओं में वसुदेव का पुत्रस्वरूप जो अन्तिम विष्णु हुआ है, उसे भक्त ब्राह्मणों ने निर्मल परमेष्ठी कहा है।।57।। उनका कहना है कि जो व्यापी, शरीर से रहित, जरा व मरण के विनाशक, अखण्डनीय और अविनश्वर उस विष्णुदेव को अपने ध्यान का विषय बनाकर चिन्तन करता है, वह क्लेश को प्राप्त नहीं होता है।।58।। मत्स्य, कछुवा, शूकर, नृसिंह, वामन, राम (परशुराम), रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध और कल्की – ये दस विष्णु माने गये हैं; वह इन दस अवतारों को ग्रहण किया करता है।।59।। **जिस ईश्वर को पूर्व में निष्कल (शरीर रहित) कहा गया है, उसे ही फिर दस अवतारों को प्राप्त – क्रम से उक्त दस शरीरों को धारण करने वाला – कहा जाता है। यह कथन पूर्वापर विरुद्ध है।** इसीलिए तत्त्वज्ञ जन उसे आप्त (देव) नहीं मानते हैं।।60।।

अब मैं उस बलि के बन्धन के प्रसंग को तुमसे कहता हूँ जिसे मूढ़बुद्धि जनों ने विपरीत रूप से प्रसिद्ध किया है।।61।। विक्रिया-ऋद्धि से संयुक्त विष्णुकुमार मुनि ने अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों के ऊपर उपद्रव करने के कारण दुष्ट बलि नामक ब्राह्मण मंत्री को बाँधा था।।62।। इसे मूर्ख अज्ञानी जनों ने विपरीतरूप से इस प्रकार ग्रहण किया है कि विष्णु ने वामन होकर – वेदपाठी ब्राह्मण बटु के रूप में बौने शरीर को धारण करके – तीन पाँवों के द्वारा बलि राजा को बाँधा था।।63।। **जो विष्णु परमेष्ठी नित्य, निर्लेप, सूक्ष्म तथा मरण व जन्म से रहित होकर अशरीर है, वह दस प्रकार से अवतार को कैसे प्राप्त होता है** – उसका मत्स्य आदि के रूप में दस अवतारों को ग्रहण करना कैसे युक्तिसंगत कहा जा सकता है?।।64।।

हे मित्र! अब मैं अन्य विषय की चर्चा करते हुए तुम्हें यह बतलाता हूँ कि लोकप्रसिद्ध पुराण पूर्वापर विरोधरूप अनेक दोषों से परिपूर्ण हैं। यह कहकर मनोवेग ने विद्याधर के शरीर को – वैसी वेषभूषा को – छोड़ दिया और विद्या के प्रभाव से कुटिल बालों के बोझ से सहित, काजल के समान वर्णवाला (काला) तथा स्थूल पाँव और हाथों से संयुक्त होकर भील के रूप को ग्रहण कर लिया।।65-66।। तत्पश्चात् पवनवेग ने भी मार्जार-विद्या के प्रभाव से ऐसे बिलाव के रूप को ग्रहण कर लिया जो वर्ण से काला, भूरे अथवा ताम्रवर्ण नेत्रों से सहित और कटे हुए कानों से संयुक्त था।।67।।

तत्पश्चात् मनोवेग बिलाव को घड़े के भीतर रखकर नगर में गया और भेरी एवं

घण्टा को बजाकर सुवर्णमय वादसिंहासन के ऊपर जा बैठा।।68।। उस भेरी के शब्द को सुनकर ब्राह्मण शीघ्रता से आये और बोले कि अरे मूर्ख! तू वाद न करके इस सुवर्णमय सिंहासन के ऊपर क्यों बैठ गया?।।69।। इस पर मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो! मैं तो 'वाद' इस शब्द को भी नहीं जानता हूँ, फिर भला मैं पशुतुल्य वन में विचरने वाला भील वाद को कैसे कर सकता हूँ?।।70।। यह सुनकर ब्राह्मण बोले कि जब ऐसा है, तब तू मूर्ख होकर भी शीघ्रता से भेरी को बजाकर इस सुवर्णमय सिंहासन के ऊपर क्यों चढ़ गया? यह भेरी श्रेष्ठ वादी के आगम की सूचना देने वाली है।।71।। ब्राह्मणों के इस प्रकार पूछने पर वह बोला कि हे विप्रो! मैं भेरी को बजाकर इस सिंहासन के ऊपर केवल कुतूहल के वश बैठ गया हूँ, न कि वादी होने के अभिमानवश।।72।। हे विप्रो! यदि मूर्ख की योग्यता सुवर्णमय सिंहासन के ऊपर बैठने की नहीं है तो मैं इसके ऊपर से उठ जाता हूँ, यह कहता हुआ वह उस सिंहासन के ऊपर से नीचे उतर गया।।73।।

तत्पश्चात् उन ब्राह्मणों ने उससे पूछा कि तुम यहाँ क्यों आये हो? इसके उत्तर में वह बोला कि मैं वन में विचरण करने वाला भील हूँ और इस बिल्ली को बेचने के लिए यहाँ आया हूँ।।74।। इस पर ब्राह्मणों ने पूछा कि इस बिलाव में क्या विशेषता है और उसका मूल्य क्या है, यह हमें बतलाओ। उत्तर में मनोवेग बोला कि इसके गन्ध से बारह योजन मात्र दूरवर्ती देश के सब चूहे इस प्रकार से शीघ्र भाग जाते हैं, जिस प्रकार कि गरुड़ के गन्ध से सर्प शीघ्र भाग जाते हैं।।75-76।। इस अतिशय तेजस्वी बिलाव का मूल्य सुवर्ण के पचास पल (लगभग 4 तोला) है। यदि आप लोगों का इससे प्रयोजन सिद्ध होता है तो इसे ले लीजिए।।77।।

इस पर वे सब ब्राह्मण मिलकर आपस में बोले कि यह बिलाव चूहों के नष्ट करने में समर्थ है, अत: इसे ले लेना चाहिए।।78।। चूहे एक ही दिन में जितने द्रव्य को नष्ट किया करते हैं, उसके हजारवें भाग मात्र भी यह इसका मूल्य नहीं दिया जा रहा है।।79।। तत्पश्चात् उन ब्राह्मणों ने मिलकर उतना मूल्य एकत्र किया और उसे देकर शीघ्र ही उस बिलाव को ले लिया। ठीक भी है, *विद्वान् मनुष्यों को दुर्लभ वस्तु के ग्रहण करने में कालयापन नहीं करना चाहिए* - अधिक समय न बिताकर उसे शीघ्र ही प्राप्त कर लेना चाहिए।।80।।

उस समय मनोवेग विद्याधर बोला कि हे विप्रो! इस बिलाव की भली-भाँति परीक्षा करके उसे ग्रहण कीजिए, क्योंकि इसके बिना निश्चय से बहुत बड़ी हानि हो सकती है।।81।। तत्पश्चात् वे ब्राह्मण उस बिलाव को एक कान से हीन देखकर बोले कि इसका यह एक कान कैसे नष्ट हो गया है, यह हमें बतलाओ।।82।। यह सुनकर विद्याधर कुमार बोला कि हम मार्ग में परिश्रम से व्याकुल होकर रात में एक देवालय में ठहर गये थे। वहाँ विचित्र चूहे थे। वहाँ स्थित होकर जब यह बिलाव भूख से पीड़ित होता हुआ गहरी नींद में सो गया था, तब उन चूहों ने आकर इसके कान को खा लिया है।।83-84।। यह सुनकर वे ब्राह्मण अतिशय हँसी उड़ाते हुए बोले कि रे मूर्ख! तेरा यह कथन स्पष्टतया परस्पर विरुद्ध है - जिसके गन्ध मात्र से ही बारह योजन के भीतर स्थित चूहे भाग जाते हैं, उसके कान को चूहे कैसे काट सकते हैं?।।85-86।।

इस पर जिनेन्द्र देव के चरणकमलों का भ्रमर - जिनेन्द्र का अतिशय भक्त - वह मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो! क्या केवल एक दोष से इसके अन्य सब गुण नष्ट हो गये?।।87।। इसके उत्तर में वे ब्राह्मण बोले कि हाँ, इस एक ही दोष से उसके अन्य सब गुण नष्ट हो जानेवाले ही हैं। देखो, कंजिक की एक ही बूँद से क्या दूध नष्ट नहीं हो जाता है? अवश्य नष्ट हो जाता है।।88।। इस पर विद्याधर बोला कि इस दोष से उसके गुण नहीं जा सकते हैं। क्या कभी राहु से पीड़ित होकर सूर्य के किरण जाते हुए देखे गये हैं? नहीं देखे गये हैं।।89।। हम निर्धन के पुत्र होकर पशु के समान वन में विचरने वाले हैं। इसीलिए हम आप जैसे विद्वानों के साथ सम्भाषण करने के लिए समर्थ नहीं हैं।।90।।

इस प्रकार मनोवेग के कहने पर ब्राह्मण बोले कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, यह स्पष्ट है। तुम बिलाव के इस दोष का निवारण करो। यह सुनकर मनोवेग बोला कि ठीक है, मैं इसके इस दोष का निवारण करता हूँ, परन्तु हे विप्रो! इस नगर के नेतास्वरूप आप जैसे महापुरुषों के साथ सम्भाषण करते हुए मेरा मन भयभीत होता है।।91-92।। यदि मनुष्य कूपमण्डूक के सदृश, कृत्रिम बधिर (बहिरा) के समान अथवा क्लिष्ट सेवक के समान हो तो हे महापुरुषो! यथार्थ भी वस्तुस्वरूप को कहते हुए मेरे मन में भय को उत्पन्न करने वाली शंका उदित होती है।।93।। जो मनुष्य सुने हुए वृत्त को सत्य नहीं मानता है, अपनी अतिशय छोटी वस्तु को भी जो अत्यधिक बड़ी बतलाता है, तथा जो

दूसरे के वस्तु-प्रमाण को नहीं देखता है - उस पर विश्वास नहीं करता है; वह मनुष्य कूपमण्डूक के समान कहा जाता है।।94।।

उदाहरणस्वरूप एक विशुद्ध पक्षी - राजहंस - किसी समय समुद्र के पास गया [समुद्र के पास से आया]। उससे मेंढक ने पूछा कि भो भद्र! वह तुम्हारा समुद्र कितना बड़ा है। इस पर हंस ने कहा कि वह तो अतिशय विशाल है।।95।। यह सुनकर मेंढक अपने दोनों हाथों को फैलाकर बोला कि हे भद्र! क्या वह समुद्र इतना बड़ा है। इस पर हंस ने कहा कि वह तो इससे बहुत बड़ा है। यह सुनकर मेंढक पुन: बोला कि क्या वह मेरे इस कुएँ से भी बड़ा है?।।96।। इस प्रकार जो दूसरे के द्वारा उपदिष्ट सत्य को भी ग्रहण नहीं करता है, वह निकृष्ट मनुष्य मेंढक समान कहा जाता है। चतुर जनों को उस मेंढक समान मनुष्य के लिए वस्तुस्वरूप का कथन नहीं करना चाहिए। कारण यह कि *सत्पुरुष कभी निरर्थक कार्य को नहीं किया करते हैं।।97।।*

जो दुर्बुद्धि मनुष्य आत्महितैषी जनों के शब्दों द्वारा और अशुभसूचक शब्दों के द्वारा रोके जाने पर भी उन्हें नहीं सुनता है और लोभवश उन शब्दों को भेरी आदि के शब्दों से आच्छादित करके - उन्हें अभिहत करके - कार्य को करता है वह निकृष्ट मनुष्य 'कृतकबधिर' कहलाता है।।98।। जो सेवक राजा को न देने वाला, दुष्टबुद्धि और लोभी जानता हुआ भी उसे नहीं छोड़ता है व दीर्घ काल तक क्लेश को सहता रहता है, वह निन्दनीय सेवक 'क्लिष्ट भृत्य' नाम से कहा गया है।।99।। जो निकृष्ट जन इन तीन मनुष्यों के समान बुद्धिहीन होकर योग्य-अयोग्य कार्य को प्रकट करने वाले वाक्य की अवहेलना किया करते हैं, उनके आगे विद्वान् जनों से स्तुत व निर्दोष - ऐसी अविनश्वर लक्ष्मी (मुक्ति कान्ता) की अभिलाषा करने वाले अपरिमित ज्ञानी सत्पुरुषों को तत्त्व का उपदेश नहीं करना चाहिए।।100।।

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में दसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।10।।

जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा
बाकी ने तो खींची रे! परितप्त तटों पर रेखा

ग्यारहवाँ परिच्छेद

मनोवेग के उपर्युक्त भाषण को सुनकर ब्राह्मण उससे बोले कि क्या हम लोग ऐसे मूर्ख हैं जो युक्ति से संगत वचन को भी स्पष्टतया न समझ सकें।।1।। यह सुनकर विद्याधरराज का वह विद्वान् पुत्र बोला कि हे विप्रो! यदि ऐसा है – जब आप विचारपूर्वक युक्तिसंगत वचन के ग्राहक हैं – तब फिर मैं अपने मनोगत भाव को स्पष्ट करता हूँ, उसे सुनिए।।2।।

छाया, यम व अग्निदेव का प्रसंग

तपों को तपने वाला एक मण्डपकौशिक नाम का तपस्वी था। जिस प्रकार सूर्य तेजपुंज का निवासस्थान है, उसी प्रकार वह किये गये दोषों का निवासस्थान था।।3।। एक समय वह भोजन का उपभोग करने के लिए पवित्र शरीर वाले तपस्वियों के साथ इस प्रकार से स्थित था जिस प्रकार कि विशुद्ध शरीर वाले नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा स्थित होता है।।4।। वे सब तपस्वी घृणित चाण्डाल के समान इसे बैठा हुआ देखकर मन में उसके स्पर्श से भयभीत होते हुए वहाँ से शीघ्र उठ बैठे।।5।। तब उसने उन तपस्वियों से पूछा कि तुम लोग साथ में भोजन करते हुए मुझे कुत्ते के समान देखकर क्यों उठ बैठे हो, यह बतलाओ।।6।। इस पर तपस्वियों ने उससे कहा कि तुमने बालब्रह्मचारी होने से पुत्र का मुख नहीं देखा है, अतएव तुम तपस्वियों से बहिर्भूत हो। इसका कारण यह है कि पुत्रहीन पुरुष की न गति है, न उसे स्वर्ग प्राप्त हो सकता है और न उसके तप की भी सम्भावना है। इसीलिए पुत्र के मुख को देखकर तत्पश्चात् आत्मकल्याण के लिए तप को किया जाता है।।7-8।।

तपस्वियों के इन वचनों को सुनकर उस मण्डपकौशिक ने जाकर अपने आत्मीय जनों से कन्या की याचना की, परन्तु विवाह-योग्य अवस्था के बीत जाने से उसे उन्होंने किसी भी प्रकार से कन्या नहीं दी।।9।। तब उसने शीघ्र आकर उन साधुओं से पुनः पूछा कि वृद्ध हो जाने से मुझे कोई भी अपनी कन्या नहीं देना चाहता, अब मैं क्या करूँ?।।10।।

यह सुनकर उन तपस्वियों ने कहा कि हे तापस! तुम किसी विधवा स्त्री को ग्रहण करके – उसके साथ विवाह करके – गृहस्थ हो जाओ। ऐसा करने से दोनों को कोई दोष

नहीं लगता, ऐसा आगम में कहा गया है।।11।। यथा – पति के संन्यासी हो जाने पर, नपुंसक प्रमाणित होने पर, भाग जाने पर, भ्रष्ट हो जाने पर और मर जाने पर; इन पाँच आपत्तियों में स्त्रियों के लिए आगम में दूसरे पति का विधान है – उक्त पाँच अवस्थाओं में किसी भी अवस्था के प्राप्त होने पर स्त्री को अपना दूसरा विवाह करने का अधिकार प्राप्त है।।12।। तपस्वियों के इस प्रकार कहने पर उसने उनकी आज्ञानुसार विधवा को ही ग्रहण कर लिया। ठीक ही है, *मनुष्य विषयोपभोग के लिए स्वयं लालायित रहता है, फिर गुरु का वैसा आदेश प्राप्त हो जाने पर तो कहना ही क्या है* – तब तो वह उस विषय सेवन में निमग्न होगा ही।।13।। इस प्रकार सब जनों से प्रार्थनीय नीति के समान उस विधवा का सेवन करते हुए उसके एक मनोहर कन्या उत्पन्न हुई जो मूर्तिमती सम्पत्ति के समान थी।।14।।

वह कन्या महादेव, विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवताओं के कामदेव को वृद्धिंगत करती हुई क्रमशः वृद्धि को प्राप्त हुई।।15।। वह तपे हुए सुवर्ण के समान कान्तिवाली थी। उसका नाम छाया था। वह विद्वानों को अभीष्ट सब ही कला-गुणों का आधार थी।।16।। वह अपनी कान्तिरूप लक्ष्मी से सब ही स्त्रियों को जीतकर स्थित थी। उसके समान यदि कोई थी तो वह दर्पण में पड़ने वाली उसी की छाया थी – अन्य कोई भी स्त्री उसके समान नहीं थी।।17।। मण्डपकौशिक की वह कन्या क्रम से वृद्धि को प्राप्त होकर आठ वर्ष की हो चुकी थी। वह उसके यहाँ इस प्रकार से स्थित थी जैसे मानो कृपण (कंजूस) के घर में परोपकारिणी लक्ष्मी ही स्थित हो।।18।।

एक समय वह मण्डपकौशिक अपनी स्त्री से बोला कि हे प्रिये! चलो हम समस्त पाप को शुद्ध करने वाली तीर्थयात्रा करें।।19।। परन्तु हे सुन्दरी! सुवर्ण के समान निर्मल कान्तिवाली व नवीन यौवन से सुशोभित इस उत्तम लक्षणों से संयुक्त छाया को किस देव के हाथ में सौंपकर चलें।।20।। कारण यह कि जिसके लिए यह कन्या सौंपी जायेगी, वही उसको ग्रहण करके (अपनी बनाकर) स्थित हो सकता है, क्योंकि लोक में ऐसा कोई भी नहीं है, जो स्त्रीरूप रत्न से विमुख दिखता हो।।21।।

यदि महादेव के हाथों में इसे सौंपने का विचार करें तो वह सर्पों से – चापलूस जनों से – सेवित और सदा विषमदृष्टि रखने वाला – तीन नेत्रों से सहित – होकर शरीर

में कामरूप अग्नि से सन्तप्त रहता है। इसीलिए उसने आधा शरीर स्त्री को – पार्वती को – दे दिया है। इसके अतिरिक्त वह अपने शरीर के अर्धभाग में स्थित उस पार्वती को छोड़कर गंगा का सेवन करता है। इस प्रकार से भला वह इस उत्तम लक्षणोंवाली कन्या को पा-करके उसे कैसे छोड़ सकता है? नहीं छोड़ सकेगा।।22-23।। जिस प्रकार समुद्र के मध्य में अतिशय तापयुक्त बड़वानल दिन-रात जलता है, उसी प्रकार जिस महादेव के हृदय में निरन्तर कष्ट से निवारण की जाने वाली कामरूप अग्नि जला करती है, उस कामी महादेव के लिए रक्षणार्थ यह पुत्री कैसे दी जा सकती है – उसके लिए संरक्षण की दृष्टि से पुत्री को देना योग्य नहीं है। कारण कि चतुर जन रक्षा के विचार से कभी बिल्ली को दूध नहीं दिया करते हैं।।24-25।।

जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियों के भी सेवन से कभी सन्तुष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जो विष्णु सोलह हजार गोपियों के निरन्तर सेवन से कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होता है तथा जो हृदय में स्थित लक्ष्मी को छोड़कर गोपियों का सेवन किया करता है, वह विष्णु भी भला सुन्दर स्त्री को प्राप्त करके उसे कैसे छोड़ सकेगा? वह भी उसे नहीं छोड़ेगा। इसीलिए ऐसे कामी उस विष्णु के लिए भी मैं अपनी प्यारी पुत्री को कैसे दे सकता हूँ? उसे भी नहीं देना चाहता हूँ। कारण कि ऐसा कौन-सा बुद्धिमान है जो चोर के हाथ में रक्षा के विचार से रत्न को देता हो? कोई भी नहीं देता है।।26-28।। जिस ब्रह्मदेव ने तिलोत्तमा अप्सरा के नृत्य के देखने मात्र से ही संयम को छोड़ दिया, वह भी सुन्दर रमणी को पाकर क्या न करेगा? वह भी उसके साथ विषयभोग की इच्छा करेगा ही।।29।। उक्त घटना का वृत्त इस प्रकार है –

ब्रह्मा के साथ तिलोत्तमा, शिव व रीछनी के प्रसंग

एक समय इन्द्र के आसन के कम्पित होने पर उसने अपने मंत्री बृहस्पति से पूछा कि हे साधो! मेरा यह आसन किसके द्वारा कम्पित किया गया है।।30।। इसके उत्तर में बृहस्पति ने कहा कि हे देव! राज्य की इच्छा से ब्रह्मा को तप करते हुए चार हजार वर्ष होते हैं। हे प्रभो! उसके अतिशय तप के प्रभाव से ही यह आपका आसन कम्पित हुआ है। सो ठीक भी है, क्योंकि तप के प्रभाव से क्या नहीं सिद्ध किया जाता है? अर्थात्

उसके प्रभाव से कठिन से भी कठिन कार्य सिद्ध हो जाया करता है।।31-32।। हे देवेन्द्र! तुम किसी उत्तम स्त्री को प्रेरित करके उसके इस तप को नष्ट कर दो, क्योंकि तप के नष्ट करने में स्त्री को छोड़कर और दूसरा कोई भी उपाय समर्थ नहीं है।।33।। तदनुसार इन्द्र ने दिव्य स्त्रियों के तिल-तिल मात्र सौन्दर्य को लेकर तिलोत्तमा नामक सुन्दर स्त्री की रचना की।।34।। तत्पश्चात् उस इन्द्र ने 'तुम जाकर ब्रह्मदेव को तप से रहित (भ्रष्ट) कर दो' यह कहकर उक्त तिलोत्तमा को ब्रह्माजी के पास भेज दिया।।35।।

उसने वहाँ जाकर ब्रह्मदेव के आगे पुरानी मदिरा के समान मन के मोहित करने में समर्थ व रसों से परिपूर्ण उत्कट नृत्य को प्रारम्भ कर दिया।।36।। उस चतुर अप्सरा ने नृत्य करते हुए कामरूप वृक्ष को शीघ्र वृद्धिंगत करने के लिए जलप्रद मेघों के समान अपने गोपनीय अंगों को - कामोद्दीपक स्तनादि अवयवों को - प्रदर्शित किया।।37।। उस समय उसके दोनों पाँवों, जंघाओं, ऊरुओं, विस्तृत जघनस्थल, नाभिस्थान, स्तनयुगल और मुखरूप कमल पर क्रम से विश्राम ले-लेकर - कुछ देर ठहर-ठहर कर - सब ओर दौड़ने वाली ब्रह्माजी की चंचल दृष्टि उक्त तिलोत्तमा के शरीर के ऊपर दीर्घ काल तक खेलती रही।।38-39।।

इस प्रकार धीरे गमन करने वाली व विलास एवं विभ्रम की आधारभूत - अनेक प्रकार के हाव-भाव को प्रदर्शित करने वाली - उस तिलोत्तमा ने, जिस प्रकार नर्मदा नदी ने विन्ध्य जैसे दीर्घकाय पर्वत के मध्य भाग को खण्डित कर दिया, उसी प्रकार ब्रह्माजी के हृदय को खण्डित कर दिया, उसने उनके मन को अपने वश में कर लिया।।40।। फिर वह दृष्टिपात से उन्हें अनुरक्त जानकर उनके मन को दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की ओर घुमाती हुई क्रम से इन दिशाओं में परिभ्रमण करने लगी।।41।।

उस समय ब्रह्माजी ने देवों की ओर से लज्जित होकर उन-उन दिशाओं की ओर मुख को घुमाते हुए उसे नहीं देखा। ठीक है, *लज्जा, अभिमान और मायाचार के कारण भला सुन्दर (उत्तम) कार्य कहाँ से किया जा सकता है?* नहीं किया जा सकता है।।42।। तब उन-उन दिशाओं में उसके देखने की इच्छा से उन ब्रह्माजी ने बुद्धिहीन होकर एक-एक हजार वर्ष में उत्पन्न तप के प्रभाव को देते हुए एक-एक दिशा में एक-एक मुख की रचना की।।43।। इस प्रकार वह उनको अपने में अतिशय आसक्तदृष्टि - अत्यधिक

अनुरक्त - देखकर आकाश में ऊपर चली गई। ठीक ही है, स्त्रियाँ अपने में अनुरक्त हृदय वाले पुरुषों की कौन-सी वंचना नहीं किया करती हैं, वे उन्हें अनेक प्रकार से ठगा ही करती हैं।।44।।

तब उन्होंने उसे आकाश में देखने की इच्छा से पाँच सौ वर्षों में उत्पन्न तप के तेज से गर्दभ जैसे शिर को किया [बनाया]।।45।। इस प्रकार से राग में निमग्न हुए उन ब्रह्माजी का न तो तप स्थिर रह सका और न नृत्य का अवलोकन भी बन सका, प्रत्युत वे उन दोनों से ही भ्रष्ट हुए।।46।। अन्त में वह तिलोत्तमा अप्सरा इन्द्र की इच्छानुसार उन ब्रह्माजी को सब तपों से भ्रष्ट करके चली गयी। ठीक है, स्त्रियाँ समस्त रागी जन को मोहित करके ठगा ही करती हैं।।47।।

तब उस तिलोत्तमा को न देखता हुआ वह हतबुद्धि ब्रह्मा लज्जा को प्राप्त हुआ। उस समय जो देव दर्शन के लिए आये थे, उनके ऊपर उसे अतिशय क्रोध हुआ। इससे वह उस गर्दभमुख से उन देवों को खाने में प्रवृत्त हुआ। ठीक है, *लज्जा (अथवा खेद) को प्राप्त हुए सब ही जन स्वभावतः दूसरों के ऊपर क्रोध किया करते हैं।।48-49।।* तब उन देवों ने महादेव के पास जाकर उनसे ब्रह्मा की उक्त प्रवृत्ति के संबंध में निवेदन किया। ठीक है, अपने दुःख को दूर करने के लिए सब ही जन प्रयत्न किया करते हैं।।50।। इससे महादेव ने आकर ब्रह्मा के उस पाँचवें मस्तक को काट डाला। ठीक है, जो दूसरों का अपकार करता है उसका मस्तक छेदा ही जाता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है।।51।। तब ब्रह्मा ने क्रोध के वश होकर ब्रह्महत्या में संलग्न उन महादेव को यह शाप दे डाला कि - तुम्हारे हाथ से यह मेरा शिर गिरेगा नहीं।।52।।

इस प्रकार का शाप दे-देने पर जब महादेव ने उनसे यह प्रार्थना की कि हे साधो! ब्रह्महत्या करने वाले मेरे ऊपर आप अनुग्रह करें - मुझे किसी प्रकार इस शाप से मुक्त कीजिए, तब वे पार्वती के पति (महादेव) से बोले कि जब विष्णु भगवान् इसे रुधिर से पूर्ण करेंगे तब यह मेरा शिर तुम्हारे हाथ से नीचे गिर जायेगा।।53-54।। ब्रह्मा के इस कथन को स्वीकार करके महादेव ने कपाल व्रत को ग्रहण कर लिया। ठीक है, यह लोक को व्याप्त करने वाला प्रपंच देवताओं के भी बड़ी कठिनाई से छूटता है।।55।। फिर वह इस ब्रह्महत्या के पाप को नष्ट करने के लिए विष्णु के पास गया। ठीक है, मनुष्य अपने

को पवित्र करने के लिए किसका आश्रय नहीं लेता है – वह इसके लिए किसी न किसी का आश्रय लेता ही है।।56।।

तत्पश्चात् ब्रह्मा मृगसमूह से – मृगादि वन्य पशुओं से – व्याप्त दुर्गम वन के भीतर प्रविष्ट हुआ। ठीक है, तीव्र कामरूप अग्नि से सन्तप्त हुआ अविवेकी प्राणी किस-किस स्थान को नहीं जाता है – वह उसको शान्त करने के लिए किसी भी योग्य-अयोग्य स्थान को प्राप्त होता है।।57।। वहाँ ब्रह्मा ने किसी रजस्वला रीछनी को देखकर उसका सेवन किया। ठीक भी है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से पीड़ित – काम के वशीभूत हुए – प्राणियों को गर्दभी भी अप्सरा जैसी दिखती है।।58।। तब उस रीछनी ने शीघ्र ही गर्भ को धारण करके समय के पूर्ण होने पर तीनों लोकों में प्रसिद्ध जाम्बव पुत्र को उत्पन्न किया।।59।। इस प्रकार जो ब्रह्मा मन में काम से पीड़ित होकर तिर्यंचनी का भी सेवन करता है वह मुग्धबुद्धि भला इस सुन्दर कन्या को कैसे छोड़ सकेगा? नहीं छोड़ेगा।।60।।

परस्त्री का अनुरागी इन्द्र काम की भल्ली के समान गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या को देखकर काम से व्याकुल हुआ।।61।। तब गौतम ऋषि ने क्रोध के वश होकर उसे शाप दिया, जिससे वह हजार योनियों वाला हो गया। ठीक है, काम की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला ऐसा कौन है जो दुःख को प्राप्त न करता हो – कामीजन दुःख को भोगते ही हैं।।62।। तत्पश्चात् जब देवों ने गौतम ऋषि से यह प्रार्थना की कि हे मुने! इस इन्द्र के ऊपर अनुग्रह कीजिए – कृपाकर उसे इस शाप से मुक्त कर दीजिए, तब पुनः अनुग्रह करके उन्होंने उसे हजार योनियों के स्थान में हजार नेत्रों वाला कर दिया।।63।।

इस प्रकार लोगों के द्वारा वह कोई भी निर्दोष देव नहीं देखा जाता है जो कि काम, मोह और मरण से पीड़ित न हो – ये सब उन कामादि के वशीभूत ही हैं।।64।। हाँ, यहाँ एक वह यम ही ऐसा देव है जो सत्य व शौच [शुद्धता] में तत्पर, शत्रु का मर्दन करने वाला, पक्षपात से रहित है।।65।। इसी के समीप में कन्या (छाया) को स्थापित करके – छोड़ करके – मैं तीर्थयात्रा करूँगा, ऐसा विचार करके उस मण्डपकौशिक ने छाया कन्या को यम के समीप में रख दिया।।66।। तत्पश्चात् मण्डपकौशिक स्त्री के साथ तीर्थयात्रा को चल दिया। ठीक है, *विद्वान् मनुष्य निश्चिन्त होकर ही धर्मकार्य में प्रवृत्त हुआ करता है।।67।।*

उधर कामरूप वृक्ष को उत्पन्न करने के लिए पृथिवी-तुल्य उस छाया कन्या को

देखकर यमराज ने उसे अपनी प्रियतमा बना लिया। ठीक ही है, लोक में ऐसा कोई नहीं है जो स्त्रियों के विषय में नि:स्पृह हो - उनमें अनुराग से रहित हो।।68।। इतना ही नहीं, अपितु कोई उसका अपहरण न कर ले इस भय से उसने उसे उदर में अवस्थित कर लिया। सो ठीक भी है, मूर्ख कामी काम में रत रहनेवाली प्रियतमा को कहाँ पर नहीं स्थापित करता है - वह कहीं भी उचित-अनुचित स्थान में उसे रखा करता है।।69।।

वह मन में विनष्ट होने के भय से उसे देखता व पेट से बाहर खींचकर (निकालकर) उसके साथ भोग भोगता और तत्पश्चात् फिर से निगलकर पेट के भीतर ही अवस्थित कर लेता था।।70।। इस प्रकार से उस छाया के साथ सुरतरूप अमृत का - विषयोपभोग का - अनुभव करता हुआ वह यमराज अपने को देव (इन्द्र) से भी उत्कृष्ट समझ रहा था। उस समय उसका काल सुखपूर्वक बीत रहा था।।71।। *खड़ी (खडू-लेखनी), पुस्तक और स्त्री - ये दूसरे के हाथ में जाकर या तो नष्ट ही हो जाती हैं - वापस नहीं मिलती हैं, या फिर घिसी-पिटी हुई प्राप्त होती हैं।।72।।*

एक समय पवनदेव ने अग्निदेव से कहा कि हे भद्र! देवों के मध्य में एक यमदेव का जीवन अतिशय सुखपूर्वक बीत रहा है।।73।। उसने सुरतरूप अमृत को बहानेवाली एक स्त्री प्राप्त की है, जिसका दृढ़तापूर्वक आलिंगन करता हुआ वह सुखरूप समुद्र के मध्य में सोता है।।74।। जिस प्रकार गंगा के द्वारा दिये गये पवित्र जल से कभी समुद्र संतुष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार उस रमणी के द्वारा दिये जाने वाले पवित्र सुख में वह यम भी सन्तुष्ट नहीं होता है।।75।।

हिरण जैसे नेत्रोंवाली उस सुन्दरी के साथ मेरा संयोग कैसे हो सकता है, इस प्रकार अग्निदेव के द्वारा पूछे जाने पर वह पवनदेव बोला कि उक्त यम उस कृश शरीरवाली कामिनी की रक्षा इस प्रकार से कर रहा है कि उसे कोई देख भी नहीं पाता है। फिर भला हे अग्निदेव! उसका संयोग कहाँ से हो सकता है - वह सम्भव नहीं है।।76-77।। वह कान्ता अपनी शोभा से सभी सुन्दर देवललनाओं को जीतने वाली है। यह उसके साथ सुरत-सुख को भोगकर उसे पुन: पेट के भीतर रख लेता है।।78।। वह साध्वी केवल अघमर्षण काल में - स्नानादि के समय में - एक पहर तक अकेली अवस्थित रहती है। उस समय उसे विशिष्ट नेत्रों के द्वारा स्पष्टता से देखा जा सकता है।।79।।

इस उत्तर को सुनकर अग्नि ने वायु से कहा कि एक पहर में तो निश्चय से तीनों लोकों की स्त्रियों को मैं ग्रहण कर सकता हूँ, फिर भला एक स्त्री के विषय में तो आस्था ही कौन-सी है - उसे तो इतने समय में अनायास ही ग्रहण कर सकता हूँ।।80।। सो ठीक भी है, अकेली (रक्षक से रहित), यौवन से सुशोभित शरीरावयवों से संयुक्त और कामदेव से अधिष्ठित शरीर-लता को धारण करने वाली स्त्री को यदि तरुण जन शीघ्र ही वश में कर लेते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।।81।।

इस प्रकार जिसका शरीर तीक्ष्ण काम के बाणों से बिध चुका था, वह अग्निदेव ऐसा कहकर जिस स्थान पर वह यम उस सुन्दरी को बाहर छोड़कर - पेट से पृथक् करके - पापनाशक स्नानादि क्रिया को किया करता था, वहाँ जा पहुँचा।।82।। उधर यम आया और प्रिया को पेट के बाहर रखकर विशुद्धि की इच्छा से गंगा नदी के भीतर प्रविष्ट हुआ। अग्निदेव ने उस समय अपना सुन्दर रूप बनाया और उसे ग्रहण करके उसके साथ सम्भोग किया।।83।। ठीक है, परतंत्रता में जकड़ी हुई स्त्री मन में खेद का अनुभव करती हुई किसी अभीष्ट पुरुष को देखकर उसे इस प्रकार स्वीकार कर लेती है जिस प्रकार कि पराधीन बकरी वृक्ष के हरे पत्रसमूह को देखकर उसे तत्परता से स्वीकार करती है - उसे खाने लग जाती है। सो यह भी ठीक है, क्योंकि *पराधीनता में स्त्रियाँ क्रोध को प्राप्त हुआ ही करती हैं।।84।।*

उस अग्नि के साथ सम्भोग करके छाया बोली कि हे नाथ! अब तुम यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ, क्योंकि मेरे पति का व्यवहार (स्वभाव) विपरीत है। यह उसके आने का समय है।।85।। यदि वह तुम्हारे साथ मुझे देख लेगा तो मेरी नाक काट लेगा और तुम्हें भी कुपित होकर मार डालेगा। कारण यह कि कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी के जार को - उपपति को - देखकर क्षमाशील नहीं रह सकता है।।86।। यह सुनकर स्थूल स्तनों से पीड़ित शरीरवाली उस छाया का आलिंगन करके अग्नि बोला कि हे प्रिये! यदि तुम को छोड़कर मैं जाता हूँ तो यह दुष्ट मन वाला वियोगरूप हाथी मुझे मार डालेगा।।87।। हे प्रिये! क्रुद्ध यम के द्वारा तीक्ष्ण बाणों से तेरे आगे मारा जाना अच्छा है, परन्तु तेरे बिना हृदय में सदा जलती हुई कामरूप दुर्विनाश अग्नि से सन्तप्त रहना अच्छा नहीं है।।88।। तब ऐसा बोलते हुए उस अग्नि को छाया ने शीघ्रता से ग्रहण करके निगल लिया और अपने भीतर अवस्थित कर लिया। ठीक है, जो पुरुष स्त्री को रुचिकर होता है, उसे यदि

उसके हृदय में स्थान मिल जाता है तो यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।।89।।

तत्पश्चात् जब यम अपने नियम को पूरा करके वहाँ आया, तब उसने छाया के उदर में स्थित अग्निदेव को न जानते हुए उस छाया कान्ता को अपने उदर के भीतर कर लिया। ठीक है, स्त्रियों की धूर्तता विद्वानों के द्वारा भी नहीं ज्ञात की जा सकती है।।90।। उस समय अग्नि के बिना लोक में सर्वत्र भोजनपाक, हवन, दीप जलाना और यज्ञ करना आदि क्रियाओं के नाश को देखकर मनुष्य और देव सब ही व्याकुलता को प्राप्त हुए।।91।। यह देखकर इन्द्र वायु से बोला कि हे वायुदेव! तुम अग्नि की खोज करो। कारण यह कि देवों के मध्य में तुम सर्वत्र संचार करने वाले हो तथा मित्रभाव से तुम उसके निवास-स्थान को भी जानते हो।।92।। इस पर वायु ने कहा कि हे देव! मैंने तीनों लोकों में उसे सर्वत्र खोज डाला है, परन्तु वह मुझे कहीं भी नहीं दिखा। केवल एक ही स्थान में मैंने उसे नहीं खोजा है, सो हे देवेन्द्र! अब वहाँ पर भी खोज लेता हूँ।।93।।

इस प्रकार कहकर वायु ने भोजन को तैयार करते हुए उसके लिए सब ही देवों को आमन्त्रित किया। तदनुसार उनके आने पर उसने अन्य सब देवों को एक-एक आसन देकर यम के लिए तीन आसन दिये।।94।। तब उन सब देवों के शीघ्र ही अपने-अपने स्थान में बैठ जाने पर उस अपरिमित गमन करने वाले वायु ने अन्य सब देवों के लिए उक्त भोजन में से एक-एक भाग ही देकर यमराज के लिए तीन भाग दिये। सो ठीक भी है, क्योंकि लोक में धूर्तता के बिना कार्य सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है।।95।।

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में ग्यारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।11।।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमत्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।

(लोकतत्त्वनिर्णय, अध्याय 1, श्लोक 38)

मेरा वीर (महावीर) में कोई पक्षपात नहीं है, और कपिलादि के प्रति कोई द्वेष नहीं है, किन्तु जिसका वचन सुयुक्ति से अलंकृत है, उसी का ग्रहण करना चाहिए।

बारहवाँ परिच्छेद

अपने उन तीन भागों को देखकर यम ने वायु से पूछा कि हे वायुदेव! तुमने मुझे तिगुना भाग क्यों दिया है।।1।। यदि मेरे उदर के भीतर स्थित स्त्री दूसरी है तो दो भाग देना योग्य कहा जा सकता था; परन्तु तीन भाग देने का कारण क्या है, यह मुझे बतलाओ।।2।। इस पर वायु बोला कि हे भद्र! तुम मन को प्रिय लगने वाली उस स्त्री को उगल दो - उदर से उसे बाहर निकाल दो, तब हे सज्जन! इन तीन भागों के देने का कारण तुम्हें स्वयं ज्ञात हो जायेगा।।3।।

इस पर यम ने जब छाया को बाहर निकाला, तब उसे बाहर देखकर उससे शीघ्र ही वायु ने कहा कि हे भद्रे! तुम उस अग्नि को निकाल दो।।4।। तदनुसार जब छाया ने उस प्रकाशमान अग्नि को बाहर निकाला तब इस दृश्य को देखकर सब ही देव आश्चर्य को प्राप्त हुए। सो ठीक भी है, क्योंकि जिस दृश्य को पहले कभी नहीं देखा है उसे देखकर किनको आश्चर्य नहीं होता - उसके देखने पर सब ही जन को आश्चर्य हुआ करता है।।5।। जो स्त्री कामातुर होकर जलती हुई अग्नि को निगल जाती है, उसको निश्चय से कोई भी कार्य दुष्कर - करने के लिए अशक्य - व कोई भी वस्तु दुर्गम (दुर्लभ) नहीं है।।6।।

तब वह यम अग्नि को देखकर अतिशय क्रुद्ध होता हुआ दण्ड को लेकर उसे मारने के लिए दौड़ा। सो ठीक है, जार के प्रत्यक्ष देख लेने पर किसके क्षमा रहती है? किसी के भी वह नहीं रहती - सब ही क्रोध को प्राप्त होकर उसके ऊपर टूट पड़ते हैं।।7।। यम को इस प्रकार से दण्ड के साथ आता हुआ देखकर अग्निदेव भाग गया। सो ठीक भी है; नीच, जार और चोर जनों के दृढ़ता कहाँ से हो सकती है? नहीं हो सकती।।8।।

इस प्रकार भागता हुआ वह भयभीत होकर वृक्षों और पत्थरों के समूह के भीतर प्रविष्ट हुआ वहीं पर स्थित हो गया। सो ठीक है, क्योंकि जार और चोर कभी प्रकटरूप में स्थित नहीं रहते हैं।।9।। जो यह अग्नि उस समय वृक्षसमूहों और पत्थरों के भीतर प्रविष्ट होकर स्थित हुआ था, वह आज भी प्रयोग के बिना - परस्पर घर्षण आदि के बिना - प्रकट नहीं होता है।।10।।

हे ब्राह्मणो! आप लोगों के यहाँ ऐसा पुराण – पूर्वोक्त पौराणिक कथा – प्रचलित है कि नहीं; इस प्रकार उस मनोवेग विद्याधर के कहने पर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! वह उसी प्रकार का है।।11।। तब वह मनोवेग बोला कि हे विप्रो! अतिशय दूर रहकर भी सब प्राणियों के शुभ व अशुभ के ज्ञाता तथा निरन्तर सत्पुरुषों के अनुग्रह और दुष्ट जनों के निग्रह के करने वाले उस यम के अपने उदरस्थ प्रिया (छाया) के अभ्यन्तर भाग में अवस्थित उस अग्नि को न जानने पर भी जिस प्रकार उसका देवपना नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार चूहों के द्वारा मेरे बिलाव के कान के खा लेने पर भी स्पष्टतया उसके अन्य अतिशय महान् गुण नष्ट नहीं हो सकते हैं।।12-14।।

मनोवेग के इस भाषण को सुनकर ब्राह्मण उसकी प्रशंसा करते हुए बोले कि तुमने बहुत ठीक कहा है। ठीक है, वस्तुस्थिति के जानने वाले सत्पुरुष न्याय से शून्य पक्ष का समर्थन नहीं किया करते हैं।।15।। हे भद्र! हम क्या करें, विचार करने पर हमारे पुराण जीर्ण वस्त्रों के समान गल जाते हैं – वे अनेक दोषों से परिपूर्ण दिखते हैं और इसीलिए वे उस विचार को सहन नहीं कर सकते हैं।।16।।

सच्चे देव एवं कल्पित देवों की परीक्षा

उनके इस कथन को सुनकर विद्याधर बालक – मनोवेग – बोला कि हे विप्रो! मेरे इन वचनों को सुनिए। देव संसाररूप वृक्ष को जलाने के लिए अग्नि के समान तेजस्वी होता है। सौन्दर्यरूप जल की वेला (किनारा) के समान जो तीनों लोकों की उत्तम स्त्रियाँ कामदेव की निवासभूमि और गुण एवं सुन्दरता की खान हैं तथा जो अपने कटाक्षयुक्त चितवनोंरूप बाणों के द्वारा अन्य सब जनों को बेधा करती हैं, उनके द्वारा भी जिसका मन कभी नहीं भेदा जाता है वही देव हो सकता है। उसको मन, वचन व काय से नमस्कार करना चाहिए।।17-19।।

जिस कामदेव के कहने पर – जिसके वशीभूत होकर – महेश्वर ने कल्याण के कारणभूत पवित्र तप को छोड़कर पार्वती को अपने आधे शरीर में अवस्थित कर लिया, जिसका आज्ञाकारी होकर विष्णु ने सुख की अभिलाषा से गोपियों के नखों से विदीर्ण किये गये अपने वक्षस्थल में लक्ष्मी को स्थान दिया, जिसके द्वारा बाणों से विद्ध किया गया ब्रह्मा दिव्य स्त्री (तिलोत्तमा) के नृत्य को देखकर संयम को तृण के समान छोड़ता

हुआ चार मुखवाला हुआ, जिसने दुर्निवार तीक्ष्ण बाणों से विद्ध करके इन्द्र को हजार योनियों को प्राप्त कराते हुए अपकीर्ति का पात्र बनाया, जिससे भयभीत होकर समस्त दोषों को शिक्षित करने वाले व सब में अधिक बलवान यम ने छाया नाम की कुमारी को प्रियतमा बनाकर अपने भीतर स्थापित किया तथा जिस कामदेव ने तीनों लोकों के भीतर अवस्थित सब देवों में अतिशय सुखी ऐसे अग्निदेव को भी पत्थरों व वृक्षों के समूहों के भीतर प्रविष्ट कराया; इस प्रकार *अन्य सबों के लिए दुर्जय (अजेय) वह कामदेव जिसके द्वारा जीता जा चुका है - जो कभी उसके वशीभूत नहीं हुआ है, उस परमेष्ठी के प्रसाद से ही सिद्धि - अभीष्ट की प्राप्ति - हो सकती है।।20-26।।*

इस प्रकार ब्राह्मणों के आगे परमात्मा-विषयक विचार करके वह विद्याधर का पुत्र मनोवेग उपवन में आया और तब मित्र पवनवेग से बोला कि हे मित्र! तुमने अन्य जनों के द्वारा माने गये देव-विशेष का स्वरूप सुन लिया है। ऐसा वह देव विचार को नहीं सह सकता है - युक्तिपूर्वक विचार करने पर उसका वैसा स्वरूप नहीं बनता है। इसलिए बुद्धिमान जनों को वैसे देव का परित्याग करना चाहिए।।27-28।।

सर्वत्र देवों के अणिमा-महिमा आदि आठ गुण (ऋद्धियाँ) प्रसिद्ध हैं। उनके मध्य में जो लघिमा - वायु की अपेक्षा भी लघुतर शरीर बनाने का सामर्थ्य (परन्तु प्रकृत में व्यंग्यरूप से लघुता-हीनता का अभिप्राय है) - नाम का गुण है, वही उत्कृष्ट गुण इन देवों के विद्यमान है।।29।। यथा - महादेव के विवाह के अवसर पर पुरोहित बनकर ब्रह्मा पार्वती के स्पर्श से शीघ्र ही काम से पीड़ित होता हुआ क्षोभ को प्राप्त हुआ।।30।। नृत्य के प्रसंग में तापसियों के क्षोभित करने में उद्यत होकर बेचारे महादेव ने लिंगछेदन की दु:सह वेदना को सहा।।31।। इसी प्रकार अहल्या के द्वारा इन्द्र, छाया के द्वारा यम व अग्नि तथा कुन्ती के द्वारा सूर्य - ये पूर्णतया लघुता को प्राप्त हुए हैं, उनके निमित्त से उक्त इन्द्र आदि का अध:पतन हुआ है।।32।।

इस प्रकार अन्य जनों के द्वारा माने गये देवों में ऐसा एक भी निर्दोष देव नहीं है जिसे कामदेव ने नष्ट करके अपने वश में न किया हो - उपर्युक्त देवों में सभी उस काम के वशीभूत रहे हैं।।33।। हे सत्पुरुष! अब में तुम्हें, जैसा कि जिनागम में निर्देश किया गया है, उस गर्दभ सम्बन्धी शिर के छेदने के प्रसंग को कहता हूँ। उसे सुनो।।34।।

गर्दभशिरच्छेदन का वास्तविक प्रसंग

ज्येष्ठा आर्यिका के गर्भ से उत्पन्न हुआ सात्यकि मुनि का पुत्र महादेव (ग्यारहवाँ रूद्र) अतिशय घोर तप को करके विद्याओं का स्वामी हुआ। उस समय उस धैर्यशाली महादेव को पाँच सौ महाविद्याएँ और सात सौ क्षुद्रविद्याएँ इस प्रकार से प्राप्त हो गयीं जिस प्रकार कि छोटी-बड़ी सैकड़ों नदियाँ समुद्र को प्राप्त हो जाती हैं।।35-36।। वह दसवें विद्यानुवाद पूर्व के पढ़ते समय विद्याओं के प्रभाव को देखकर मुनिव्रत से भ्रष्ट हो गया। सो ठीक भी है, क्योंकि अतिशय भोगवाली स्त्रियों के द्वारा भला कौन-सा पुरुष संयम से भ्रष्ट नहीं किया जाता है - उनके वशीभूत होकर प्राय: अनेक महापुरुष भी उस संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं।।37।।

उसने आठ विद्याधर कन्याओं को देखकर संयम को क्षण-भर में छोड़ दिया और उनके पिताजनों के द्वारा दी गयीं उन कन्याओं को काम से पीड़ित होते हुए स्वीकार कर लिया।।38।। परन्तु उक्त कन्याएँ इसके साथ की गयी रतिक्रिया को न सह सकने से विपत्ति को प्राप्त हुईं - मर गयीं। ठीक है, *कार्य के विषय में की गयी विपरीतता सर्वत्र ही विनाश का कारण होती है।।39।।* तब उसने अपने साथ रतिक्रिया करने में समर्थ गौरी (पार्वती) को माँगकर उसे स्वीकार कर लिया। ठीक है, अभीष्ट कार्य के करने की अभिलाषा रखने वाला व्यक्ति योग्य उपाय के विषय में प्रयत्न किया ही करता है।।40।।

एक समय महादेव ने उस गौरी के साथ सम्भोग करके जब त्रिशूलविद्या को स्वीकार किया, तब वह उसके पास से इस प्रकार शीघ्रता से भाग गयी जिस प्रकार कि परपुरुष के पास से पतिव्रता स्त्री भाग जाती है।।41।। इस प्रकार उस त्रिशूलविद्या के नष्ट हो जाने पर वह अभिमान में चूर होता हुआ दूसरी ब्रह्माणी (या ब्राह्मणी) विद्या को सिद्ध करने के लिए उद्यत हुआ।।42।।

जब तक वह उसकी प्रतिमा को आगे रखकर जप करता है तब तक उक्त विद्या विक्रिया करने में उद्यत हो जाती है - वह उसे भ्रष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के विकारों को करती है। यथा - उस समय उसने आकाश में बजाना, नाचना एवं गाना प्रारम्भ किया। जब महेश्वर ने ऊपर देखा तब उसे वहाँ एक उत्तम स्त्री दिखी। तत्पश्चात् जब उसने मुख को नीचा करके उस प्रतिमा को देखा, तब उसे वहाँ एक चार मुखवाला

दिव्य मनुष्य दिखाई दिया। उसने उक्त दिव्य मनुष्य के सिर पर वृद्धिंगत होते हुए गधे के सिर को देखकर उसे बढ़ते हुए कमल के समान शीघ्र ही काट डाला। परन्तु जिस प्रकार सुख एवं सौभाग्य को नष्ट करने वाला पाप हृदय से नहीं गिरता है – उससे पृथक् नहीं होता है, उसी प्रकार वह शिर उसके हाथ से गलकर गिरा नहीं, किन्तु वहीं पर स्थिर रहा। इस प्रकार से उक्त विद्या ने उसे व्यर्थ करके – उसके जप को निरर्थक करके – अपनी विक्रिया को समेट लिया व वहाँ से चली गयी। ठीक है, स्त्री किसी भी निरर्थक मनुष्य के विषय में व्यवस्थित नहीं रहा करती है।।43-48।।

उक्त महादेव ने रात्रि के समय श्मशान में प्रतिमायोग से स्थित (समाधिस्थ) वर्धमान जिनेन्द्र को देखकर विद्यामय मनुष्य की शंका से उपद्रव किया।।49।। तत्पश्चात् सवेरा हो जाने पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि ये तो वर्धमान जिनेन्द्र हैं, तब उसने पश्चात्ताप से व्यथित होकर खिन्न होते हुए स्तुतिपूर्वक उनका चरणस्पर्श किया – वन्दना की।।50।। उस समय जिन भगवान् के चरणस्पर्श मात्र से ही नम्रीभूत हुए उसके हाथ से वह कपाल (गधे का-सा सिर) इस प्रकार से शीघ्र गिर गया जिस प्रकार कि विनम्र प्राणी के अन्त:करण से पाप शीघ्र गिर जाता है – पृथक् हो जाता है।।51।।

हे मित्र! उक्त गर्दभ सिर के काटने का वह प्रसंग वस्तुत: इस प्रकार का है, जिसकी कल्पना अन्य जनों ने मिथ्यात्वरूप अन्धकार से आच्छादित होकर अन्य प्रकार से – तिलोत्तमा के नृत्यदर्शन के आश्रय से – की है।।52।। हे मित्र! अब मैं तुम्हें एक आश्चर्यजनक दूसरे प्रसंग को भी दिखलाता हूँ, ऐसा कहकर विद्याधर के पुत्र उस मनोवेग ने साधु के वेष को ग्रहण किया।।53।।

तत्पश्चात् वह चतुर मनोवेग पवनवेग के साथ जाकर धर्म की वासनावश पश्चिम की ओर से पुन: उस पाटलीपुत्र नगर के भीतर प्रविष्ट हुआ।।54।। वहाँ वह विद्याधर कुमार भेरी को ताड़ित कर (बजाकर) ब्राह्मणों के मन में प्रवादी के आने की आशंका को उत्पन्न करता हुआ सुवर्ण-सिंहासन के ऊपर बैठ गया।।55।। तब उस भेरी के शब्द को सुनकर सब ब्राह्मण अपने पक्ष के स्थापित करने में तत्पर होते हुए अपने-अपने घर से इस प्रकार निकल पड़े जिस प्रकार कि मेघ के शब्द को सुनकर अष्टापद (एक हिंसक पशु की जाति) अपनी-अपनी गुफा से बाहर निकल पड़ते हैं।।56।।

हे सत्पुरुष! तुम क्या वाद करने को उद्यत हो – इस प्रकार उन ब्राह्मणों के पूछने पर मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो! हम तो वाद का नाम भी नहीं जानते हैं।।57।। इस पर ब्राह्मण बोले कि तो फिर तुमने मूर्ख होते हुए इस भेरी को क्यों ताड़ित किया है। यह सुनकर मनोवेग ने उत्तर दिया कि हे ब्राह्मणो! मैंने उस भेरी को कुतूहल से ताड़ित किया है, वाद की इच्छा से नहीं ताड़ित किया।।58।। हे विप्रो! मैंने जीवन में कभी ऐसा सुवर्णमय सिंहासन नहीं देखा था, इसीलिए इस अपूर्व सिंहासन को देखकर उसके ऊपर बैठ गया हूँ, मैं वादी होने के अभिमान से उसके ऊपर नहीं बैठा हूँ, अतएव आप लोग मेरे ऊपर क्रोध न करें।।59।।

यह सुनकर ब्राह्मणों ने उससे पूछा कि हे भद्र पुरुष! तुम्हारा गुरु कौन है, यह हमें बतलाओ। इस पर मनोवेग ने कहा कि मेरा गुरु कोई भी नहीं हैं, मैंने स्वयं ही तप को ग्रहण किया है।।60।। उसके इस उत्तर को सुनकर वे ब्राह्मण बोले कि हे सुबुद्धे! तुमने गुरु के बिना स्वयं किस कारण से तप को ग्रहण किया है, यह हमें कहो।।61।। इस पर विद्याधर का पुत्र वह मनोवेग बोला कि मैं अपने इस तप के ग्रहण करने का कारण कहता तो हूँ, परन्तु कहते हुए भयभीत होता हूँ। भयभीत होने का कारण क्या है, उसे मैं स्पष्टता से कहता हूँ; सुनिए।।62।।

चम्पा नगरी में गुणवर्मा राजा के एक हरि नाम का मंत्री था। उसने अकेले में पानी के ऊपर तैरती हुई एक शिला को देखा।।63।। उसे देखकर उसने इस आश्चर्यजनक घटना को राजा से कहा। इस पर राजा ने 'पत्थर कभी जल के ऊपर नहीं तैर सकता है' ऐसा कहते हुए उस पर विश्वास नहीं किया और क्रोधित होकर मन्त्री को बन्धन में डाल दिया। उसने सोचा कि यह ब्राह्मण (मन्त्री) निश्चित ही किसी पिशाच से पीड़ित है, क्योंकि इसके बिना कोई भी विचारशील मनुष्य इस प्रकार की असम्भव बात को नहीं कह सकता है।।64-65।। तत्पश्चात् मन्त्री ने जब राजा से यह कहा कि हे देव! मैंने मूर्खतावश असत्य कह दिया था तब उसने मन्त्री को बन्धनमुक्त कर दिया।।66।।

फिर मन्त्री ने अपने अभीष्ट के अनुसार राजा से बदला लेने की इच्छा से कुछ बन्दरों को वश में करके उन्हें अनेक प्रकार के बाजों से व्याप्त सुन्दर संगीत सिखाया।।67।। तत्पश्चात् उसने मन को मुग्ध करने वाले उस सुन्दर संगीत को उद्यान में स्थित अकेले

राजा को दिखलाया।।68।। उक्त संगीत को देखकर राजा जैसे ही उसे आदर के साथ अपने सामन्त जनों को दिखलाने के लिए उद्यत हुआ वैसे ही बन्दर उस संगीत को समाप्त करके दसों दिशाओं में भाग गये।।69।।

तत्पश्चात् मन्त्री ने कहा कि हे सैनिको! राजा निश्चित ही किसी भूत के द्वारा ग्रस्त किया गया है। ऐसा कहकर मन्त्री ने राजा को दृढ़तापूर्वक बँधवा दिया।।70।। तत्पश्चात् जब बन्धनबद्ध राजा ने भी फिर से वही कहा कि मैंने मूर्खतावश असत्य कहा है तब मन्त्री ने मन में सन्तुष्ट होकर हँसते हुए उसे बन्धनमुक्त करा दिया।।71।। तब उसने राजा से कहा कि हे प्रभो! जिस प्रकार तुमने वन में बन्दरों का संगीत देखा है, उसी प्रकार मैंने जल के ऊपर तैरती हुई उस शिला को भी देखा था।।72।।

मनोवेग कहता है कि हे विप्रो! जो विद्वान इस राजा और मन्त्री के वृत्तान्त को जानते हैं, उन्हें *प्रत्यक्ष में भी देखी गयी घटना को, यदि वह विश्वास के योग्य नहीं है तो नहीं कहना चाहिए।।73।।* हे ब्राह्मणो! मैं चूँकि अकेला हूँ, अतएव आप लोग मेरे कथन पर विश्वास नहीं करेंगे। इसी कारण आपके द्वारा पूछे जाने पर भी मैं कुछ कहना नहीं चाहता हूँ।।74।। इस पर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! क्या हम लोग ऐसे मूर्ख हैं जो युक्ति से संगत वचन को स्पष्टतया न जान सकें।।75।। इस प्रकार उन ब्राह्मणों के कहने पर मनोवेग विद्याधर बोला कि यदि आप लोग विचारशील हैं तो फिर मैं स्पष्टतापूर्वक कहता हूँ, उसे स्थिरचित्त होकर सुनिए।।76।।

कमण्डलु में हाथी की कथा

श्रीपुर में एक मुनिदत्त नाम का श्रावक है। वह मेरा पिता है। उसने मुझे पढ़ने के लिए एक ऋषि को समर्पित किया था।।77।। एक दिन ऋषि ने मुझे कमण्डलु देकर जल लाने के लिए भेजा। सो मैं बहुत समय तक खेलता हुआ वहीं पर स्थित रहा।।78।। तत्पश्चात् दूसरे छात्रों ने आकर मुझसे कहा कि हे भद्र! गुरुजी तुम्हारे ऊपर रुष्ट हुए हैं, तुम यहाँ से भाग जाओ। अन्यथा, वे शीघ्र ही आकर तुम्हें बन्धन में डाल देंगे।।79।। तब दूसरे नगर में भी तो शिक्षा देने वाले साधु विद्यमान हैं, ऐसा सोचकर मैं वहाँ से भागकर दूसरे नगर में जा पहुँचा।।80।।

वहाँ मैंने नगर के भीतर प्रवेश करते समय बीच में अपने मदजल की धारा से पृथिवी-पृष्ठ को गीला करते हुए एक हाथी को देखा। सामने आता हुआ वह हाथी मुझे विशाल झरने से संयुक्त ऐसे चलते-फिरते हुए ऊँचे पर्वत के समान प्रतीत हो रहा था।।81।। स्थिर कान व पूँछ से संयुक्त वह अतिशय भयानक हाथी महावत के नियंत्रण को लाँघकर - उसके वश में न रहकर - अपनी सूँड़ को फैलाते हुए मेरी ओर इस प्रकार से दौड़ा जिस प्रकार मानो अनिवार्य मृत्यु ही सामने आ रही हो।।82।।

यह देखकर मेरा समस्त शरीर कम्पित हो उठा और मैं भागने के लिए सर्वथा असमर्थ हो गया। तब आत्मरक्षा का कोई दूसरा उपाय न देखकर मैंने कमण्डलु की शरण लेते हुए उसे एक भिण्डी के पौधे के ऊपर रखा और उसके भीतर प्रविष्ट हो गया।।83।। उस समय नसीब से मुझे विचार सूझकर मैं उसकी भीति [भय] से कमण्डलु की टोंटी में घुस गया और 'उससे अब छूट गया' इस आनन्द में जो मैं क्षणभर रहता तो उधर विरुद्ध विचार वाला वह गजराज भी शीघ्रता से आकर उसी कमण्डलु के भीतर आ घुसा। उसने वहाँ क्रोध के वश होकर रोते हुए मेरे वस्त्र को पकड़ लिया; उसे सूँड़ से फाड़ने में उद्यत हो गया।।84-85।।

इस प्रकार उस गजराज को वस्त्र के फाड़ने में दत्तचित्त देखकर मैं व्याकुल होता हुआ शीघ्र ही उस कमण्डलु के ऊपर के बिल से - उसकी टोंटी से - निकल गया। ठीक है, आयु के शेष रहने पर प्राणियों को रक्षा के उपाय मिल ही जाते हैं।।86।। तत्पश्चात् वह गजराज भी उसी बिल से निकल गया, परन्तु कमण्डलु के छेद में - उसकी टोंटी के भीतर - उसकी पूँछ का एक बाल अटक गया, उसे निकालने के लिए वह असमर्थ हो गया और तब खेदखिन्न होता हुआ संक्लेशपूर्वक वहीं पड़ गया।।87।। इस प्रकार पृथिवी-पृष्ठ पर पड़े हुए उस हाथी को देखकर मैं 'हे दुर्बुद्धि शत्रु! अब तू यहीं पर मर' ऐसा कहता हुआ भय व कम्पन से मुक्त हुआ और तब स्वस्थचित्त होकर दूसरे नगर को चला गया।।88।।

वहाँ एक जिनमंदिर को देखकर मैंने जिनेन्द्र देव की वन्दना की और वस्त्र से रहित (नग्न) व मार्गश्रम से पीड़ित होकर वहीं पर पृथिवी के ऊपर सो गया। इस प्रकार से मैंने एक रात वहीं पर बितायी।।89।। फिर मैंने सोचा कि यहाँ माँगने पर भला मुझे

वस्त्र कौन देगा तथा इस नग्न अवस्था में वस्त्र को माँगना भी शक्य नहीं है। इस अवस्था में अब मैं कुलपरम्परा से आये हुए जैन तप को ही करूँगा। बस, दीर्घकाल तक यही सोचकर मैं स्वयं तपस्वी (दिगम्बर मुनि) हो गया हूँ।।90।। तत्पश्चात् नगर समूहों (अथवा नगरों, खानों) और ग्रामों से सुशोभित इस पृथ्वी पर क्रीड़ावश विचरण करता हुआ क्रम से पण्डित जनों से परिपूर्ण आपके इस नगर के देखने की इच्छा से इस समय यहाँ आ गया हूँ।।91।। मनोवेग कहता है कि हे ब्राह्मणो! इस प्रकार मेरे व्रत के ग्रहण में जो कारण था उसे मैंने संक्षेप में आप लोगों से कह दिया है।

मनोवेग विद्याधर के इस सम्भाषण को सुनकर वे ब्राह्मण हास्यपूर्वक बोले कि अनेक रूपों को धारण करके चतुराई के साथ असत्य भाषण करने वाले हमने हजारों लोग देखे हैं, परन्तु हे दुर्बुद्धे! तेरे समान असत्यभाषी दूसरा ऐसा कोई भी नहीं दिखा जो व्रत में स्थित होकर भी इसप्रकार का असत्य भाषण करता हो।।92-93।। तीनों लोकों में कोई भी मनुष्य कभी भी भिण्डी के पौधे के अग्रभाग पर स्थित कमण्डलु के भीतर से हाथी के बाहर निकलने, उसके भीतर प्रवेश करने, अवस्थित रहने एवं वंश परिभ्रमण करने को नहीं देख सकता है - ये सब ही सर्वथा असम्भव हैं।।94।। हे दुर्बुद्धे! कदाचित् अग्नि में जल (शीतलता), पत्थर पर कमल, गधे के मस्तक पर सींग, सूर्य के आस-पास अन्धकार और पर्वत (अचल) में अस्थिरता भी उत्पन्न हो जाये; परन्तु तेरे वचन में कभी सत्यता नहीं हो सकती है।।95।।

यह सुनकर विद्याधर मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो! मैं तो स्पष्टतया निर्लज्ज व असत्यभाषी हूँ, किन्तु क्या इस प्रकार का अनिवार्य बहुत-सा असत्य आपके मत में नहीं देखा जाता है?।।96।। *सब ही जन दूसरे के दोष को जानते हैं और व्याकुल होकर अपने मत को पुष्ट किया करते हैं। परन्तु यहाँ ऐसा कोई विरला ही होगा जो स्वयं निर्मल होता हुआ अपरिमित ज्ञान व बुद्धि के साथ दूसरे के गुणों की निर्मलता को प्रसिद्ध करता हो - उसे विस्तृत करता हो।।97।।*

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में बारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।12।।

तेरहवाँ परिच्छेद

मनोवेग के इस प्रकार कहने पर यज्ञोपवीत के धारक वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! यदि तुमने वेद अथवा पुराण में इस प्रकार की असम्भव बात कहीं देखी हो तो तुम उसे बतलाओ।।1।। यदि ऐसे असत्य का पोषक कोई पुराण अथवा शास्त्र है तो वह हमारे लिए ग्रहण करने के योग्य नहीं है – उसे हम न मानेंगे। कारण कि न्यायनिपुण (विचारशील) मनुष्य कहीं पर भी न्यायहीन – युक्ति से न सिद्ध हो सकने वाले – वचन को नहीं ग्रहण किया करते हैं।।2।।

यह सुनकर साधु के वेष का धारक वह विद्याधर कुमार बोला कि हे विप्रो! मैं ऐसे पुराण व शास्त्र को जानता हूँ और उसके विषय में निवेदन भी कर सकता हूँ, परन्तु इसके लिए मैं डरता हूँ। कारण इसका यह है कि जब मैंने केवल अपने तपस्वी होने का ही वृत्तान्त कहा तब तो आप लोग इतने रुष्ट हुए हैं, फिर भला जब मैं वैसे वेद या पुराण के विषय में कुछ निवेदन करूँगा, तब आप लोग मेरे ऊपर क्या कुपित नहीं होंगे? तब तो आप मेरे ऊपर अतिशय कुपित होंगे।।3-4।।

इस पर उन ब्राह्मणों ने कहा कि तुम निर्भय होकर कहो। यदि तुम्हारे द्वारा कहे गये असत्य वाक्यों के समान कोई शास्त्र है तो उसका हम निश्चित ही परित्याग कर देंगे।।5।। ब्राह्मणों के इस कथन को सुनकर मनोवेग विद्याधर बोला कि हे विप्रो! यदि आप इस प्रकार के विचारक हैं तो फिर कहता हूँ, उसे एकाग्रचित्त होकर सुनिए।।6।।

अर्जुन के पाताल गमन का प्रसंग

एक समय युधिष्ठिर ने सभा में यह कहा कि आप लोगों में ऐसा कौन है जो पाताल से यहाँ सर्पलोक को ले आने में समर्थ हो।।7।। यह सुनकर अर्जुन ने कहा कि हे देव! मैं पृथिवीतल में जाकर सात मुनियों के साथ शेषनाग को यहाँ ला सकता हूँ।।8।। तत्पश्चात् उसने अपने गाण्डीव धनुष को चढ़ाकर निरन्तर छोड़े गये तीक्ष्ण मुखवाले बाणों के द्वारा पृथिवी को इस प्रकार से शीघ्र खण्डित कर दिया जिस प्रकार कि काम के द्वारा वियोगिनी स्त्री शीघ्र खण्डित की जाती है।।9।। तत्पश्चात् वह अर्जुन पाताल में जाकर, सात मुनियों के साथ दस करोड़ सेना से संयुक्त शेषनाग को ले आया।।10।।

इस प्रकार कह कर मनोवेग ने ब्राह्मणों से पूछा कि हे विप्रो! जैसा मैंने निर्दिष्ट किया है वैसा आपका आगम है या नहीं, यह मुझे कहिए। इस पर उन सब ने कहा कि हमारा आगम निश्चित ही वैसा है।।11।। इस पर मनोवेग ने कहा कि हे विद्वान विप्रो! जब अतिशय छोटे भी बाण के छेद से दस करोड़ सेना के साथ पाताल से वह शेषनाग यहाँ आ सकता है तब भला उस कमण्डलु के छेद से हाथी क्यों नहीं निकल सकता है, यह आप लोग हमें द्वेषबुद्धि को छोड़कर शीघ्र बतलायें।।12-13।। इस प्रकार का आपका आगम तो सत्य है, किन्तु उपर्युक्त मेरा कथन सत्य नहीं है; इसका कारण एकमात्र पक्षपात को छोड़कर दूसरा कोई नहीं है।।14।।

यह सुनकर उन ब्राह्मणों ने कहा कि कमण्डलु के भीतर हाथी कैसे समा सकता है तथा उस हाथी के बोझ से निर्बल भिण्डी का पौधा नष्ट कैसे नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त कमण्डलु के छेद से हाथी के समस्त शरीर के निकल जाने पर भी उसके भीतर उसकी पूँछ का एक बाल दृढ़तापूर्वक चिपककर कैसे स्थित रह गया।।15-16।। हे भद्र! इस प्रकार के तेरे उस असम्भव कथन पर हम सर्वथा विश्वास नहीं कर सकते हैं। ब्राह्मणों द्वारा ऐसा कहने पर मनोवेग विद्याधर बोला कि यह भी स्पष्टतया सत्य है। हे विप्रो! आपके आगम में यह सुना जाता है कि अँगूठे के बराबर अगस्त्य ऋषि ने समुद्र के समस्त जल को पी लिया था। इस प्रकार उन अगस्त्य ऋषि के पेट में जब समुद्र का वह अपरिमित जल समा सकता है तब हे ब्राह्मणो! कमण्डलु के भीतर मेरे साथ वह हाथी क्यों नहीं समा सकता है?।।17-19।।

ब्रह्मा, विष्णु, अगस्त्य ऋषि तथा सृष्टि की खोज का प्रसंग

एक समुद्र में नष्ट हुई अपनी सृष्टि को खोजता हुआ ब्रह्मा व्याकुल होकर सर्वत्र घूम रहा था।।20।। उसने इस प्रकार से घूमते हुए अलसी के वृक्ष के नीचे उसकी शाखा के ऊपर सरसों के बराबर कमण्डलु को टाँगकर बैठे हुए अगस्त्य ऋषि को देखा।।21।। तब अगस्त्य मुनि ने देखकर अभिवादनपूर्वक उससे पूछा कि हे ब्रह्मन्! इस प्रकार से व्याकुलचित्त होकर तुम कहाँ घूम रहे हो।।22।। इस पर ब्रह्मा ने कहा कि हे साधो! मेरी सृष्टि कहीं पर भाग कर चली गयी है। उसे खोजता हुआ मैं भूताविष्ट के समान मूढ़ होकर इधर-उधर घूम रहा हूँ।।23।। यह सुनकर अगस्त्य मुनि ने ब्रह्मा से कहा कि हे

ब्रह्मन्! तुम मेरे कमण्डलु के भीतर प्रविष्ट होकर उस सृष्टि को देख लो, अन्यत्र कहीं पर भी मत जाओ।।24।।

इस पर ब्रह्मा ने उनके कमण्डलु के भीतर प्रविष्ट होकर वटवृक्ष के ऊपर पत्ते पर सोते हुए विष्णु को देखा। उस समय उनके पेट का मध्य वृद्धि को प्राप्त हो रहा था।।25।। यह देखकर ब्रह्मा ने उनसे कहा कि हे लक्ष्मी के पति विष्णो! इस प्रकार पेट को ऊपर करके अत्यन्त निश्चल शरीर के साथ क्यों सो रहे हो।।26।। इसके उत्तर में विष्णु ने ब्रह्मा से कहा कि तुम्हारी सृष्टि एक समुद्र में नष्ट हो रही थी – भागी जा रही थी। उसे देखकर मैंने अपने पेट के भीतर कर लिया है।।27।। इस पर ब्रह्मा ने विचार किया कि इसीलिए विष्णु भगवान् पेट को फुलाकर दिङ्मण्डल को व्याप्त करने वाले विशाल वट वृक्ष के ऊपर विस्तीर्ण पत्ते पर सो रहे हैं।।28।।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने कहा कि हे लक्ष्मीपते! तुमने यह बहुत अच्छा किया जो प्रलय में नाश को प्राप्त होने वाली सृष्टि की रक्षा की।।29।। पुनः उसने कहा कि हे लक्ष्मीपते! मेरा मन उस सृष्टि को देखने के लिए उत्सुक हो रहा है। और वह ठीक भी है, क्योंकि अपनी सन्तान का वियोग सभी को दुःसह हुआ करता है।।30।। इस पर विष्णु ने कहा कि मेरे पेट के भीतर प्रविष्ट होकर तुम मुख से – अपने नेत्रों से – उसे देख लो, व्यर्थ में क्यों दुःखी हो रहे हो।।31।।

तब ब्रह्मा विष्णु के उदर के भीतर प्रविष्ट हुआ व वहाँ अपनी सृष्टि को देखकर अतिशय सन्तुष्ट हुआ। ठीक है, सन्तान के देखने पर भला किसका मन सन्तुष्ट नहीं होता है? उसको देखकर सभी का मन सन्तोष को प्राप्त होता है।।32।। वहाँ पर ब्रह्मा बहुत काल तक रहकर व अपनी समस्त सृष्टि को देखकर तत्पश्चात् विष्णु के नाभि–कमल के नाल के द्वारा बाहर निकल आया।।33।।

परन्तु निकलते समय अण्डकोश के बाल का अग्रभाग स्थिरता के साथ वहीं पर चिपक गया। तब उसे वहाँ संलग्न देखकर व निकालने के लिए अशक्य जानकर ब्रह्मा ने निन्दा के भय से उस कमल को ही अपना स्थान बना लिया और वहीं पर अधिष्ठित हो गया। ठीक है, विश्व को व्याप्त करने वाली माया को देव भी नहीं छोड़ सकते हैं।।34–35।। तत्पश्चात् **इसी कारण से वह ब्रह्मा लोक में 'पद्मासन' इस नाम से प्रसिद्ध**

हो गया। ठीक है, *महाजनों के द्वारा की जाने वाली प्रतारणा भी प्रसिद्धि को प्राप्त होती है* – उसकी भी साधारण जनों के द्वारा प्रशंसा ही की जाती है।।36।।

इस प्रकार का आपके पुराण का अर्थ (निरूपण) क्या सत्य है या असत्य है, यह आप लोग हमें मत्सरभाव को छोड़कर कहें। कारण यह है कि सत्पुरुष कभी असत्य भाषण नहीं किया करते हैं।।37।। इस प्रकार मनोवेग के कहने पर उन ब्राह्मणों ने कहा कि हे भद्र! हमारे पुराण का यह अर्थ स्पष्टतया इसी प्रकार से प्रसिद्ध है। सो ठीक भी है, उदय को प्राप्त हुए सूर्य को आच्छादित करने के लिए भला कौन समर्थ हो सकता है? कोई भी समर्थ नहीं है।।38।।

इस पर मनोवेग ने कहा कि हे विप्रो! जब उस कमलकर्णिका के छेद में ब्रह्मा का बाल चिपककर रह सकता है, तब भला कमण्डलु के छेद में हाथी का बाल चिपककर क्यों नहीं रह सकता है?।।39।। इसी प्रकार कमण्डलु के भीतर स्थित विष्णु के उदरस्थ समस्त लोक के भार से जब वह अलसी के वृक्ष की शाखा भग्न नहीं हुई तब भला केवल एक हाथी के साथ कमण्डलु के भीतर स्थित मेरे भार से वह भिण्डी का वृक्ष कैसे भग्न हो सकता है?।।40।। उसके अतिरिक्त जब सरसों के बराबर अतिशय छोटे उस कमण्डलु के भीतर समस्त विश्व (सृष्टि) समा सकती है तब हे विप्रो! उससे अपेक्षाकृत बड़े उस कमण्डलु के भीतर मेरे साथ हाथी क्यों नहीं समा सकता है?।।41।।

समस्त लोक को अपने उदर के भीतर प्रविष्ट करके वह विष्णु उस लोक के बिना कहाँ पर स्थित रहा? इसी प्रकार उस लोक के अभाव में वह अगस्त्य ऋषि, अलसी वृक्ष की शाखा और भ्रान्ति को प्राप्त हुआ वह ब्रह्मा भी कहाँ पर स्थित रहा, यह सब आपके पुराण में विचारणीय है।।42।। उधर पृथिवी के ऊपर वह भिण्डी का वृक्ष तथा उसके ऊपर हाथी के साथ वह कमण्डलु अवस्थित था। इस प्रकार यह आश्चर्य की बात है कि मेरा पक्ष तो खण्डित होता है और आपका पक्ष युक्तिसंगत है।।43।।

दूसरे, **जो ब्रह्मा सर्वज्ञ व व्यापक होकर सब चराचर जगत् को जानता है वह भला अपनी सृष्टि के स्थान को कैसे नहीं जानता है,** जिससे कि उसे इस प्रकार से खोज करनी पड़ती है।।44।। **जो ब्रह्मा प्राणियों को नरक से भी शीघ्र**

खींचने के लिए समर्थ है वह भला अण्डकोश के बालाग्र को खींचने के लिए कैसे समर्थ नहीं हुआ, यह विचारणीय है।।45।। जो विष्णु जान करके प्रलय के समय में समस्त पृथिवी की रक्षा करता है वही राम के रूप में सीता के हरण को कैसे नहीं जानता है और उसे अपहरण से क्यों नहीं बचाता है?।।46।।

जो लक्ष्मी का स्वामी लक्ष्मण समस्त लोक को मोहित करता है, वह भला इन्द्रजित् के द्वारा मोहित करके नागपाशों से कैसे बाँधा गया?।।47।। जिस राम के स्मरणमात्र से ही समस्त आपत्तियाँ नाश को प्राप्त होती हैं वही राम स्वयं सीता के वियोग आदिरूप आपत्तियों को कैसे प्राप्त हुआ।।48।। जिस राम ने नारद ऋषि से अपने दस जन्मों के वृत्त को कहा था वही राम सर्पों के स्वामी से 'हे सर्पराज! क्या तुमने कमल के समान हाथ, पाँव व मुख से संयुक्त तथा रूप व लावण्य की नदीस्वरूप ऐसी अनेक गुणों से शोभायमान मेरी स्त्री को देखा है?' इस प्रकार से कैसे पूछता है?।।49-50।।

जो लोग अनादि काल से प्राप्त हुए मिथ्यात्वरूप वायु के द्वारा कुटिल (टेढ़े-मेढ़े) किये गये हैं उनको सैकड़ों जन्मों में भी सरल (सीधा) करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है? उन्हें सरलहृदय करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं हैं।।51।। भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, अभिमान, रोग, चिन्ता, जन्म, जरा, मरण, विषाद, आश्चर्य, रति, खेद, पसीना और निद्रा; ये दुःख के कारणभूत अठारह दोष साधारण हैं जो सभी संसारी प्राणियों के हुआ करते हैं।।52-53।।

1. क्षुधा - प्राणी का शरीर भूखरूप अग्नि की ज्वाला से सन्तप्त होकर शीघ्र ही सूख जाता है - दुर्बल हो जाता है, तथा पाँचों इन्द्रियाँ अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती हैं।।54।। 2. तृषा - प्यास से पीड़ित प्राणी के विलास (दीप्ति या मौज), विभ्रम (शोभा) हास्य, सम्भ्रम (उत्सुकता) और कुतूहल आदि सब ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।।55।। 3. भय - भय के कारण प्राणी का सब शरीर इस प्रकार से काँपने लगता है जिस प्रकार कि वायु से ताड़ित होकर वृक्ष का पत्ता काँपता है तथा भयभीत प्राणी का वचन भाग जाता है - वह कुछ बोल भी नहीं सकता है व विपरीत देखा करता है।।56।।

4. द्वेष - द्वेष से व्याकुल हुआ दुर्बुद्धि प्राणी सबके दोषों को ग्रहण किया करता

है, प्रयोजन के बिना भी दूसरों पर क्रोध करता है, तथा गुण को नहीं मानता हैं।।57।। 5. राग – जिसका मन राग से व्याकुल किया गया है वह नीच प्राणी पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहकर दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है व योग्य-अयोग्य का विचार नहीं किया करता है।।58।। 6. मोह – 'यह स्त्री मेरी है, यह पुत्री मेरी है, यह घर मेरा है, और ये बन्धुजन मेरे हैं'; इस प्रकार मोहरूप पिशाच के द्वारा सब ही प्राणी मोहित किये जाते हैं।।59।।

7. मद – मान से उन्मत्त दुराचारी मनुष्य ज्ञान, जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), प्रभुत्व, तप, सौन्दर्य और शारीरिक बल आदि के द्वारा अन्य सब ही प्राणियों को तिरस्कृत किया करता है।।60।। 8. रोग – कफ, वात और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हुई रोगरूप अग्नि से सन्तापित *प्राणी शरीर की परतंत्रता के कारण कभी भी सुख को प्राप्त नहीं होता।।61।।* 9. चिन्ता – चिन्ता के वशीभूत हुआ प्राणी ''मेरा मित्र कैसे है, धन किस प्रकार से प्राप्त होगा व कैसे वह सुरक्षित रहेगा, पुत्र किस प्रकार से मुझे सन्तुष्ट करेंगे, अभीष्ट प्रियतमा आदि जन किस प्रकार से मेरे अनुकूल रह सकते हैं, मेरी प्रसिद्धि किस प्रकार से होगी, तथा अन्य जन मुझसे कैसे अनुराग करेंगे'' – इस प्रकार से निरन्तर चिन्तन किया करता है।।62।।

10. जन्म – जो गर्भाशय नरकावास से भी अधिक दुःखप्रद एवं अनेक प्रकार के क्षुद्र कीड़ों के समूहों से व्याप्त रहता है उसके भीतर प्राणी का अतिशय कष्टदायक जन्म बार-बार हुआ करता है।।63।। 11. जरा – नष्टबुद्धि जिस *वृद्ध पुरुष का अपना शरीर ही जब आज्ञा का पालन नहीं करता है – उसके वश में नहीं रहता है, तब भला दूसरा कौन उसके वश में रह सकता है?* कोई नहीं – वृद्धावस्था में प्राणी के अपने शरीर के साथ ही अन्य कुटुम्बी आदि भी प्रतिकूल हो जाया करते हैं।।64।। 12. मरण – जिस मृत्यु के नाममात्र के सुनने से भी चित्त अतिशय कम्पायमान हो उठता है वह मृत्यु प्रत्यक्ष में उपस्थित होकर क्या भय को उत्पन्न नहीं करेगी? अवश्य करेगी।।65।।

13. विषाद – किसी उपद्रव या महारोग के उपस्थित होने पर अथवा पुत्र, मित्र व धन का विनाश होने पर अतिशय हीनबलयुक्त (दुर्बल) मनुष्य को जो विषाद (शोक) उत्पन्न होता है वह उसके प्राणों का घातक होता है।।66।। 14. विस्मय – *जो विभूति*

अपने लिए कभी प्राप्त नहीं हो सकी ऐसी दूसरे की विभूति को देखकर मूर्ख मनुष्य को अतिशय आश्चर्य हुआ करता है।।67।। 15. रति – समस्त अपवित्र पदार्थों से – रस, रुधिर, हड्डी व चर्बी आदि घृणित धातुओं से – निर्मित जो दुर्गन्धमय शरीर घृणास्पद होने से छोड़ने के योग्य है उसके विषय में नीच मनुष्य इस प्रकार से अनुराग करता है जिस प्रकार कि कुत्ता किसी सड़े-गले शव को (मृत शरीर को) पाकर उसमें अनुराग किया करता है।।68।।

16. खेद – व्यापार करते हुए निर्बल प्राणी के शरीर को मर्दित करने वाला जो खेद उत्पन्न होता है वह उसे विकल करने में समर्थ होता है – उससे वह व्याकुलता को प्राप्त होता है।।69।। 17. स्वेद – व्यापार से उत्पन्न हुए दुर्निवार परिश्रम से सन्ताप को प्राप्त हुआ शरीर पसीने से इस प्रकार तर हो जाता है जिस प्रकार अग्नि से सन्ताप को प्राप्त हुआ घी का घड़ा पिघले हुए घी से तर हो जाता है।।70।। 18. निद्रा – जिस प्रकार मद्य से मोहित हुआ प्राणी विवेक से रहित होकर हित व अहित को नहीं जानता है उसी प्रकार निद्रा से मोहित हुआ प्राणी – उसके वशीभूत हुआ जीव – अचेत होकर सब प्रकार की प्रवृत्ति से मुक्त होता हुआ अपने हित व अहित को नहीं जानता है।।71।।

कल्पित देवों तथा सृष्टि-रचना की परीक्षा

महादेव कपाल रोग से पीड़ित, विष्णु सिर की वेदना से व्याकुल, सूर्य कुष्ठ रोग से व्याप्त और अग्नि पाण्डुरोग से ग्रस्त माना गया है।।72।। कृष्ण निद्रा से, अग्नि भूख से, शम्भु रति से और ब्रह्मा राग से सर्वदा व्याप्त रहता है।।73।। **दूसरों के द्वारा माने गये इन देवों में स्त्री – लक्ष्मी एवं पार्वती आदि – की स्वीकृति राग-भाव को, शत्रुओं का विदारण – उन्हें पराजित करना – द्वेष बुद्धि को, विघ्न-बाधाओं का अपरिज्ञान मोह (मूर्खता) को और आयुधों (चक्र, गदा व त्रिशूल आदि) का संग्रह भय के सद्भाव को सूचित करता है।।74।।** जिन रागादि दोषों से ये देव पीड़ित हैं वे दूसरे साधारण प्राणियों को भला कैसे छोड़ सकते हैं – उन्हें तो वे निश्चय से पीड़ित करेंगे ही। ठीक भी है, जो पराक्रमी सिंह हाथी को पछाड़ सकते हैं उन्हें तुच्छ हिरण के मार डालने में कुछ भी खेद (परिश्रम) नहीं हुआ करता है।।75।।

जो राग से आक्रान्त होता है उसमें उपर्युक्त सब ही दोष विद्यमान रहते हैं, इसमें

कुछ भी संदेह नहीं रहता। कारण यह कि अन्य सभी दोष राग के साथ इस प्रकार से सदा अविनाभाव रखते हैं जिस प्रकार कि रूपयुक्त द्रव्य में (पुद्गल में) उस रूप के साथ सदा गन्ध, स्पर्श, एवं रस आदि अविनाभाव रखा करते हैं।।76।। **यदि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये एकमूर्तिस्वरूप हैं तो फिर वे शिरच्छेदन आदि जैसे जघन्य कृत्यों के द्वारा परस्पर में एक दूसरे का अपकार क्यों करते हैं।।77।।** जिस प्रकार सूर्य के पास से स्वभावत: अन्धकार दूर रहता है उसी प्रकार जिस महापुरुष के पास से उपर्युक्त अठारह दोष दूर हो चुके हैं वह सब देवों का प्रभु होकर पाप के नष्ट करने में समर्थ है – इसके विपरीत **जिसके उक्त दोष पाये जाते हैं वह न तो देव हो सकता है और न पाप को नष्ट भी कर सकता है।।78।।**

ब्रह्मा ने जल के मध्य में जिस अपने बीज (वीर्य) का क्षेपण किया था वह प्रथमत: बुद्बुद हुआ। पश्चात् उसके दो भागों में विभक्त किये जाने पर तीन लोकों की व्यवस्था हुई। इस प्रकार जब आगम में निर्दिष्ट किया गया है तब यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि उस लोक की उत्पत्ति के पूर्व में वह जल – जिसके मध्य में ब्रह्मा ने वीर्य का क्षेपण किया था – कहाँ पर अवस्थित था।।79-80।।

लोक की उत्पत्ति के पूर्व में जब कुछ भी नहीं था तब समस्त – निमित्त व उपादान स्वरूप – कारणों के अभाव में नदी, पर्वत, पृथिवी एवं वृक्ष आदि की उत्पत्ति के कारण शून्य आकाश में कहाँ से प्राप्त होते हैं?।।81।। जिस शून्य आकाश में एक ही शरीर की उत्पादक सामग्री दुर्लभ है, उसमें भला तीनों लोकों की उत्पत्ति का कारणभूत मूर्तिक द्रव्य – निमित्त व उपादान स्वरूप कारणसामग्री – कहाँ से प्राप्त हो सकती है? उसकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है।।82।।

इसके अतिरिक्त जब ब्रह्मा शरीर से रहित है तब वह शरीर के बिना सृष्टि का निर्माण कैसे करता है? इस पर यदि यह कहा जाये कि वह शरीर धारण करके ही सृष्टि का निर्माण करता है तो पुन: वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह पूर्व में शरीर से रहित होकर अपने उस शरीर का भी निर्माण कैसे करता है।।83।। दूसरे, समस्त जगत् को रचकर जब वह स्वयं उस को नष्ट भी करता है तब ऐसा करते हुए महान् पाप को उत्पन्न करने वाली जो लोकहत्या होगी उसे कौन रोक सकता है? उसका प्रसंग अनिवार्य होगा।।84।।

साथ में यह भी विचारणीय है कि **जब वह परमात्मा कृतार्थ, शुद्ध, नित्य, अमूर्तिक और सर्वज्ञ है तब उसे उस सृष्टि रचना से प्रयोजन ही क्या है।।85।। लोक को नष्ट करके यदि उसकी पुनः रचना करना अभीष्ट है, तो फिर उसका विनाश ही क्यों किया जाता है? इसी प्रकार यदि रचना करके उसका विनाश करना आवश्यक है तो फिर उसकी रचना ही क्यों की जाती है –** उस अवस्था में उसकी रचना निरर्थक सिद्ध होती है।।86।। इस प्रकार हे ब्राह्मणो! आपके सब पुराण पूर्वापर विरुद्ध कथन करने वाले हैं। ऐसी अवस्था में जो विद्वान् न्यायनिष्ठ हैं वे उन पर कैसे विश्वास करते हैं, यह विचारणीय है।।87।।

इस प्रकार मनोवेग विद्याधर के कहने पर जब वे विद्वान् ब्राह्मण कुछ भी उत्तर नहीं दे सके तब वह उन्हें निरुत्तर देखकर वहाँ से चल दिया और उपवन में जा पहुँचा। वहाँ वह अपने मित्र पवनवेग से इस प्रकार बोला।।88।।

हे मित्र! तुमने जो देव विशेष का – अन्य जनों के द्वारा देवरूप से परिकल्पित ब्रह्मा आदि का – स्वरूप और उनके पुराण का अभिप्राय सुना है उस पर जो बुद्धिमान विचार करते हैं उन्हें स्पष्टतया उसमें कुछ भी संगत नहीं प्रतीत होता है – उन्हें वह सब असंगत ही दिखता है। नारायण चार भुजाओं से संयुक्त, ब्रह्मा चार मुखों से संयुक्त और पार्वती का पति शम्भु तीन नेत्रों से संयुक्त है; इसे कौन स्वीकार कर सकता है? उसे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नहीं कर सकता है। कारण यह कि लोक में सब ही जन एक मुख, दो भुजाओं और दो नेत्रों से ही संयुक्त देखे जाते हैं; न कि चार मुख, चार भुजाओं और तीन नेत्रों से संयुक्त। फिर भी मिथ्यात्व के वशीभूत होकर आकुलता को प्राप्त हुए किन्हीं लोगों ने उसके विपरीत कल्पना की है।।89-91।।

आकाश के मध्य में स्थित यह लोक अनादि-निधन, अकृत्रिम और नित्य है। **जिस प्रकार कोई भी आकाश का निर्माता (रचयिता) नहीं है उसी प्रकार उस लोक का भी कोई – ब्रह्मा आदि – निर्माता नहीं है, वह आकाश के समान ही स्वयंसिद्ध व अनादि-निधन है।।92।।** जिस प्रकार सूखे पत्तों के समूह वायु से प्रेरित होकर इधर-उधर परिभ्रमण किया करते हैं उसी प्रकार प्राणिसमूह अपने पूर्वोपार्जित कर्मों से प्रेरित होकर सुख अथवा दुःख का अनुभव करते हुए नारकादि चारों गतियों में सदा ही परिभ्रमण किया करते हैं।।93।।

जो ब्रह्मा, महादेव, विष्णु और इन्द्र अपनी ही आपत्ति को नहीं नष्ट कर सकते हैं वे दूसरे के लिए सुख-दुःख के कारण हो सकते हैं - उसे सुख अथवा दुःख दे सकते हैं, इस बात को विचारशील विद्वान् कैसे मान सकते हैं - इसे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नहीं कर सकता है।।94।। उदाहरणस्वरूप जो आलसी मनुष्य अग्नि से जलते हुए अपने ही घर को शान्त नहीं कर सकता है वह दूसरे के जलते हुए घर के शान्त करने में - उसकी आग के बुझाने में - प्रवृत्त होता है, इस बात को कौन निर्मल बुद्धिवाला मनुष्य हृदयस्थ कर सकता है? अर्थात् इसे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नहीं कर सकता है।।95।।

द्वेष, राग, मद और मोह से मूढ़ता को प्राप्त हुए जो प्राणी अपने ही सुखप्रद कारणों को नहीं जानते हैं वे दुर्बुद्धि जन दूसरे के लिए शाश्वतिक मुक्ति के मार्ग का - समीचीन धर्म का - उपदेश कैसे कर सकते हैं? नहीं कर सकते हैं।।96।। जिनकी चेतना (विचारशक्ति) नष्ट हो चुकी है उन दुष्ट जनों ने काम-भोगों के वशीभूत होकर दुःखदायक नरकवास को - नारक पर्याय के दुःख को - न देखते हुए अन्य स्वरूप से स्थित इन तीनों लोकों के स्वरूप का अन्य प्रकार से - विपरीत स्वरूप से - उपदेश किया है।।97।। *लोक में संसाररूप समुद्र में गिराने वाले कुमार्गों - मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र - से मोक्षमार्ग के व्याप्त होनेपर जो दुर्बुद्धि प्राणी उसका - सन्मार्ग और कुमार्ग का - विचार नहीं करता है वह मोक्षरूप भवन को कैसे जा सकता है?* नहीं जा सकता है।।98।।

जिस प्रकार सराफ काटना, तपाना, घिसना और ठोकना इन क्रियाओं के द्वारा सुवर्ण की परीक्षा किया करते हैं उसी प्रकार *निर्मल बुद्धि के धारक प्राणी शील, संयम, तप और दया इन गुणों के द्वारा निर्मल धर्म की परीक्षा किया करते हैं।।99।।* जो विवेकी जन **परीक्षा करके** निर्दोष देव, शास्त्र, चारित्र और गुरु की उपासना (आराधना) किया करते हैं वे शीघ्र ही कर्म-साँकल को काटकर पवित्र व अविनश्वर मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।।100।। **जो स्तुत्य ज्ञान के धारक विद्वान् हैं उन्हें आत्महित की प्राप्ति की अभिलाषा से अभिमान को छोड़कर देव से देव की, शास्त्र से शास्त्र की, धर्म से धर्म की और गुरु से गुरु की परीक्षा करनी चाहिए।।101।।**

जो सब कर्मों का नाश करके इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती इन तीन लोक के स्वामियों के द्वारा स्तुत होता हुआ समस्त लोक की व्यवस्था को ज्ञात कर चुका है उसे देव स्वीकार करना चाहिए। जो प्राणिरक्षण की प्रधानता से संयुक्त होता हुआ रागादिक

दोषों के दूर करने में समर्थ है वह धर्म कहा जाता है। जो हेय और उपादेय तत्त्व के प्रकट करने में दक्ष है वह शास्त्र अभीष्ट माना गया है। तथा जिसका शरीर वैराग्य से विभूषित है और जो परिग्रह के दुष्ट संसर्ग से रहित होता हुआ अपरिमित ज्ञानस्वरूप है उसे गुरु जानना चाहिए।।102।।

इसप्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में तेरहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।13।।

चलता चल भाई, चलता चल.....

..... शान्ति प्रपूरित तू अमृत-घट, तेरी जीवनयात्रा बेहद।
जो तेरे पथ को रोके तू उसका मद-दल दलता जल। चलता चल.....
अगणित शक्ति-निलय तू चेतन, तू भरचक आनन्द निकेतन।
जन्म-मृत्यु का स्पर्श न तुझको, निर्भय निज-पद धरता चल। चलता चल.....
तेरा जीवन ज्ञान-सुधा है, आनन्दामृत पान सदा है।
कहता दुःखी अरे! अपने को, बस इस भ्रम को हरता चल। चलता चल.....
ये आँधी-तूफान जगत के, प्रलयंकर पवमान विकट से।
अरे! ज्ञान के वज्र किले-से, केवल उन्हें निरखता चल। चलता चल.....
..... तुझे पुण्य वरदान नहीं रे! तुझे पाप अभिशाप नहीं रे।
तू बेअसर अरे नटनागर, सुमति नटी संग नटता चल। चलता चल.....
चार गति पर तू अगति है, अरे असंख्य प्रदेश क्षितिज है।
उदय-अस्त बिन तू प्रचण्ड रवि, जग आलोकित करता चल। चलता चल.....
बोधिधाम आनन्द राम तू, है समग्र भगवान अरे! तू।
तुझे भुलावा देती जड़ता, हीरा काँच परखता चल। चलता चल.....
होना तेरा काम नहीं रे! खोना तेरा नाम नहीं रे!
परमभाव के गहन उदधि तू, आनन्द रंग उछलता चल। चलता चल.....

चौदहवाँ परिच्छेद

तत्पश्चात् मनोवेग पवनवेग से बोला कि हे मित्र! मैं अब तुझे और भी कुतूहल कहता हूँ – आश्चर्यजनक वृत्त को दिखलाता हूँ, यह कहते हुए उस विद्याधर के पुत्र ने पूर्व में जिस मुनि के वेष को धारण किया था उसे छोड़ दिया।।1।। बाद में वह पवनवेग के साथ तापस के वेष को ग्रहण करके फिर से भी उसी पाटलीपुत्र नगर के भीतर उत्तर दिशा की ओर से प्रविष्ट हुआ।।2।।

उसके भीतर जाकर वह घण्टा और भेरी को बजाता हुआ सुवर्णमय सिंहासन के ऊपर जा बैठा। तब घण्टा और भेरी के शब्द को सुनकर ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने उससे पूछा कि हे तापस, तुम कहाँ से आये हो, तुम क्या व्याकरण को जानते हो या विस्तारपूर्ण न्याय को जानते हो, तथा तुम क्या शास्त्र के मर्मज्ञ हम ब्राह्मणों के साथ वाद करना चाहते हो।।3-4।। इस पर तापस वेषधारी मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो! मैं अमुक गाँव से आया हूँ तथा मैं व्याकरण, न्याय और वाद इनमें किसी को भी नहीं जानता हूँ।।5।।

उसके इस उत्तर को सुनकर ब्राह्मण बोले कि तुम परिहास को छोड़कर यथायोग्य अपने वृत्त को बतलाओ। कारण कि जो यथार्थ स्वरूप को पूछते हैं उनके साथ परिहास करना उचित नहीं माना जाता है।।6।। यह सुनकर तापस की आकृति को धारण करने वाला मनोवेग विद्याधर बोला कि मैं अपनी कथा को कह तो सकता हूँ, परन्तु उसे कहते हुए मैं आप लोगों से डरता हूँ।।7।। हे विप्रो! इसका कारण यह है कि योग्य भाषण करने पर भी अविवेकी दुष्ट जन उसके विषय में अयोग्यपने का आरोप लगाकर शीघ्र ही उपद्रव कर बैठते हैं।।8।। इस पर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र पुरुष! तुम निर्भय होकर अपने यथायोग्य वृत्तान्त को कहो, हम सब ब्राह्मण विचारशील होते हुए योग्य पक्ष में अनुराग करने वाले हैं।।9।। ब्राह्मणों के इस कथन को सुनकर वह विद्याधर कुमार बोला कि यदि आप सब विचारशील हैं तो फिर मैं अपने अभीष्ट वृत्तान्त को कहता हूँ।।10।।

बारह वर्ष के गर्भ की कथा

अयोध्या नगरी में मेरी बृहत्कुमारिका माता है। वह अपने पिता – मेरे नाना – के

द्वारा मेरे पिता को दी गयी थी।।11।। उन दोनों के विवाह के अवसर पर जो बाजों का शब्द हुआ था उसे सुनकर यमराज के समान भयानक एक उन्मत्त हाथी स्तम्भ को उखाड़कर वहाँ आ पहुँचा।।12।। उसको देखकर अभ्यागत सब ही जन विवाह के प्रयोजन को छोड़कर दसों दिशाओं में भाग गये। सो यह ठीक भी है, क्योंकि *महान् भय के उपस्थित होने पर भला स्थिरता कहाँ से रह सकती है?* नहीं रह सकती है।।13।। उस समय भय से व्याकुल होकर वर भी भाग खड़ा हुआ। तब उसके शरीर के स्पर्श से निश्चेष्ट होकर वधू पृथिवीतल पर गिर पड़ी।।14।।

उस समय देखो-देखो! पति पत्नी को गिराकर भाग गया है, इस प्रकार जनों के कहने पर वर लज्जित होता हुआ कहीं चला गया।।15।। इससे उसके जो गर्भ रह गया था वह अढ़ाई महीने में स्पष्ट दिखने लगा। तत्पश्चात् उसका वह गर्भ उदरवृद्धि के साथ नौ मास तक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।।16।। उसकी गर्भावस्था को देखकर माता ने उससे पूछा कि हे पुत्री! तेरा यह गर्भ किसके द्वारा किया गया है। इस पर उसने उत्तर दिया कि विवाह के समय हाथी का उपद्रव होने पर पति का केवल शरीरस्पर्श हुआ था, इतना मात्र मैं जानती हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानती हूँ।।17।।

एक समय मेरे नाना के घर पर जो तपस्वी आये थे उन्हें विधिपूर्वक भोजन कराकर उसने उनसे पूछा कि आप लोग कहाँ जाने के लिए उद्यत हो रहे हैं।।18।। इस पर वे मेरे नाना से बोले कि हे भद्र! यहाँ बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, इसलिए जहाँ सुभिक्ष रहेगा वहाँ हम लोग जा रहे हैं। तुम भी हमारे साथ चलो, यहाँ भूख से पीड़ित होकर मत मरो, अथवा कुछ उपकार करो; ऐसा कहकर वे सब तापस वहाँ से चले गये।।19-20।।

माता के गर्भ में स्थित रहते हुए जब मैंने तापसों के इस कथन को सुना तब मैंने मन में भूख से भयभीत होकर चित्त में यह विचार किया कि यदि यहाँ बारह वर्ष तक दुष्काल रहेगा तो वैसी अवस्था में गर्भ से निकलकर भूख की बाधा से मरण को प्राप्त होता हुआ मैं क्या करूँगा - इससे तो कहीं गर्भ में स्थित रहना ही ठीक रहेगा।।21-22।। यही सोचकर मैं बारह वर्ष तक उस गर्भ में ही स्थित रहा। सो ठीक भी है, भूख के भय से पीड़ित प्राणी भला कहाँ पर नहीं अवस्थित होता है? अर्थात् वह भूख के भय से

व्याकुल होकर उत्तम व निकृष्ट किसी भी स्थान में स्थित होकर रहता है।।23।।

इस प्रकार मेरे गर्भस्थ रहते हुए उस दुष्काल के बीत जाने पर वे तापस वापस आकर फिर से मेरे नाना के घर पर आये।।24।। तब मेरे नाना के पूछने पर वे तापस बोले कि हे भद्र! अब सुभिक्ष हो चुका है, इसीलिए हम अपने देश में आ गये हैं।।25।। उनके वचनों को सुनकर जब मैं गर्भ से निकलने का इच्छुक होकर निकलने लगा तब माता के शरीर में बहुत पीड़ा हुई।।26।। तब वह चूल्हे के आगे कथड़ी डालकर अचेत होती हुई पड़ गयी। इस अवस्था में मैं वहाँ माता के उदर से निकलकर राख में गिर गया।।27।। तत्पश्चात् मैं उठा और बरतन लेकर माता से बोला कि माँ! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे भोजन दे।।28।।

उस समय मेरे पूज्य नाना ने उन तापसों से पूछा कि हे तपोरूप धन के धारक साधुजन! क्या आप लोगों ने ऐसे किसी व्यक्ति को देखा है जो जन्म से ही भोजन की माँग कर रहा हो।।29।। इस प्रश्न के उत्तर में वे बोले कि यह एक आकस्मिक उपद्रव है। इस बालक को स्पष्टतया घर से निकाल दो, अन्यथा हे सत्पुरुष! तेरे यहाँ विघ्न-बाधाओं की परम्परा उत्पन्न होगी।।30।। तत्पश्चात् माता ने मुझसे कहा कि अरे दुःखपूर्वक जन्म लेकर मुझे सन्तप्त करनेवाले कुपूत! जा, तू यमराज के घर जा - मर जा, वही यमराज तेरे लिए भोजन देगा।।31।। इस पर मैंने माता से कहा कि अच्छा माँ! मुझे आज्ञा दो। तब माता ने कहा कि जा, मेरे घर से निकल जा।।32।।

माता के आदेश को सुनकर मैं अपने शरीर को भस्म से आच्छादित करते हुए घर से निकल पड़ा। फिर मैं सिर को मुड़ाकर तापस हो गया और तापसों के साथ चल दिया।।33।। इस प्रकार तापसों के साथ जाकर मैं कठोर तप को करता हुआ तापसाश्रम में स्थित हो गया। सो ठीक भी है, क्योंकि *पण्डित जन जिस कल्याणकारी कार्य को प्रारम्भ करते हैं उसके पूरा करने में वे कभी प्रमाद नहीं किया करते हैं।।34।।* एक बार मैं अयोध्यापुरी में गया और वहाँ, जैसा कि मैंने सुना था, अपनी माता को दूसरे वर के द्वारा विवाहित देख लिया।।35।।

तत्पश्चात् मैंने अपने संबंध में निवेदन करके - अपने पूर्व वृत्त को कहकर - उसके

विषय में तापसों से पूछा। उत्तर में वे बोले कि उसके दूसरे वर के साथ विवाह कर लेने में कोई दोष नहीं है। कारण कि जहाँ द्रोपदी के पाँच पाण्डव पति कहे जाते हैं वहाँ तेरी माता के दो पतियों के होने पर कौन-सा दोष है? कुछ भी दोष नहीं है। एक बार विवाह के हो जाने पर भी यदि दुर्भाग्य से पति विपत्ति को प्राप्त होता है - मर जाता है - तो वैसी अवस्था में अक्षतयोनि स्त्री का - यदि उसका पूर्व पति के साथ संयोग नहीं हुआ है तो उस अवस्था में - फिर से विवाह हो सकता है, अर्थात् उसमें कोई दोष नहीं है। पति के प्रवास में रहने पर प्रसूत स्त्री को - जिसके सन्तान उत्पन्न हो चुकी है उसको - आठ वर्ष तक तथा सन्तानोत्पत्ति से रहित अप्रसूत स्त्री को चार वर्ष तक पति के आगमन की प्रतीक्षा करनी चाहिए - तत्पश्चात् उसके पुनर्विवाह कर लेने में कोई दोष नहीं है। इस प्रकार कारण के रहते हुए स्त्रियों के उन पाँच पतियों तक के स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं होता। यह व्यास आदि महर्षियों का कहना है।।36-40।।

ऋषियों के इस उत्तर से अपनी माता की निर्दोषता को जानकर मैं एक वर्ष तक तप करता हुआ उसी तापसाश्रम में स्थिर रहा।।41।। तत्पश्चात् हे ब्राह्मणो! मैं तीर्थयात्रा में तत्पर होकर पृथिवी पर विचरण करता हुआ आपके इस नगर में आया हूँ।।42।। तापस वेषधारी उस मनोवेग के इस आत्म-वृत्तान्त को सुनकर क्रोध के वश अधरोष्ठ को कँपाते हुए वे ब्राह्मण बोले कि अरे दुष्ट! तूने इस प्रकार का असत्य बोलना कहाँ से सीखा है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि निश्चयत: समस्त असत्य को एकत्र करके ही ब्रह्मदेव ने तुझे निर्मित किया है। कारण कि यदि ऐसा न होता तो जो कार्य सर्वथा असम्भव हैं उनका कथन तू कैसे कर सकता था? नहीं कर सकता था।।43-44।।

ब्राह्मणों के इस कथन को सुनकर मनोवेग विद्याधर बोला कि हे ब्राह्मणो! ऐसा आप क्यों कहते हैं, क्या आपके पुराणों में इस प्रकार के कार्य का उल्लेख नहीं है? अवश्य है।।45।। इस पर ब्राह्मणों ने कहा कि हे भद्र! तुमने यदि कहीं वेद अथवा पुराण में ऐसा उल्लेख देखा है तो उसे कहो।।46।। इस पर मनोवेग बोला कि हे विप्रो! मैं जानता हूँ व कह भी सकता हूँ। परन्तु जो आप लोग विचार करने के बिना ही सब कथन को ग्रहण करते हैं उनसे मैं डरता हूँ।।47।। जिनके वेद और पुराणों में पद-पद (पग-पग) पर - अनेक स्थलों पर - ब्रह्महत्या (प्राणिहिंसा या ब्राह्मणघात) पायी जाती है उनके

आगे यदि सुन्दर (यथार्थ) भाषण भी किया जाये तो भी वे उसे कैसे ग्रहण कर सकते हैं? अर्थात् वे उसे स्वीकार नहीं कर सकते हैं।।48।।

आपके यहाँ कहा गया है कि पुराण, मानव धर्म – मनु के द्वारा मनुस्मृति में प्ररूपित अनुष्ठान, अंगसहित वेद और चिकित्सा (आयुर्वेद) ये चारों आज्ञासिद्ध हैं – उन्हें आज्ञारूप से ही स्वीकार किया जाना चाहिए। उनका युक्तियों द्वारा खण्डन करना योग्य नहीं है।।49।। तथा मनु, व्यास और वसिष्ठ इन महर्षियों के वचन वेद का अनुसरण करने वाले हैं। इसलिए जो पुरुष उनके कथन को अप्रमाण मानता है उसे अनिवार्य ब्रह्महत्या का दोष लगता है।।50।।

जहाँ दोष विद्यमान होता है वहाँ युक्ति को रोका जाता है। सो यह ठीक नहीं, क्योंकि सुवर्ण के तपाये जाने पर कोई भी विचारक त्रस्त नहीं होता है – उसकी निर्दोषता प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर उसके लिए कोई भी परीक्षण का कष्ट नहीं किया करता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुवर्ण के तपाये जाने पर किसी को भी उसकी निर्दोषता में संदेह नहीं रहता है, उसी प्रकार पुराण एवं धर्म आदि की युक्तियों द्वारा परीक्षा हो जाने पर उनकी भी निर्दोषता में किसी को संदेह नहीं रह सकता है, अतएव उनके विषय में युक्तियों का निषेध करना उचित नहीं कहा जा सकता है।।51।।

मनोवेग के इस कथन को सुनकर वेद को प्रमाण मानने वाले वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! *केवल वचनमात्र से दोष के प्रदर्शित करने पर वस्तुत: दोष कहाँ–से हो सकता है?* नहीं हो सकता है। उदाहरणार्थ – 'तलवार तीक्ष्ण है' ऐसा उच्चारण करने से ही वह जीभ को नहीं काट डालती है।।52।। यदि वचन के उच्चारण मात्र से ही दोष की सम्भावना होती तो फिर 'अग्नि उष्ण है' ऐसा कहने पर मुँह क्यों नहीं जल जाता है?।।53।। इसलिए हे भद्र! यदि हमारे पुराणों में कहीं वस्तुत: कोई दोष है तो उसका केवल वचन मात्र से उल्लेख न करके जहाँ वह दोष विद्यमान हो उस पुराण को तुम हमे निर्भयतापूर्वक कहो। हम सब नैयायिक हैं – न्याय का अनुसरण करने वाले हैं, इसीलिए न्यायोचित भाषण को ग्रहण किया करते हैं।।54।।

इसपर अपने व दूसरों के आगम के रहस्य को जाननेवाले उस मनोवेग विद्याधर ने कहा कि यदि आप न्याय्य वचनों के ग्रहण करने वाले हैं तो फिर मैं अपने हृदयगत अभिप्राय को कहता हूँ, उसे सुनिए।।55।।

भागीरथी, गांधारी एवं अभिमन्यु के प्रसंग

भागीरथी नाम की दो स्त्रियाँ एक स्थान पर सोयी हुई थीं, इससे उनके गर्भाधान होकर प्रसिद्ध भगीरथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, यह आपके पुराणों में वर्णित है।।56।। यदि स्त्री के स्पर्शमात्र से अन्य स्त्री के गर्भस्थिति हो सकती है तो फिर मेरी माता के पुरुष के स्पर्श से गर्भस्थिति क्यों नहीं हो सकती है, यह आप ही बतलायें।।57।।

धृतराष्ट्र के लिए गान्धारी दो मास में दी जाने वाली थी, सो उसे देने के पूर्व ही वह रजस्वला हो गयी। तब उसने चौथे दिन स्नान करके पनस वृक्ष का आलिंगन किया। इससे उसके अतिशय भार से संयुक्त गर्भ रह गया व पेट बढ़ने लगा।।58-59।। तब पिता ने उसके गर्भ को देखकर उसे धृतराष्ट्र के लिए दे दिया - उसके साथ वैवाहिक विधि सम्पन्न करा दी। ठीक है, लोक निन्दा से बचने के लिए सब ही जन प्रयत्न किया करते हैं।।60।। पश्चात् धृतराष्ट्र के द्वारा परिणीत उसने जिस विशाल पनस के फल को उत्पन्न किया उसके मध्य में सौ पुत्र वृद्धिंगत हुए थे।।61।।

इस प्रकार पुराण के वृत्त को कहता हुआ मनोवेग विद्याधर बोला कि हे विप्रो! क्या आपके पुराण में इस प्रकार का वृत्त है कि नहीं है। इस पर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! पुराणों में इस प्रकार का वृत्तान्त अवश्य है, उसका निषेध कौन करता है।।62।। उनके इस उत्तर को सुनकर मनोवेग ने कहा कि जब पनस के साथ आलिंगन होने पर पुत्र हुए, यह सत्य है तब पुरुष के स्पर्श से पुत्र की उत्पत्ति को असत्य कैसे कहा जा सकता है?।।63।। मनोवेग के इस कथन को सुनकर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! पति के स्पर्श मात्र से तुम उत्पन्न हुए हो, यह तुम्हारा कहना सत्य है। परन्तु उन तापसों के वचन को सुनकर तुम बारह वर्ष तक माता के पेट में ही स्थित रहे, इसे हम स्वीकार नहीं कर सकते हैं।।64-65।।

यह सुनकर मनोवेग बोला कि पूर्व समय में कृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा के लिये चक्रव्यूह के विस्तार के सम्बन्ध में निवेदन किया था - उसे चक्रव्यूह की रचना और उसके भीतर प्रवेश करने की विधि को समझाया था। उसे उस समय माता के गर्भ में स्थित अभिमन्यु ने कैसे सुन लिया था और हे ब्राह्मणो! मैं माता के गर्भ में स्थित रहकर तापसों के कथन को क्यों नहीं सुन सकता था - जिस प्रकार गर्भस्थ अभिमन्यु ने चक्रव्यूह के

वृत्त को सुन लिया था उसी प्रकार मैंने भी माता के गर्भ में रहते हुए तापसों के कथन को सुन लिया था।।66-67।।

मन्दोदरी एवं इन्द्रजित् उत्पत्ति का प्रसंग

मय नामक ऋषि ने जब अपने लंगोट को तालाब में धोया था तब उसमें से जो वीर्य का अंश प्रवाहित हुआ उसे पानी में स्थित एक मेंढकी ने आकर पी लिया था। उसके पीने से उस मेंढकी के गर्भ रह गया और तब उस सती ने समय के पूर्ण हो जाने पर एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया था।।68-69।। पश्चात् उस मेंढकी ने यह जानकर कि यह उत्तम लक्षणों वाली कन्या हमारी जाति के योग्य नहीं है, उसे एक कमलिनी के पत्ते पर रख दिया।।70।।

एक समय मय ऋषि उस तालाब के ऊपर पुन: पहुँचे। तब वहाँ उन्होंने उसे देखा और अपने वीर्य के प्रभाव से उत्पन्न हुई जानकर स्नेह के वश ग्रहण कर लिया।।71।। तत्पश्चात् उन्होंने नाना प्रकार के उपायों द्वारा उसका पालन-पोषण कर वृद्धिंगत किया। सो ठीक भी है, क्योंकि अपनी सन्तान के परिपालन में सब ही जन स्वभावत: प्रवृत्त हुआ करते हैं।।72।। किसी समय वह यौवन अवस्था के प्रादुर्भूत होने पर रजस्वला हुई। उस समय उसने वीर्य से मलिन पिता के लंगोट को पहनकर स्नान किया। इससे उसके गर्भाधान हो गया। तब मय मुनि ने उस गर्भ को अपने वीर्य से उत्पन्न जानकर कन्याप्रसंगरूप लोकनिन्दा के भय से उसे स्तम्भित कर दिया - वहीं पर स्थिर कर दिया।।73-74।।

इस प्रकार मुनि के द्वारा उस गर्भ को सात हजार वर्ष तक निश्चल कर देनेपर वह कन्या को केवल पीड़ा उत्पन्न करता हुआ तब तक उसके उदर में अवस्थित रहा।।75।। तत्पश्चात् ऋषि ने उस सुन्दर कन्या को अतिशय शोभा से सम्पन्न रावण के लिए प्रदान कर दिया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। तब उसने इन्द्रजित् नामक पुत्र को जन्म दिया।।76।। पूर्व में जब इन्द्रजित् उत्पन्न हो चुका तब कहीं सात हजार वर्षों के पश्चात् रावण मन्दोदरी के पतिस्वरूप से प्रसिद्ध हुआ।।77।।

इस प्रकार हे विद्वान् विप्रो! यह कहिए कि वह इन्द्रजित् सात हजार वर्ष तक कैसे माता के उदर में अवस्थित रहा और मैं केवल बारह वर्ष तक ही क्यों नहीं माता के उदर

में रह सकता था।।78।। मनोवेग के इस कथन को सुनकर यज्ञकर्ता ब्राह्मण बोले कि हे साधो! यह तुम्हारा कहना सत्य है। परन्तु यह कहो कि उत्पन्न होते ही तुमने तप को ग्रहण कैसे कर लिया।।79।। इसके अतिरिक्त तुम्हारी माता तुम को जन्म देकर कन्या कैसे रही और तब वैसी अवस्था में उसका पुन: विवाह कैसे सम्पन्न हुआ, यह अतिशय असंगत है। इस सब सन्देहरूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए हमें उत्तर दो।।80।। इस पर मनोवेग ने कहा कि यह भी मैं जानता हूँ। मैं उसे कहता हूँ, सावधान होकर सुनिए –

पाराशर एवं धीवर कन्या का प्रसंग

यहाँ अन्य तापस जनों से पूजित – सब तापसों में श्रेष्ठ – एक पाराशर नाम का तापस हुआ है।।81।। वह जिस नाव से गंगा नदी को पार करने के लिए उसके भीतर प्रविष्ट हुआ उसे एक नवीन यौवन से विभूषित शरीर वाली धीवर कन्या चला रही थी।।82।। उसे यौवन से विभूषित देखकर पाराशर काम के बाणों से विद्ध हो गया। इससे उसने उस कन्या को भोगना प्रारम्भ कर दिया। सो ठीक है, काम के बाणों से विद्ध हुआ प्राणी योग्य और अयोग्य स्थान को – स्त्री की उच्चता व नीचता को – नहीं देखा करता है।।83।।

शाप देने के भय से भीत होकर उस धीवर कन्या ने भी उसे स्वीकार कर लिया। सो ठीक है, क्योंकि *सब ही प्राणी अयोग्य कार्य करके भी प्राणों की रक्षा किया करते हैं।।84।।* उस समय पाराशर ऋषि ने वहाँ तप के प्रभाव से दिन को रात्रि में परिणत कर दिया। ठीक भी है, क्योंकि सामग्री के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है।।85।। सम्भोग के पश्चात् उन दोनों के व्यास पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने 'हे पूज्य पिता! मुझे आज्ञा दीजिए' इस प्रकार भक्तिपूर्वक पिता से याचना की।।86।। इस पर पिता पाराशर ने सन्तुष्ट होकर उसे 'हे वत्स! तुम पवित्र तप का आचरण करते हुए यहीं पर स्थित रहो' इस प्रकार की आज्ञा दी।।87।। फिर पाराशर ऋषि उस धीवर कन्या को अपनी सुगन्धि से दिङ्मण्डल को व्याप्त करनेवाली योजनगन्धा नाम की कुमारी करके अपने योग्य आश्रम को चले गये।।88।।

इस प्रकार वह व्यास जन्म लेने के पश्चात् पिता की आज्ञा से कैसे तापस हो

सकता है और मैं जन्म लेने के पश्चात् माता की आज्ञा से क्यों नहीं तापस हो सकता हूँ, इस पर आप लोग विचार करें।।89।। इसी प्रकार व्यास पुत्र के उत्पन्न होने पर भी वह धीवर की पुत्री तो कन्या रह सकती है और मेरी माता मेरे उत्पन्न होने पर कन्या नहीं रह सकती है, यह पक्षपात को छोड़कर और दूसरा क्या हो सकता है – यह केवल पक्षपात ही है।।90।। सूर्य के संयोग से पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर भी जब कुन्ती फिर भी कन्या बनी रही तब मेरे उत्पन्न होने पर मेरी माता क्यों नहीं कन्या रह सकती है, यह महाजनों को अन्त:करण से विचार करना चाहिए।।91।।

उद्दालक एवं चन्द्रमती का प्रसंग

महान् तपस्वी व सर्व जनों में सुप्रसिद्ध उद्दालक ऋषि का जो वीर्य स्वप्न में स्खलित हो गया था उसे लेकर उन्होंने गंगा नदी में कमलपत्र के ऊपर अवस्थित कर दिया।।92।। उधर गुणों की राजधानीस्वरूप – उनकी केन्द्रभूत – व 'चन्द्रमती' नाम से प्रसिद्ध रघु राजा की कुमारी पुत्री रजस्वला होने पर स्नान के लिए अपनी सखियों के साथ गंगा नदी पर गयी। वह वहाँ जाती हुई ऐसी सुशोभित हो रही थी जैसे मानो देवियों के साथ देवी (इन्द्राणी) ही जा रही हो।।93।।

वहाँ पर कुमारी चन्द्रमती ने जैसे ही उस कमल को सूँघा वैसे ही उसके ऊपर स्थित उद्दालक ऋषि का वह वीर्य उसके उदर के भीतर प्रविष्ट हो गया। इससे जिस प्रकार शुक्ति [सीप] के भीतर जल के प्रविष्ट होने पर उसके गर्भ हो जाता है उसी प्रकार वह वीर्य चन्द्रमती के समस्त शरीर में प्रविष्ट होकर गतिशील होता हुआ गर्भ के रूप में परिणत हो गया।।94।। तब उसे गर्भवती देखकर उसकी माता ने इसकी सूचना राजा रघु से की, जिससे राजा ने उसे वन के मध्य में स्थापित करा दिया। ठीक है, *सत्पुरुष घर के दूषणों से अधिक पीड़ित हुआ करते हैं।।95।।*

तत्पश्चात् कुमारी चन्द्रमती ने तृणबिन्दु नामक मुनि के निवासस्थान में निर्मल कीर्ति के नाश के कारणभूत नागकेतु नामक पुत्र को इस प्रकार से उत्पन्न किया जिस प्रकार कि दुष्ट नीति धननाश को उत्पन्न किया करती है।।96।। इस पुत्रोत्पत्ति से मन में खेद को प्राप्त होकर कुमारी चन्द्रमती ने 'जा, तू अपने पिता को खोज' ऐसा कहते हुए

बालक को एक पेटी में रखकर उसके साथ उसे गंगा में प्रवाहित कर दिया।।97।। उधर गंगा में तैरती हुई उस पेटी को देखकर उद्दालक मुनि ने उसे उसमें-से शीघ्र निकाल लिया तथा अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा उसके भीतर अपने ही वीर्य से उत्पन्न पुत्र को अवस्थित जानकर उसे ग्रहण कर लिया।।98।।

पश्चात् जब वहाँ पुत्र को खोजती हुई कुमारी चन्द्रमती आयी तब उसे देखकर उस पुत्र को दिखलाते हुए उद्दालक ऋषि ने उससे कहा कि हे बाले! मैं तेरे ऊपर सन्तुष्ट हूँ, तू मेरी वल्लभा हो जा।।99।। इस पर कुमारी चन्द्रमती बोली कि हे मुने! यदि मेरा पिता मुझे तुम्हारे लिए प्रदान कर देता है तो मैं निश्चित ही तुम्हारी पत्नी हो जाऊँगी। इसलिए तुम जाओ और निर्भय होकर पिता से याचना करो। कारण यह कि उन्नत कुल की कन्याएँ स्वयं ही पति का वरण नहीं किया करती हैं, किन्तु वे अपने माता-पिता आदि की सम्मतिपूर्वक ही उसे वरण किया करती हैं।।100।।

तदनुसार अपरिमित ज्ञान वाले उस उद्दालक मुनि ने रघु राजा के पास जाकर उससे चन्द्रमती की याचना की और तब उत्तम गुणों से संयुक्त उस युवती को फिर से कन्या बनाकर आनन्दपूर्वक उसके साथ विवाह कर लिया व उसे अपनी प्रियतमा बना लिया। सो ठीक है, जो प्राणी कामदेव के पाँच बाणों से विद्ध हुआ है वह भला क्या नहीं करता है? अर्थात् वह किसी भी स्त्री को स्वीकार किया करता है।।101।।

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।14।।

.....जो है उसको कौन मिटावे और नहीं को लावे कौन
भिन्न-भिन्न हो जिसकी सत्ता उसको कहो मिलावे कौन
प्रतिपल का निश्चित परिवर्तन कौन करे आगे-पीछे
सत् का अरे विनाश असत् का उत्पादन हो तो कैसे
स्वयं सिद्ध जो उसको क्या आवश्यकता भगवान की.....

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

इस प्रकार चन्द्रमती के उपर्युक्त वृत्तान्त को कहकर मनोवेग ने कहा कि हे विप्रो! चन्द्रमती के पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर भी जैसे वह कन्या रह सकती है वैसे मेरे उत्पन्न होने पर मेरी माता क्यों नहीं कन्या रह सकती है, यह मुझे कहिए।।1।। इस प्रकार से वह मनोवेग विद्याधर उन वेद के ज्ञाता ब्राह्मण विद्वानों को निरुत्तर करके तापस वेष को छोड़ते हुए उद्यान में जा पहुँचा और मित्र पवनवेग से बोला।।2।।

हे मित्र! आश्चर्य है कि लोक में प्रसिद्ध वे पुराण परस्पर विरोध से संयुक्त हैं। फिर भी मिथ्यात्व से मोहित होने के कारण कोई भी वैसा विचार नहीं करता है।।3।। स्त्रियों के पनस वृक्ष का आलिंगन करने से भला सन्तान कैसे उत्पन्न हो सकती है? नहीं हो सकती है। क्या कभी मनुष्य के स्पर्श से बेलें फल दे सकती हैं? कभी नहीं – जिस प्रकार मनुष्य के स्पर्श से कभी बेलें फल नहीं दिया करती हैं, उसी प्रकार वृक्ष के स्पर्श से स्त्री भी कभी सन्तान को उत्पन्न नहीं कर सकती है।।4।। स्त्री अन्य स्त्री के स्पर्श से गर्भवती कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। कारण कि मैंने कभी एक गाय को दूसरी गाय के स्पर्श से गर्भवती होती हुई नहीं देखा है।।5।।

मेंढकी मनुष्य स्त्री को उत्पन्न करती है, इसे भला कौन विचारशील स्वीकार कर सकता है? कोई नहीं। कारण कि मैंने कभी शालि धान से कोदों उत्पन्न होते हुए नहीं देखे।।6।। यदि वीर्य के भक्षणमात्र से सन्तान उत्पन्न हो सकती है तो फिर सन्तानोत्पत्ति के लिए स्त्रियों को पुरुष के संयोग की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? वह व्यर्थ सिद्ध होता है।।7।। यदि वीर्य के स्पर्शमात्र से ही पुत्र उत्पन्न हो जाते हैं, तो फिर पृथिवी बीज के संसर्ग मात्र से ही धान्य को दे सकती है। सो ऐसा सम्भव नहीं है, किन्तु बीज के आत्मसात् कर लेने पर ही पृथिवी धान्य को उत्पन्न करती देखी जाती है, न कि उसके स्पर्श मात्र से ही। यही बात प्रकृत में जाननी चाहिए।।8।।

वीर्य से लिप्त कमल के सूँघने पर यदि गर्भ होता है तो फिर भोजन से परिपूर्ण पात्र (थाली आदि) के सूँघने पर तृप्ति को कौन रोक सकता है? कोई नहीं। जिस प्रकार वीर्ययुक्त कमल के सूँघने मात्र से गर्भ हो जाता है उसी प्रकार भोजनयुक्त पात्र के सूँघने पर

भोजन विषयक तृप्ति होकर भूख शान्त हो जानी चाहिए। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है।।9।। मेंढकी कन्या को जान करके उसे कमल के पत्र पर कैसे रख सकती है? नहीं रख सकती है; क्योंकि मेंढकों के इस प्रकार के ज्ञान को कब और किसने देखा है? अर्थात् मेंढक जाति में इस प्रकार का ज्ञान कभी किसी के द्वारा नहीं देखा गया है।।10।।

सती कुन्ती के सूर्य, धर्म, वायु और इन्द्र के संयोग से पुत्र - क्रम से कर्ण, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन - हुए। यह वृत्त किस चतुर मनुष्य के हृदय में स्थान पा सकता है? तात्पर्य यह कि इस पर कोई भी विचारशील व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता है।।11।। इस प्रकार से यदि मनुष्य स्त्रियों के साथ देवों का संयोग हो सकता है तो फिर मनुष्यों का संयोग देवियों के साथ क्यों नहीं देखा जाता है? वह भी देखा-सुना जाना चाहिए था।।12।। मनुष्यों का शरीर जब मल-मूत्रादिरूप सब ही अपवित्र वस्तुओं से परिपूर्ण एवं घृणित है तब उसमें देव - जिनका कि शरीर सात धातुओं से रहित और जो मल से रहित हैं - कैसे रम सकते हैं? कभी नहीं रम सकते हैं। तात्पर्य यह कि अतिशय सुन्दर और मल-मूत्रादि से रहित शरीर वाले देव अत्यन्त घृणित शरीर को धारण करने वाली मनुष्य स्त्रियों से कभी भी अनुराग नहीं कर सकते हैं।।13।।

दूसरों के (जैनेतर) शास्त्रों के विषय में जबतक विचार नहीं किया जाता है, तबतक ही वे रमणीय प्रतीत होते हैं। परन्तु जैसे-जैसे विद्वान् उनके विषय में विचार करते हैं वैसे-वैसे वे जीर्ण-शीर्ण होते जाते हैं - उन्हें वे अनेक दोषों से व्याप्त दिखने लगते हैं।।14।। देव और तपस्वी जन स्त्रियों को भोगकर पीछे उन्हें महान् प्रभाव से सम्पन्न होने के कारण कन्या कर देते हैं, इस पर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता है।।15।।

जो परस्त्रियों में अनुरक्त रहकर उनका सेवन किया करते हैं वे यदि महान् प्रभावशाली हो सकते हैं तो फिर व्यभिचारी जनों के विषय में क्या कहा जाये? वे भी प्रभावशाली हो सकते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य दुराचारी जनों के समान यदि देव व मुनिजन भी परस्त्रियों का सेवन करने लग जायें तो फिर उन दुराचारियों से उनमें विशेषता ही क्या रहेगी और तब वैसी अवस्था में वे प्रभावशाली भी कैसे रह सकते हैं? यह सब असम्भव है।।16।।

आगे मनोवेग कहता है कि हे मित्र! इस प्रकार जो उन पुराणों में असत्य कथन

पाया जाता है उसके संबंध में अधिक कहने से कुछ लाभ नहीं है। उन पुराणों में जिस कर्ण की उत्पत्ति सूर्य के संयोग से कुन्ती के कही गयी है उसकी उत्पत्ति जैन शास्त्रों में किस प्रकार निर्दिष्ट की गयी है, यह मैं तुम्हें बतलाता हूँ।।17।।

कर्ण की उत्पत्ति का प्रसंग

व्यास राजा के गुणों के आश्रयभूत धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये प्रसिद्ध तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे।।18।। एक समय पाण्डु वनक्रीड़ा के लिए किसी मनोहर उपवन में गया था। वहाँ क्रीड़ा करते हुए उसने एक लतामण्डप में किसी विद्याधर की उस काममुद्रिका को देखा जो अभीष्ट रूप के धारण कराने में समर्थ थी।।19।। उसे हाथ की अंगुली में डालकर वह अभी वहीं पर स्थित था कि इतने में उक्त मुद्रिका को खोजते हुए चित्रांगद नाम का विद्याधर वहाँ आ पहुँचा।।20।। तब मन में उसकी किंचित् भी अभिलाषा न करके पाण्डु ने वह मुद्रिका उसे दे दी। सो ठीक है, *महान् पुरुष सभी जगह दूसरे के द्रव्य के विषय में पराङ्मुख रहा करते हैं – वे उसकी कभी भी इच्छा नहीं किया करते हैं।।21।।*

पाण्डु की निर्लोभ वृत्ति को देखकर चित्रांगद ने उसे अपना हितैषी मित्र समझा। ठीक है, *दूसरे के धन से विमुख रहने वाले सज्जन लोक में उत्तम हुआ ही करते हैं।।22।।* पश्चात् विद्याधर ने उससे कहा कि हे सज्जन! तुम मेरे वह बन्धु हो जो निरन्तर दूसरे के धन को कचरा के समान तुच्छ समझा करता है।।23।। फिर वह बोला – हे मित्र! तुम खिन्न क्यों दिखते हो, मुझे इसका कारण बतलाओ। कारण यह कि चतुर मित्र अपने मनोगत भाव को मित्र से नहीं छिपाया करता है।।24।।

इस पर पाण्डु बोला कि हे सत्पुरुष! सूर्यपुर में एक अन्धकवृष्टि नाम का राजा है। वह ऐसा प्रभावशाली है जैसा कि स्वर्ग में इन्द्र प्रभावशाली है।।25।। उसके एक सुन्दर आकृति को धारण करने वाली – अतिशय रूपवती – कन्या है। वह ऐसी प्रतीत होती है जैसे मानो तीनों लोकों के जीत लेने पर कामदेव ने अपने विजय की पताका ही ऊपर खड़ी कर दी हो – फहरा दी हो।।26।। काम को वृद्धिंगत करने वाली उस कन्या को पहले अन्धकवृष्टि राजा ने मुझे दे दिया था। किन्तु अब इस समय वह मेरी रुग्णावस्था को देखकर उसे मुझे नहीं दे रहा है।।27।। इसी कारण हे मित्र! मेरे मन में लकड़ियों को

काटने वाले कुठार के समान मर्मों को काटने वाला यह खेद उत्पन्न हुआ है।।28।।

उसके इस विषाद-कारण को सुनकर चित्रांगद बोला कि हे भद्र! तुम इस विषाद को छोड़ दो। मैं तुम्हारी उद्विग्नता को नष्ट कर देता हूँ। तुम जो मैं कहता हूँ उसे करो।।29।। हे मित्र! तुम मेरी इस काममुद्रिका को लेकर जाओ और इच्छानुसार रूप को धारण करके अपने मन को प्यारी उस कन्या का उपभोग करो।।30।। तत्पश्चात् जब उसके गर्भाधान हो जायेगा तब वह उसे स्वयं ही तुम्हारे लिए प्रदान कर देगा, क्योंकि सत्पुरुष दूषित स्त्री को अपने घर में नहीं रहने दिया करते हैं।।31।।

तदनुसार पाण्डु उस काममुद्रिका को लेकर उक्त कन्या के निवासगृह में जा पहुँचा। सो ठीक है, *मनुष्य विषय का लोलुपी स्वयं रहता है, फिर जब तदनुकूल उपाय भी मिल जाता है तब वह क्या उसका लोलुपी नहीं रहेगा?* तब तो वह अधिक लोलुपी होगा ही।।32।। इस प्रकार वहाँ पहुँचकर उसने इच्छानुसार कामदेव के समान आकार को धारण करते हुए उसका स्वेच्छापूर्वक उपभोग किया। ठीक है, मन को प्रसन्न करने वाली उस प्रिया को एकान्त में पाकर कौन अपनी इच्छा को चरितार्थ नहीं किया करते हैं? अर्थात् वैसी अवस्था में सब ही जन अपनी अभीष्ट प्रिया का उपभोग किया ही करते हैं।।33।।

इस प्रकार उस तरुण पाण्डु ने सात दिन तक उसका सम्भोग करते हुए गर्भ को इस प्रकार से स्थापित कर दिया जिस प्रकार कि खजाना निर्दोष नीति को स्थापित करता है।।34।। तत्पश्चात् उसने सुखी होकर उसको वहीं पर छोड़ा और स्वयं वापस आ गया। सो ठीक है, अभीष्ट कार्य के सिद्ध हो जाने पर भला कौन सुख को नहीं प्राप्त होता है? अर्थात् समीहित के सिद्ध हो जाने पर सब ही जन सुख का अनुभव किया करते हैं।।35।।

इधर कुन्ती की माता को जब यह ज्ञात हुआ कि वह गर्भवती है तब उसने अत्यन्त गुप्तरूप से प्रसूति करायी। सो ठीक है, घर के कलंक से भयभीत होकर सब ही जन गोपनीय बात को छिपाया करते हैं।।36।। उस समय कुन्ती की माता ने इस गृह-कलंक से भयभीत होकर उसके पुत्र को एक पेटी में रखा और गंगा नदी में प्रवाहित कर दिया।।37।। इस प्रकार गंगा के द्वारा ले जायी गयी उस पेटी को देखकर चम्पापुर के अधिपति आदित्य राजा ने उसे दूषित नीति से लायी गई सम्पत्ति के समान ग्रहण कर लिया।।38।।

तब उसने उस पेटी के भीतर विद्वान् जनों से पूजित सरस्वती के मध्यगत निर्दोष अर्थ के समान उत्तम लक्षणों से परिपूर्ण एक बालक को देखा।।39।। उस समय उस बालक ने अपने मुख को देखते समय चूँकि राजा को कान में ग्रहण किया था अतएव उसने उक्त बालक को 'कर्ण' इस नाम से बुलाया – उसका उसने 'कर्ण' यह नाम रख दिया।।40।। उसके कोई पुत्र न था। इसलिए उसने उसे पुत्र की इच्छा से इस प्रकार वृद्धिंगत किया जिस प्रकार कि कोई निर्धन मनुष्य धन की इच्छा से उस धन की राशि को वृद्धिंगत करता है।।41।।

जिस प्रकार महोदय – अतिशय उन्नत (तेजस्वी) – सूर्य के अस्त हो जाने पर आकाश में उदित होकर चन्द्रमा लोक को आनन्दित करता है उसी प्रकार उस महोदय – अतिशय उन्नत (प्रतापी) – आदित्य राजा के अस्तंगत (मृत्यु को प्राप्त) हो जाने पर वह कर्ण राजा होकर लोक को आनन्दित करने वाला हुआ।।42।। **महामनस्वी उस कर्ण को चूँकि आदित्य राजा ने वृद्धिंगत किया था, इसलिये वह आदित्यज (सूर्यपुत्र) कहा जाता है; न कि आदित्य (सूर्य) नाम के ज्योतिषी देव से उत्पन्न होने के कारण।।43।।**

कारण यह कि धातु (वीर्य आदि) से रहित कोई भी देव मनुष्य स्त्री से मनुष्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है और वह ठीक भी है, क्योंकि पत्थर के द्वारा भूमि में गेहूँ आदि अनाज कभी भी उत्पन्न नहीं किये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि समानजातीय पुरुष प्राणी समानजातीय स्त्री से समानजातीय सन्तान को ही उत्पन्न कर सकता है, न कि विपरीत दशा में।।44।। कुन्ती के उपर्युक्त वृत्त को जानकर उसे बुद्धिमान अन्धकवृष्टि राजा ने उस दोष को छिपाते हुए पाण्डु के लिये प्रदान कर दिया – उसके साथ उसका विवाह कर दिया। साथ ही उसने गान्धारी को धृतराष्ट्र के लिए भी प्रदान कर दिया।।45।।

इस प्रकार पुराण का वृत्तान्त तो अन्य प्रकार है, परन्तु व्यास ऋषि ने उसका निरूपण अन्य प्रकार से – विपरीत रूप से – किया है। ठीक है, *जो जन राग व द्वेषरूप पिशाच से पीड़ित होते हैं वे पाप से नहीं डरा करते हैं।।46।। जो वृत्त युक्ति से संगत नहीं होता है उसका कथन धर्मात्मा जन नहीं किया करते हैं।* युक्ति से असंगत वाक्यों का उच्चारण तो केवल पापी जन ही किया करते हैं।।47।। लोक में सबके सब सम्बन्ध

बहुत प्रकार के देखे जाते हैं, परन्तु एक ही स्त्री से पाँच भाइयों का सम्बन्ध कहीं पर भी नहीं देखा जाता है।।48।। इसी प्रकार सब ही बुद्धिमान् सबके साथ द्रव्यादि का विभाजन किया करते हैं, परन्तु स्त्री का विभाजन तो नीच जनों के द्वारा भी निन्दनीय माना जाता है।।49।।

जो व्यास योजनगन्धा का पुत्र था वह भिन्न माना गया है और प्रशंसनीय सत्यवती नाम की राजकन्या का पुत्र व्यास भिन्न माना गया है।।50।। इसी प्रकार पूर्व-व्यास का पिता वह पाराशर तापस और उत्तर-व्यास का पिता पाराशर राजा ये दोनों भी भिन्न हैं। लोग दोनों का एक ही नाम होने से अज्ञानतावश उन्हें अभिन्न मानते हैं।।51।। धृतराष्ट्र के संयोग से उत्पन्न हुए दुर्योधन आदि पुत्र गान्धारी के तथा पृथ्वी पर प्रसिद्ध पाँच पाण्डव (पाण्डुपुत्र) कुन्ती व मद्री के पुत्र थे।।52।। वे सब गान्धारी के पुत्र कर्ण के साथ राजा जरासन्ध की सेवा किया करते थे तथा पाँचों पाण्डव कृष्ण की सेवा करते थे।।53।।

वसुदेव का पुत्र अतिशय प्रतापशाली कृष्ण युद्ध में जरासन्ध को मारकर समस्त पृथिवी का - तीन खण्ड स्वरूप दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र का - स्वामी हुआ।।54।। कुन्ती से उत्पन्न तीन पाण्डव - युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन - तपश्चरण करके मुक्ति को तथा मद्री के भव्य पुत्र - नकुल व सहदेव - सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।।55।। शेष दुर्योधन आदि सब जैन धर्म का आराधन करके अपने-अपने कर्म के अनुसार स्वर्गादि को प्राप्त हुए हैं।।56।। इस प्रकार यह पुराण का यथार्थ वृत्त है, जिसका वर्णन व्यास ने विपरीतरूप से किया है। सो ठीक भी है, *जिनका अन्त:करण मिथ्यात्व से व्याप्त रहता है, वे यथार्थ कथन कहाँ से कर सकते हैं?* नहीं कर सकते।।57।।

महाभारत रचना प्रसंग

भारत (महाभारत) की रचना कर चुकने के पश्चात् उसमें निन्दा के कारणभूत पूर्वापर विरोध को देखकर व्यास ने अपने मन में इस प्रकार विचार किया - यदि बिना प्रयोजन के भी किया गया कार्य लोक में प्रसिद्ध हो सकता है तो असम्बद्ध एवं विरुद्ध अर्थ से परिपूर्ण मेरा शास्त्र (महाभारत) भी स्पष्टतया प्रसिद्ध हो सकता है।।58-59।। इसी विचार से व्यास ने एक ताँबे के पात्र (कमण्डलु) को गंगा के किनारे रखकर उसके ऊपर बहुत-सी बालुका के समूह का ढेर कर दिया।।60।। उनके उस बालुका समूह को

देखकर यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले – अन्धश्रद्धालु जनों ने भी धर्म समझकर उसी प्रकार के बालु के ढेर कर दिये।।61।।

इस बीच स्नान करने के पश्चात् जब व्यास ने उस ताँबे के बर्तन को देखा तब वहाँ बालुका समूह के इतने ढेर हो चुके थे कि उनमें उस ताम्रपात्र के स्थान का ही पता नहीं लग रहा था।।62।। समस्त गंगातट को व्याप्त करने वाले उस बालुका समूह की राशि को देखकर व लोगों की इस अज्ञानता को जानकर व्यास ने यह श्लोक पढ़ा – जो लोग दूसरे के द्वारा किये गये कार्य को देखकर यथार्थता का विचार नहीं किया करते हैं वे अपने अभीष्ट कार्य को इस प्रकार से नष्ट करते हैं जिस प्रकार इन लोगों ने मेरे ताम्रपात्र को नष्ट कर दिया – इतने असंख्य बालुका के ढेरों में उसका खोजना असम्भव कर दिया।।63-64।।

अज्ञानरूप अन्धकार से व्याप्त इस अविवेकी लोक के भीतर लाखों के बीच में एक-आध मनुष्य ही विचारशील उपलब्ध हो सकता है। ऐसी अवस्था में विपरीत भी मेरा वह शास्त्र (महाभारत) प्रसिद्धि को प्राप्त हो सकता है। ऐसा विचार करके व लोगों की मूर्खता को देखकर अन्त में व्यास को अतिशय सन्तोष हुआ।।65-66।। इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध उन पुराणों को शत्रुओं के वचनों के समान जानकर उन्हें विद्वानों को प्रमाण नहीं करना चाहिये – उन्हें विश्वसनीय नहीं समझना चाहिये।।67।।

आगे मनोवेग कहता है कि हे मित्र! अब मैं तुम्हें और भी लोकप्रसिद्ध पुराण को – पुराणप्ररूपित वृत्त को – दिखलाता हूँ, इस प्रकार कहकर उसने रक्त वस्त्र के धारक परिव्राजक के वेष को ग्रहण किया।।68।। तत्पश्चात् वह पाँचवें द्वार से प्रविष्ट होकर नगर के भीतर गया और हाथ से भेरी को ताड़ित करता हुआ सुवर्णमय सिंहासन के ऊपर बैठ गया।।69।। उस भेरी के शब्द को सुनकर ब्राह्मण आये और उससे बोले कि तुम विद्वान् दिखते हो, तुम क्या कुछ जानते हो व हम लोगों के साथ शास्त्रार्थ करोगे?।।70।।

इस पर मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो! मैं किसी शास्त्र को नहीं जानता हूँ। मैं तो केवल अपूर्व भेरी को ताड़ित करके यों ही सुवर्ण-सिंहासन के ऊपर बैठ गया हूँ।।71।। मनोवेग के इस उत्तर को सुनकर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! तुम परिहास न करके सीधा-सच्चा अभिप्राय कहो। कारण यह कि *जो समीचीन अभिप्राय प्रकट करने वाले सत्पुरुषों के साथ हास्यपूर्ण व्यवहार को करता है उसकी लोक में निन्दा की जाती है।।72।।*

इस पर मनोवेग ने कहा कि मैं देखे हुए आश्चर्य की सूचना तो करता हूँ, परन्तु ऐसा करते हुए भयभीत होता हूँ। आप लोग उसे अविवेकता से विपरीतरूप में ग्रहण न करें।।73।। इस पर ब्राह्मण बोले कि भद्र! तुमने जो देखा है उसे कहो, इसमें किसी भी प्रकार का भय न करो। कारण कि हम सब विचारशील हैं व हमारा मन न्याय से संस्कारित है – वह पक्षपात से दूषित नहीं है, अत: हम न्यायसंगत वस्तुस्वरूप को ही ग्रहण किया करते हैं।।74।। तत्पश्चात् लाल वस्त्र का धारक वह मनोवेग बोला कि यदि ऐसा है तो फिर मैं कहता हूँ, सुनिये।

गीदड़ों द्वारा टीला उड़ा ले जाने की कथा

हम दोनों उपासक – बुद्धभक्त गृहस्थ – के पुत्र व वन्दकों के – बौद्धभिक्षुओं के – आराधक हैं।।75।। एक बार भिक्षुओं ने अपने वस्त्रों को सुखाने के लिए पृथिवी पर फैलाया और उनकी रक्षा के लिये हाथ में लाठी देकर हम दोनों को नियुक्त किया।।76।। तदनुसार हम दोनों वहाँ उन भिक्षुओं के वस्त्रों की रक्षा प्रयत्नपूर्वक कर रहे थे। इतने में दो मोटे ताजे भयानक गीदड़ (गीध) वहाँ आ पहुँचे।।77।। तब हम दोनों उनसे भयभीत होकर एक बड़े टीले के ऊपर चढ़े ही थे कि इतने में वे दोनों उस टीले को उठाकर ऊपर उड़े और आकाश में चले गये।।78।। उस समय हमारे आक्रन्दन को सुनकर जब तक भिक्षु बाहर निकले तब तक वे दोनों बड़े वेग से बारह योजन तक चले गये थे।।79।।

पश्चात् वे दोनों गीध उस टीले को पृथिवी पर छोड़कर जैसे ही हम दोनों को खाने के लिए उद्यत हुए वैसे ही उन्हें शस्त्रों के धारक अनेक प्रकार के शिकारी कुत्तों के साथ वहाँ आते हुए दिखाई दिये।।80।। तब उनसे भयभीत होकर उन दोनों ने हमें खाने से छोड़ दिया और स्वयं भाग गये। ठीक है, प्राण जाने की शंका होने पर कोई भी भोजन को प्रारम्भ नहीं करता है – किन्तु उसे छोड़कर अन्यत्र भाग जाने का ही प्रयत्न करता है।।81।।

तत्पश्चात् हम दोनों ने शिकारियों के साथ शिव देश में आकर मन को स्थिर करते हुए इस प्रकार विचार किया – हम दोनों दिङ्मूढ़ होकर इस दूसरे के देश को प्राप्त हुए हैं व अपने घर के मार्ग को नहीं जानते हैं तथा मार्ग में खाने के योग्य भोजन भी पास में नहीं है। तब ऐसी अवस्था में घर को कैसे जा सकते हैं? वहाँ जाना सम्भव नहीं है।

अच्छा तो अब यही होगा कि बुद्ध भगवान के द्वारा उपदिष्ट जो तप कुल परम्परा से चला आ रहा है, उसी का हम आचरण करें। कारण कि उससे हमें दोनों लोकों सम्बन्धी श्रेष्ठ व नित्य सुख की प्राप्ति हो सकती है। वस्त्र तो अपने पास लाल हैं ही, बस शिर को और मुड़ा लेते हैं। जो घर अनेक अनर्थों का कारण है उस घर से हम दोनों का क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? कुछ भी नहीं।।82-85।।

इस प्रकार का विचार करके हम दोनों ने अपने-आप ही व्रत को ग्रहण कर लिया है और वह ठीक भी है, क्योंकि विद्वान् जन स्वयं ही धर्मकार्य में प्रवृत्त हुआ करते हैं।।86।। हम दोनों नगरों और खानों से (अथवा नगरसमूह से) सुशोभित इस पृथिवी पर परिभ्रमण करते हुए ब्राह्मण जन से परिपूर्ण इस आपके स्थान को आ रहे हैं।।87।। गीदड़ों के द्वारा टीले को ऊपर उठाकर ले भागना, यह नेत्रों को आश्चर्यजनक है; परन्तु इस प्रकार के आश्चर्य को हम दोनों ने प्रत्यक्ष देखा है व उसके सम्बन्ध में आपसे निवेदन किया है।।88।।

मनोवेग के इस कथन को सुनकर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! तुम व्रत में स्थिर रहकर इस प्रकार का असत्य भाषण कैसे करते हो?।।89।। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने निश्चित ही तीनों लोकों के असत्यभाषियों को एकत्रित करके तुम्हें रचा है। कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर इस प्रकार का असत्यभाषी अन्य क्यों नहीं देखा जाता है? और भी ऐसे असत्यभाषी देखे जाने चाहिए थे।।90।।

ब्राह्मणों के इस भाषण को सुनकर वह विद्याधर राजा का बुद्धिमान पुत्र बोला कि हे ब्राह्मणो! आप लोगों के पुराणों में क्या इस प्रकार के बहुत से असत्य नहीं हैं?।।91।। *दूसरों के दोष को तो सब ही जन देखा करते हैं, परन्तु अपने दोष को निश्चय से कोई भी नहीं देखता है।* ठीक है, चन्द्रमा के कलंक को तो सभी जन देखते हैं, परन्तु अपने आप में स्थित काजलयुक्त नेत्र को कोई भी नहीं देखता है।।92।।

मनोवेग के इस आरोप को सुनकर वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! यदि तुमने हमारे पुराण में इस प्रकार का असत्य देखा है तो तुम उसे निर्भय होकर कहो, तब हम विचार करके उस असत्य को छोड़ देंगे।।93।। ब्राह्मणों के इन वाक्यों को सुनकर जिसकी बुद्धि जिनेन्द्र भगवान् के वचनरूप जल के द्वारा धुल चुकी थी ऐसा वह जितशत्रु का पुत्र मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो! यदि आप जान करके उस असत्य को छोड़ देंगे तो फिर मैं पुराण के उस वृत्त को कहता हूँ।।94।।

वानरसेना द्वारा पर्वतों को उठाने का प्रसंग

रामचन्द्र त्रिशिर और खर आदि राक्षसों को मारकर लक्ष्मण और सीता के साथ वन में अवस्थित थे कि इतने में वहाँ वीररस से परिपूर्ण (प्रतापी) लंका का स्वामी (रावण) आया।।95।। उसने छलपूर्वक राम के लिए सुवर्णमय मृग को दिखलाकर व रक्षा के कार्य में नियुक्त पक्षी (जटायु) को मारकर सीता का अपहरण कर लिया। सो ठीक है, कामी मनुष्य किसके लिए उपद्रव नहीं करता है? वह अपने अभीष्ट को सिद्ध करने के लिए जिस किसी को भी कष्ट दिया ही करता है।।96।।

तत्पश्चात् अतिशय प्रतापी राम ने बलवान् बालि को मारकर बन्दरों के साथ सुग्रीव राजा को अपनी ओर मिलाया और तब सीता के वृत्तान्त को जानने के लिये उसने हनुमान को लंका भेजा।।97।। इस प्रकार अपरिमित गमन के वेग से परिपूर्ण (अतिशय शीघ्रगामी) वह हनुमान लंका गया और वहाँ राक्षस रावण के निवासगृह में सीता को देखकर वापस आ गया। तब राम ने शीघ्र ही बन्दरों को आज्ञा देकर उन्नत पर्वतों के द्वारा समुद्र के जल के ऊपर पुल को बँधवा दिया। ठीक है, स्त्री का अभिलाषी मनुष्य कौन-से आश्चर्यजनक कार्य को नहीं करता है - वह उसकी प्राप्ति की इच्छा से कितने ही आश्चर्यजनक कार्यों को भी कर डालता है।।98।।

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में पन्द्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।15।।

.....अरे! धनादि संयोग पुण्य के उदयजन्य सामान हैं
उनके संपादन में चेतन का न तनिक अहसान है
एक अथक श्रम करता लेकिन भूखा सोता रात है
और मोतियों के करण्ड में होता कहीं प्रभात है
विधि का यही विधान न इसमें श्रम का नाम-निशान भी.....

सोलहवाँ परिच्छेद

उस समय राम की आज्ञा से एक-एक बन्दर पाँच-पाँच पर्वतों को अनायास लेकर आकाश में अनेक प्रकार की क्रीड़ा करता हुआ वहाँ जा पहुँचा।।1।। मनोवेग कहता है कि हे ब्राह्मणो! वाल्मीकि मुनि के द्वारा विरचित रामायण नामक शास्त्र में राम का वृत्त इसी प्रकार से कहा गया है कि नहीं?।।2।। इस पर ब्राह्मणों ने कहा कि सचमुच में ही वह इसी प्रकार का है, उसे अन्य प्रकार कौन कर सकता है। कारण कि कोई भी हाथ के द्वारा कभी प्रभात को - सूर्य के प्रकाश को - नहीं आच्छादित कर सकता है।।3।।

ब्राह्मणों के इस उत्तर को सुनकर रक्त वस्त्र का धारक वह मनोवेग बोला कि हे विप्रो! यदि एक-एक बन्दर पाँच-पाँच पर्वतों को लेकर आकाश में अनायास जा सकता है तो फिर हम दोनों के साथ उस टीले को लेकर शीघ्रता से आकाश में जाते हुए उन दोनों पुष्ट शृगालों को कौन रोक सकता है, यह हमें कहिए।।4-5।। आपका यह रामायणकथित वृत्त सत्य है और मेरा वह कहना सत्य नहीं है, इसका कारण यहाँ मुझे विवकेहीनता को छोड़कर और दूसरा कोई भी नहीं दिखता है।।6।।

आपके शास्त्र के इस प्रकार - दोषपूर्ण - होने पर देव और धर्म भी उसी प्रकार के - दोषपूर्ण - होने चाहिए। इसका हेतु यह है कि *कारण के सदोष होने पर कार्य निर्मल कहाँ से हो सकता है?* अर्थात् कारण के मलिन होने पर कार्य भी मलिन होगा ही।।7।। जिनकी आत्मा मिथ्याज्ञान से आच्छादित हो रही है, इस प्रकार के विद्वानों के बीच में हमारा स्थित रहना उचित नहीं है, ऐसा कहकर वह मनोवेग वहाँ से चल दिया।।8।।

तत्पश्चात् रक्त वस्त्रधारी भिक्षु के वेष को छोड़कर वह मनोवेग पवनवेग से बोला कि हे मित्र! तुमने सब ही असम्भावनीय अर्थों से - असंगत वर्णनों से - परिपूर्ण दूसरों के शास्त्र को सुन लिया है। उसमें उपदिष्ट अनुष्ठान को करने वाला - तदनुसार क्रियाकाण्ड में प्रवृत्त होने वाला - प्राणी उत्तम फल को (समीचीन सुख को) नहीं प्राप्त कर सकता है। कारण कि बालु के पेलने से कभी किसी को तेल नहीं प्राप्त हो सकता है।।9-10।।

जैसा कि उक्त रामायणादि में कहा गया है, बन्दर किसी प्रकार से भी राक्षसों को नहीं मार सकते हैं। कारण कि अणिमा-महिमा आदि आठ महागुणों के धारक वे

राक्षस – उस जाति के व्यन्तर देव – तो कहाँ और वे विवेकहीन पशु कहाँ? अर्थात् उक्त राक्षस देवों के साथ उन तुच्छ बन्दरों की कुछ भी गणना नहीं की जा सकती है।।11।। उतने भारी पर्वतों को भला वे बन्दर कैसे उठा सकते हैं तथा वे पर्वत भी अगाध जल से परिपूर्ण समुद्र के मध्य में कैसे अवस्थित रह सकते हैं – उनका पुल के रूप में जल के ऊपर रहना सम्भव नहीं है।।12।।

जो रावण शंकर के वरदान को पाकर देवताओं के द्वारा भी नहीं मारा जा सकता था, वही रावण मनुष्य होकर क्या राम के द्वारा मारा जा सकता है? नहीं मारा जाना चाहिए, अन्यथा उस वरदान की निष्फलता अनिवार्य है।।13।। यदि कदाचित् यह भी कहा जाये कि देवताओं ने बन्दर होकर उस रावण को मारा था तो यह कहना भी योग्य नहीं हो सकता है, क्योंकि कोई भी कभी इच्छानुसार गति को – मनुष्य व देवादि की अवस्था को – नहीं प्राप्त कर सकता है?।।14।।

दूसरे, **जब महादेव सर्वज्ञ था तब उसने उस रावण को वैसा वरदान ही कैसे दिया, जिससे कि उसके द्वारा लोक में किये जाने वाले उपद्रव को देव भी न रोक सकें।।15।।** इस प्रकार दूसरों के पुराणों के विषय में विचार करने पर वहाँ कुछ भी तत्त्व अथवा लाभ नहीं देखा जाता है। ठीक भी है, पानी के मथने पर भला मक्खन कब व किसको प्राप्त हुआ है? वह कभी किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ है – वह तो दही के मथने पर ही प्राप्त होता है, न कि पानी के मथने पर।।16।। हे मित्र! जैसी कि अन्य लोगों ने कल्पना की है, तदनुसार **न तो ये सुग्रीव आदि बन्दर थे और न रावण आदि राक्षस भी थे।।17।।**

वे सब – सुग्रीव एवं रावण आदि – विद्या व वैभव (अथवा विद्या की समृद्धि) से परिपूर्ण, जैन धर्म के आराधन में तत्पर, पवित्र, सदाचारी और अतिशय प्रतापी मनुष्य थे।।18।। ध्वजा में बन्दर का चिह्न होने से सुग्रीव आदि बन्दर कहे गये हैं तथा राक्षस का चिह्न होने से रावण आदि राक्षस कहे गये हैं। दोनों को ही अनेक महाविद्याएँ सिद्ध थीं।।19।। उनका स्वरूप जिस प्रकार गौतम गणधर ने श्रेणिक के लिए कहा था, चन्द्रमा के समान निर्मल दृष्टिवाले भव्य जीवों को उसका उसी प्रकार से श्रद्धान करना चाहिए।।20।।

हे मित्र! अब मैं तुम्हें दूसरों के पुराण के विषय में और भी कुछ दिखलाता हूँ, यह कहकर मनोवेग ने मित्र के साथ कौलिक के आकार को – तांत्रिक मतानुयायी के वेष को – ग्रहण किया।।21।। तत्पश्चात् वह छठे द्वार से पाटलीपुत्र नगर के भीतर गया और अकस्मात् भेरी को बजाकर सुवर्णसिंहासन के ऊपर बैठ गया।।22।। भेरी के शब्द को सुनते ही ब्राह्मणों ने आकर उससे पूछा कि तुम क्या जानते हो, तुम्हारा गुरु कौन है, और क्या तुम हम लोगों से शास्त्रार्थ कर सकते हो या केवल बाह्य अतिशयता ही दिखती है।।23।।

ब्राह्मणों के प्रश्नों को सुनकर मनोवेग बोला कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ, तथा गुरु भी मेरा कोई नहीं है। मैं तो शास्त्रार्थ के नाम को भी नहीं जानता हूँ, फिर भला शास्त्रार्थ की शक्ति मुझमें कहाँ से हो सकती है।।24।। मैंने पूर्व में कभी ऐसे सुवर्णमय आसन को नहीं देखा था, इसीलिए इस अपूर्व आसन को देखकर उसके ऊपर बैठ गया हूँ तथा भेरी के दीर्घ शब्द को देखने की इच्छा से इस विशाल भेरी को बजा दिया था।।25।। हम दोनों अहीर के मूर्ख लड़के हैं व किसी भी शास्त्र का परिज्ञान हमें सर्वथा नहीं है। हम तो भय से स्वयं तप को ग्रहण करके पृथिवी पर घूम रहे हैं।।26।। मनोवेग के इस उत्तर को सुनकर ब्राह्मण बोले कि तुमने भय से तप को कैसे ग्रहण किया है, यह तुम हमारे आग्रह से हमें कहो। कारण कि हमें उसके सम्बन्ध में बहुत कुतूहल हो रहा है।।27।। उनके आग्रह पर वह चार्वाक वेषधारी मनोवेग बोला कि –

कटे सिर से फल खाने की कथा

आभीर देश के भीतर वृक्षग्राम में हम दोनों का उरणश्री नाम का पिता रहता था।।28।। एक दिन भेड़ों के पालक को (चरवाहे को) ज्वर आ गया था, इसलिए पिता ने हम दोनों को भेड़ों की रक्षा के लिए वन में भेजा, तदनुसार हम दोनों वहाँ गये भी।।29।। वहाँ हमने कुटुम्बी (कृषक) के समान एक कैंथ के वृक्ष को देखा – कुटुम्बी यदि बहुत–सी शाखा–उपशाखाओं (पुत्र–पौत्रादिकों) से संयुक्त होता है तो वह वृक्ष भी अपनी बहुत–सी शाखाओं व उपशाखाओं (बड़ी–छोटी टहनियों) से संयुक्त था, कुटुम्बी जैसे धान्य की प्राप्ति से नम्रीभूत होता है वैसे ही यह वृक्ष भी अपने विशाल फलों से नम्रीभूत हो रहा था – उनके भार से नीचे की ओर झुका जा रहा था, तथा जैसे कुटुम्बी महान् उदय से – धन–धान्य आदि समृद्धि से – सम्पन्न होता है वैसे वह वृक्ष भी महान् उदय से – ऊँचाई से – सहित था।।30।।

उसे देखकर मेरे मन में कैंथ फलों के खाने की इच्छा उदित हुई। इसलिए मैंने भाई से कहा कि हे भ्रात, मैं कैंथ के फलों को खाता हूँ, तुम इन भेड़ों की रखवाली करना।।31।। तदनुसार इस भाई के भेड़-समूह की रक्षा के लिए चले जाने पर मैंने उस कैंथ के वृक्ष को चढ़ने के लिए अशक्य देखकर यह विचार किया कि यह वृक्ष चूँकि बहुत ऊँचा है, अतएव मेरा उसके ऊपर चढ़ना कठिन है, और जब मैं उसके ऊपर चढ़ नहीं सकता हूँ तब मैं भूख से पीड़ित होकर भी उन फलों को कैसे खा सकता हूँ।।32-33।।

इस प्रकार दीर्घकाल तक विचार करके मैंने स्वयं उसके सम्मुख जाकर अपने सिर को काट लिया और उसे सब प्राण के साथ उस वृक्ष के ऊपर फेंक दिया।।34।। वह मेरा सिर जैसे-जैसे इच्छानुसार उन कैंथ के फलों को खा रहा था वैसे-वैसे मेरा शरीर अतिशय सुख को उत्पन्न करने वाली तृप्ति को प्राप्त हो रहा था।।35।। इस प्रकार से उन फलों को खाते हुए मस्तक ने जब देखा कि अब पेट भर चुका है तब वह नीचे आया और छिद्ररहित होकर कण्ठ से जुड़ गया। तत्पश्चात् मैं भेड़ों को देखने के लिए गया।।36।।

जैसे ही मैं कुमार को (भाई को) देखने के लिए वहाँ से आगे बढ़ा वैसे ही मैंने भाई को वन के बीच में सोता हुआ देखा।।37।। तब मैंने उसे उठाकर पूछा कि हे भ्रात! भेड़ें कहाँ गयी हैं। इस पर उसने उत्तर दिया कि हे पूज्य! मैं सो गया था, इसलिए मुझे ज्ञात नहीं है कि वे किधर भाग गयी हैं।।38।। यह सुनकर मैंने भाई से कहा कि तो फिर चलो भागकर कहीं अन्यत्र चलें। कारण कि जब पिता को यह ज्ञात होगा कि भेड़ें कहीं भाग गयी हैं तब वह हम दोनों के ऊपर रुष्ट होगा व हमें दण्ड देगा।।39।।

परन्तु यदि किसी वेष को धारण करने के बिना परदेश में चलते हैं तो भूख से पीड़ित होकर मर जायेंगे, अतएव हे भद्र! इसके लिए हम दोनों वेष के धारक हो जायें।।40।। शरीर में भस्म लगाना व कथड़ी के साथ नर-कपाल को धारण करना, यह कर्णमुद्रों [श्वेतवस्त्रधारी भिक्षुओं] का वेष है जो हम दोनों के लिए सुखपूर्वक भोजन का कारण हो सकता है।।41।। पिता कुल में तांत्रिक मतानुयायी भिक्षुओं का भक्त है। अत: हम दोनों कापालिक - वाममार्गी या अघोरपन्थी - हो जाते हैं, अन्य लिंग से कुछ प्रयोजन नहीं है।।42।। यह जान करके हम दोनों बृहस्पतिप्रोक्त चार्वाक मतानुयायी साधु बन गये व इस प्रकार से पृथिवी पर घूमते हुए आपके नगर में आये हैं।।43।।

मनोवेग के इस वृत्त को सुनकर ब्राह्मण बोले कि यद्यपि तुम नरक में जाने से नहीं डरते हो फिर भी जो व्रत में स्थित हैं उन्हें इस प्रकार से नहीं बोलना चाहिए।।44।। तत्पश्चात् कापालिक के वेष को धारण करने वाला वह मनोवेग बोला कि क्या आप लोगों के वाल्मीकिपुराण में इस प्रकार का कथन नहीं है।।45।। इसके उत्तर में वे ब्राह्मण बोले कि ऐसा कथन वाल्मीकिपुराण में कहाँ है? यदि तुमने कहीं इस प्रकार का कथन देखा है तो तुम निर्भय होकर उसे कहो। इस पर मनोवेग विद्याधर इस प्रकार बोला।।46।।

रावण की वर-प्राप्ति का प्रसंग

जो रावण विशाल बीस भुजाओं से सहित, अतिशय धीर और दस मुखों से संयुक्त था वह राक्षसों का अधिपति हुआ है, यह तीनों लोकों में प्रसिद्ध है।।47।। उसने स्थिर भक्ति के साथ शंकर की आराधना करते हुए अपने नौ मस्तकों को तलवार से काटकर विकसित अधरोष्ठरूप पत्रों से सुशोभित उन मस्तकोंरूप कमलपुष्पों के द्वारा पार्वती के पति की (शंकर की) भक्तिपूर्वक पूजा की थी। ठीक भी है, वर का अभिलाषी प्राणी किस कार्य को नहीं करता है? वह वर की अभिलाषा से दुष्कर कार्य को भी किया करता है।।48-49।।

तत्पश्चात् अपनी भुजा से रावणहस्तक को श्रव्य करके (?) देवों व गन्धर्वों को मोहित करनेवाले संगीत को प्रारम्भ किया [हस्तक नामक संगीत प्रारंभ किया] ।।50।। उस समय शंकर की जो दृष्टि पार्वती के मुख पर स्थित थी उसे उस ओर से हटाते हुए उन्होंने उसके साहस को देखकर उसे अभीष्ट वरदान दिया।।51।। तत्पश्चात् रावण ने गरम-गरम रुधिर की धारा से पृथिवी तल को सींचने वाली उन सिरों की परम्परा को बिना किसी प्रकार के छिद्र के फिर से जोड़ दिया।।52।।

मनोवेग पूछता है कि हे विप्रो! वाल्मीकि के द्वारा वर्णित पुराण का अभिप्राय क्या इसी प्रकार का है या अन्यथा? यदि आप सत्यभाषी हैं तो उसकी सत्यता को कहिए।।53।। इस पर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! सचमुच में वह उसी प्रकार का है। जो प्रत्यक्ष में देखा गया है अथवा अतिशय प्रसिद्ध है उसे अन्य प्रकार करने के लिए कौन समर्थ है?।।54।। ब्राह्मणों के इस उत्तर को सुनकर भस्म का धारक वह मनोवेग बोला

कि हे विद्वान् विप्रो! जब कि वे रावण के काटे हुए नौ सिर पुनः जुड़ गये थे तो मेरा एक सिर क्यों नहीं जुड़ सकता है? आपका यह कथन तो सत्य है, परन्तु मेरा वह कहना सत्य नहीं है; इसका कारण मुझे मोह के विकास को छोड़कर और दूसरा कोई नहीं दिखता।।55-56।।

यदि उन काटे हुए सिरों को शंकर जोड़ देता है तो उसने उस समय तापसों के द्वारा काटे गये अपने लिंग को क्यों नहीं जोड़ा?।।57।। **जब शंकर स्वयं अपना ही भला करने में असमर्थ है तब वह दूसरों का भला नहीं कर सकता है।** कारण कि जो स्वयं शत्रु के द्वारा पीड़ित हो रहा है वह उस शत्रु से दूसरे की रक्षा नहीं कर सकता है।।58।। हे ब्राह्मणो! इसके अतिरिक्त और भी सुनिए -

दधिमुख ब्राह्मण का प्रसंग

श्रीकण्ठ नगर में ब्राह्मणी ने दधिमुख नाम से प्रसिद्ध जिस पुत्र को उत्पन्न किया था वह केवल सिर मात्र ही था।।59।। उसने प्राणियों के निर्मल करने में समर्थ सब ही श्रुतियों और स्मृतियों को इस प्रकार से शीघ्र स्वीकार किया था जिस प्रकार कि समुद्र समस्त नदियों को स्वीकार करता है।।60।। किसी समय उसने अगस्त्य मुनि को देखकर उन्हें प्रणाम करते हुए 'आप आज मेरे घर पर भोजन करें' यह कहकर निमंत्रित किया।।61।। इस पर अगस्त्य मुनि ने पूछा कि हे भद्र! तुम्हारा वह घर कहाँ पर है, जहाँ तुम मुझे अतिशय आदरपूर्वक स्थापित करके भोजन कराना चाहते हो।।62।।

इसके उत्तर में वह दधिमुख बोला कि हे साधो! क्या माता-पिता का घर मेरा घर नहीं है? इस पर अगस्त्य ऋषि ने कहा कि नहीं, उससे तेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। घर में स्थित होकर भी जो कुमार है (अविवाहित है) वह दान देने के योग्य गृहस्थ नहीं माना जाता है। किन्तु दान-धर्म में समर्थ जो उत्तम स्त्री है उसे ही घर कहा जाता है।।63-64।। इस प्रकार कहकर अगस्त्य ऋषि के चले जाने पर उसने अपने माता-पिता से यह कहा कि तुम दोनों मेरे कुमारपने के दोष को दूर करो - मेरा विवाह कर दो।।65।।

यह सुनकर माता-पिता ने उससे कहा कि हे पुत्र! तेरे लिए कोई भी अपनी छोकरी नहीं देता है। फिर भी हम दोनों तेरे काम की श्रद्धा का निराकरण करेंगे - तेरी स्त्रीविषयक इच्छा को पूर्ण करेंगे।।66।। तत्पश्चात् उन दोनों ने बहुत-सा धन देकर एक दरिद्र की

पुत्री को प्राप्त किया और यथायोग्य महोत्सव करके उसके साथ इसका विवाह कर दिया।।67।। फिर कुछ थोड़े-से ही काल के बीतने पर उन दोनों ने दधिमुख से कहा कि हे वत्स! अब हमारे पास द्रव्य नहीं है, अत: तुम अपनी प्रिया का पालन करो।।68।। इस पर दधिमुख ने अपनी पत्नी से कहा कि हे प्रिये! हम दोनों को माता-पिता ने घर से निकाल दिया है, इसलिए चलो कहीं पर भी जीवन-यापन करेंगे।।69।।

तब दधिमुख की वह पतिव्रता पत्नी अपने पति को एक सींके में रखकर घर-घर दिखलाती हुई पृथिवी पर फिरने लगी।।70।। इस प्रकार ऐसे विकल - हाथ-पाँव आदि अंगों से रहित सिरमात्र स्वरूप - पति का पालन करती हुई उस दधिमुख की स्त्री को देखकर प्रजाजनों ने अन्न-वस्त्र देते हुए उसकी बड़ी भक्ति की।।71।। उपर्युक्त रीति से वह सती पतिव्रता प्रत्येक नगर में जाकर उसी प्रकार से पूजा को प्राप्त करती हुई एकसमय बहुत-से जुआ के अड्डों से व्याप्त उज्जयिनी नगरी में पहुँची।।72।।

वहाँ वह जुआरियों के एक अड्डे में कील के ऊपर पति से संयुक्त उस सींके को छोड़कर भोजन की याचना के लिए नगर के भीतर गयी।।73।। इस बीच में वहाँ दो जुआरियों में परस्पर घोर युद्ध हुआ और उसमें एक ने एक के सिर को शीघ्रतापूर्वक तलवार से काट डाला।।74।। उस समय तलवार के प्रहार से उस सींके के कट जाने से दधिमुख का सिर आकर उस जुआरी के धड़ से जुड़ गया।।75।। इस प्रकार दधिमुख के मस्तक के उस धड़ के साथ बिना जोड़ के मिल जाने पर वह सर्वांगसुन्दर मनुष्य होकर सब ही कार्यों के करने में समर्थ हो गया।।76।।

मनोवेग कहता है कि ब्राह्मणो! यह वाल्मीकि का कथन क्या सत्य है या असत्य; यह मुझे अपने अन्त:करण में यथेष्ट विचार कर शीघ्र कहिए।।77।। इस पर उन ब्राह्मणों ने कहा कि वह सत्य ही है, उसे असत्य कौन कर सकता है। कारण कि उदित हुए सूर्य को अनुदित कहने पर वह वस्तुत: अनुदित नहीं हो जाता है।।78।। यह सुनकर मनोवेग विद्याधर ने कहा कि जब उस दधिमुख का अखण्ड सिर उस धड़ से बिना जोड़ के मिल गया तब मेरा काटा हुआ सिर क्यों नहीं जुड़ सकता है।।79।। इसके अतिरिक्त रावण ने तीक्ष्ण तलवार के द्वारा अंगद के दो टुकड़े कर दिये थे। तत्पश्चात् जब उन्हें हनुमान ने जोड़ा तो उन दोनों के जुड़ जाने पर वह अंगद पूर्ववत् अखण्ड कैसे हो गया था।।80।।

दानवों के स्वामी (बृहद्रथ) ने देवता का आराधन करके जिस अभीष्ट पिण्ड को उससे प्राप्त किया था उसे उसने पुत्रोत्पत्ति के निमित्त अपनी स्त्री को दिया।।81।। परन्तु उस स्त्री ने सौत - दानवेन्द्र की द्वितीय स्त्री - के व्यामोह से उसके दो भाग करके उनमें से एक भाग उसे भी दे दिया। इससे उन दोनों के ही दो भागों में गर्भाधान हुआ।।82।। पश्चात् समय के पूर्ण हो जाने पर जब पुत्र उत्पन्न हुआ तब उसे पृथक्-पृथक् दो खण्डों में विभक्त देखकर उन दोनों ने उसे ले जाकर बाहर फेंक दिया। परन्तु जरा राक्षसी ने उन दोनों भागों को जोड़ दिया।।83।। इस प्रकार उन दोनों भागों के जुड़ जाने पर उससे प्रसिद्ध जरासन्ध राजा हुआ। वह अतिशय पराक्रमी होने से मनुष्य और देवों का विजेता होकर सब ही कार्यों के करने में समर्थ था।।84।।

जब वे दोनों खण्ड घाव से रहित होते हुए भी जोड़ने पर जुड़कर एक हो गये थे तब हे विप्रो! मेरा वह घाव से संयुक्त सिर क्यों नहीं जुड़ सकता था, यह मुझे कहिए।।85।। इस प्रकार जहाँ जरासन्ध और अंगद इन दोनों के दो-दो भागों में विभक्त शरीर जुड़कर एक हो गया व दोनों जीवित रहे वहाँ मेरा सिर व उससे रहित शेष शरीर - ये दोनों जुड़कर एक क्यों नहीं हो सकते हैं? जरासन्ध और अंगद के समान उनके जुड़ जाने में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।।86।। छः खण्डों में विभक्त कार्तिकेय का उन छः खण्डों को एक करके निर्माण कैसे हुआ? उन छः खण्डों के जुड़ने में जब अविश्वास नहीं किया जा सकता है तब मेरे शिर और शेष शरीर के जुड़ने में विश्वास क्यों नहीं किया जाता है।।87।।

यदि इस पर यह कहा जाये कि वह कार्तिकेय तो देव है, इसलिए उसके छह खण्डों में विभक्त होने पर भी एकता हो सकती है तो वह भी योग्य नहीं है, क्योंकि वैसी अवस्था में मनुष्य-स्त्री से देव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? वह असम्भव है।।88।। यदि उसका देवी से उत्पन्न होना माना जाये तो वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि देवी का शरीर रुधिर आदि सब प्रकार के मल से रहित होता है, अतएव जिस प्रकार शिला (चट्टान) के ऊपर गर्भाधान की सम्भावना नहीं है उसी प्रकार देव-स्त्री के भी उस गर्भ की सम्भावना नहीं की जा सकती है। यदि वह उसके सम्भव है तो कैसे, यह मुझे कहिए।।89।।

मनोवेग के इस कथन को सुनकर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! तुम्हारा यह सब कहना सत्य है, परन्तु यह कहो कि तुम्हारे सिर के द्वारा फलों के खाने से उदर की पूर्णता कैसे हो गयी।।90।। इस पर शुभ्र वस्त्र का धारक वह मनोवेग बोला कि **ब्राह्मणों के भोजन**

कर लेने पर मरण को प्राप्त हुए पितामह (आजा) आदि पूर्वज कैसे तृप्ति को प्राप्त होते हैं और मेरे सिर के द्वारा फलों का भक्षण करने पर समीप में ही स्थित मेरा उदर क्यों नहीं तृप्ति को प्राप्त हो सकता है, इसका उत्तर आप मुझे दें।।91।। जिनको जन्मे हुए दीर्घकाल बीत गया व जो मृत्यु को प्राप्त होकर भस्मीभूत हो चुके हैं, वे जहाँ दूसरों के भोजन कर लेने पर तृप्ति को प्राप्त होते हैं, वहाँ मेरा समीपवर्ती विद्यमान शरीर तृप्ति को नहीं प्राप्त हो सकता है, क्या इससे भी और कोई विचित्र बात हो सकती है?।।92।।

इसी प्रकार से जो प्राचीन महापुरुष – दुर्योधन आदि – धर्म में तत्पर रहे हैं उनके विषय में भी व्यास आदि ने विपरीत कथन किया है। ऐसा करते हुए उन्हें वृद्धि को प्राप्त हुए मिथ्यात्वरूप गाढ़ अन्धकार से आच्छादित होने के कारण नरक में जाने का भी भय नहीं रहा।।93।। उदाहरणस्वरूप जो **दुर्योधन राजा जिनदेव के चरणरूप कमल का भ्रमर रहकर – उनके चरणों का आराधक होकर – दिव्य गति को प्राप्त हुआ है** उसके विषय में मूढ़ व्यास ने 'वह युद्ध में भीम के द्वारा मारा जाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ' इस प्रकार असत्य कहा है।।94।।

जो **श्रेष्ठ कुम्भकर्ण और इन्द्रजित् आदि मुक्तिरूप स्त्री के आलिंगन में दत्तचित्त रहे हैं – उस मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे हैं**, उन्हें व्यासादि ने निन्दापूर्वक मांसभक्षण दोष से दूषित ऐसी प्राणिभक्षक राक्षस अवस्था को प्राप्त कराया है – उन्हें घृणित राक्षस कहा है।।95।। जो **बालि महात्मा कर्मबन्ध को नष्ट करके मुक्तिरूप वधू का पति हुआ है – मोक्ष को प्राप्त हुआ है**, उसके सम्बन्ध में वाल्मीकि ने 'वह राम के द्वारा मारा जाकर मृत्यु को प्राप्त हुआ' इस प्रकार असत्य कहा है।।96।।

लंका का स्वामी रावण समाधि में स्थित बालि मुनि के निमित्त से अपने विमान की गति के रुक जाने से उनके ऊपर क्रोधित होता हुआ विद्या के बल से शरीर की विक्रिया करके उक्त मुनिराज से अधिष्ठित कैलास पर्वत के फेंक देने में प्रवृत्त हुआ।।97।। उस समय उस कैलास पर्वत के ऊपर स्थित जिनभवनों को विनाश से बचाने की इच्छा से बालि मुनि ने पर्वतराज को पाँव से पीड़ित किया – अपने पाँव के अँगूठे से उस कैलास पर्वत को नीचे दबाया। इससे रावण उसके नीचे दबकर अतिशय रुदन करने लगा। तब बालि मुनि ने अपने पाँव को संकुचित (शिथिल) करके उस लंका के अधिपति को 'रावण' इस सार्थक नाम को प्राप्त कराया।।98।।

इस प्रकार उस **कैलास पर्वत के उद्धार का वृत्त बालि के विषय में प्रसिद्ध है** परन्तु कवि ने उसकी योजना सात्यकि रुद्र (शंकर) के विषय में की है। सो वह ठीक नहीं है, क्योंकि मुनिसुव्रत तीर्थंकर के तीर्थ में होनेवाला वह रावण तो कहाँ और अन्तिम तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में होनेवाला वह शंकर कहाँ – दोनों का भिन्न समय होने से ही उक्त कथन असंगत सिद्ध होता है।।99।। जो अहल्या के अनुरागवश दूषित दीनतापूर्ण प्रवृत्ति में रत हुआ वह भूलोक में अवस्थित शक्र नाम का एक विद्याधरों का स्वामी था, न कि अतिशय पवित्र आचरण वाला सौधर्म-कल्प का इन्द्र। इसके अतिरिक्त **देव और मनुष्य स्त्री के मध्य में शरीर का संयोग भी सम्भव नहीं हैं।।100।।**

सर्वोत्कृष्ट लक्ष्मी से सम्पन्न वह सौधर्म कल्प का स्वामी महात्मा इन्द्र दशमुख (रावण) के द्वारा पराजित हुआ, ऐसा कहने वाले यह कहें कि क्षुद्र कीट – चींटी आदि – के द्वारा गजराज पराजित किया गया। अभिप्राय यह कि उपर्युक्त वह कथन 'चींटी ने हाथी को मार डाला' इस कथन के समान असत्य है।।101।। रावण के द्वारा इन्द्र नामक विद्याधरों के स्वामी के जीत लेने पर अन्य कवि यह कहते हैं कि उसने इन्द्र को पराजित किया था। ठीक है, *जो दुष्ट जन सब योग्यायोग्य के विचार से रहित हैं वे महापुरुषों के लिए किस दोष को नहीं देते हैं?* वे उनमें अविद्यमान दोष को दिखलाकर स्वभावत: उनकी निन्दा किया करते हैं।।102।।

विश्व के द्वारा आराधनीय जो प्रसिद्ध विष्णु अतिशय बलवान् व तीन खण्ड का स्वामी (अर्धचक्री) था वह अपने ही सेवक अर्जुन का दूत अथवा सारथि कैसे हुआ, यह बड़ी विचित्र बात है।।103।। इस प्रकार लोकप्रसिद्ध इन पुराणों का कथन अन्त:करण की अज्ञानता के ख्यापित करने में समर्थ – अभ्यन्तर अज्ञानभाव को प्रकट करने वाला – होकर अनर्थ को उत्पन्न करनेवाला है, इस प्रकार जानकर अपरिमित ज्ञानियों के द्वारा अथवा प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता अमितगति आचार्य के द्वारा उसका निवारण करना योग्य है। इसीलिए निर्मल बुद्धि के धारक प्राणियों को उसे अपने मन के भीतर स्थान नहीं देना चाहिए – उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए।।104।।

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में सोलहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।16।।

सत्रहवाँ परिच्छेद

इस प्रकार से उन ब्राह्मणों को निरुत्तर देखकर वह विद्याधर कुमार (मनोवेग) वहाँ से निकलकर बहुत-से वृक्षों से विभूषित उद्यान में चला गया।।1।। वहाँ वे दोनों जटाधारक साधु के वेष को छोड़कर अनेक प्रकार के फलों से सुशोभित होने के कारण सज्जन के समान नम्रीभूत हुए - नीचे की ओर झुके हुए - एक वृक्ष के नीचे बैठ गये।।2।। उस समय जैनमत के ग्रहण करने की इच्छा से प्रेरित होकर पवनवेग ने मनोवेग से कहा कि हे मित्र! तुम मुझे ब्राह्मण आदि के शास्त्रों की विशेषता को सूचित करो।।3।। इस पर मनोवेग ने उससे कहा कि -

वेदों की अकृत्रिमता व वैदिक हिंसा की परीक्षा

ब्राह्मणों का अपौरुषेय वेदशास्त्र उनके द्वारा धर्मादिक में - यज्ञादि क्रियाकाण्ड के विषय में - निर्दोष प्रमाण माना गया है।।4।। परन्तु चूँकि वह संसाररूप वृक्ष को वृद्धिंगत करने वाली हिंसा की विधेयता को निरूपित करता है, अतएव उसे ठगशास्त्र के समान समझकर सत्पुरुष प्रमाण नहीं मानते हैं।।5।। कारण इसका यह है कि वेद में कही गयी हिंसा - यज्ञादि में किया जाने वाला प्राणिविघात - तो धर्म का कारण है, परन्तु ठगशास्त्र के द्वारा प्ररूपित हिंसादि धर्म का कारण नहीं है - वह पाप का कारण है; इस प्रकार इन दोनों में कोई विशेषता नहीं देखी जाती है - ठगशास्त्रविहित हिंसा के समान ही यज्ञविहित हिंसा को भी पाप का ही कारण समझना चाहिए।।6।।

यदि कहा जाये कि वेद जो धर्मादि के निरूपण में प्रमाण माना जाता है इसका कारण उसकी अपौरुषेयता है - राग, द्वेष एवं अज्ञानता आदि दोषों से दूषित पुरुष-विशेष के द्वारा उसका न रचा जाना (अनादि-निधनता) है; तो यह भी योग्य नहीं है, क्योंकि जब उसकी इस अपौरुषेयता पर विचार करते हैं तब वह किसी प्रकार से बनती नहीं है - विघटित हो जाती है।।7।। यथा - **यदि वह वेद अकृत्रिम है - किसी के द्वारा नहीं किया गया है, तो फिर वह तालु एवं ओष्ठ आदि कारणों के द्वारा कैसे किया गया है?** कारण कि बढ़ई और राज [मकान बनाने वाला] आदि के व्यापार से निर्मित हुआ भवन अकृत्रिम नहीं कहा जाता है।।8।।

इस पर यदि यह कहा जाये कि उक्त तालु आदि कारण उसके व्यंजक हैं, न कि कारण – वे उस विद्यमान वेद को प्रकट करते हैं, न कि उसे निर्मित करते हैं; तो यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इसका नियामक यहाँ कोई भी हेतु नहीं देखा जाता है। कारण कि जिस प्रकार प्रकट करने योग्य घट-पटादि पदार्थ उन्हें प्रकाशित करने वाले दीपक व प्रकाश आदिरूप व्यंजक कारणों के बिना भी जाने जाते हैं, उस प्रकार शब्द भी तालु आदिरूप उन व्यंजक कारणों के बिना क्यों नहीं जाने जाते हैं – उक्त घटादि के समान उन शब्दों का भी परिज्ञान बिना व्यंजक कारणों के होना चाहिए था, सो होता नहीं है। अत: सिद्ध होता है कि तालु आदि कारण वेद के व्यंजक नहीं हैं, किन्तु उत्पादक ही हैं। तब ऐसी अवस्था में उसकी अपौरुषेयता सिद्ध नहीं होती है।।9-10।।

दूसरे, **जो कृत्रिम (पुरुषविरचित) शास्त्र हैं उनसे प्रस्तुत वेद में जब कोई विशेषता नहीं देखी जाती है तब वेद के उपासक जन उसे अपौरुषेय कैसे कहते हैं** – पुरुषविरचित अन्य शास्त्रों के समान होने से वह अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता है।।11।। इसके अतिरिक्त मीमांसकों के मतानुसार जब अकारादि सब ही वर्ण व्यापक हैं – सर्वत्र विद्यमान हैं, तब उनके व्यंजक वे तालु व कण्ठ आदि उन सबको एक साथ ही क्यों नहीं व्यक्त करते हैं। कारण कि लोक में यह देखा जाता है कि जितने क्षेत्र में जो भी घट-पटादि पदार्थ विद्यमान हैं उतने क्षेत्रवर्ती उन घट-पटादि पदार्थों को उनके व्यंजक दीपक आदि व्यक्त किया ही करते हैं। तदनुसार उक्त अकारादि वर्णों के उन तालु आदि के द्वारा एक स्थान में व्यक्त होने पर सर्वत्र व्यक्त हो जाने के कारण उनका श्रवण सर्वत्र ही होना चाहिए, सो होता नहीं है।।12।।

और भी – **वेद जब अनादि व अपौरुषेय है तब सर्वज्ञ के बिना उसके अर्थ को स्पष्टतापूर्वक कौन कहता है?** कारण कि वह स्वयं ही अपने अर्थ को कह नहीं सकता है। यदि कदाचित् यह भी स्वीकार किया जाये कि वह स्वयं ही अपने अर्थ को व्यक्त करता है तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वैसी अवस्था में उसके मानने वालों में विवाद नहीं पाया जाना चाहिए था; परन्तु वह पाया ही जाता है। यदि उसके व्याख्याता किन्हीं अल्पज्ञ जनों को माना जाये तो उस अवस्था में उसके अर्थ के विषय में परस्पर विवाद का रहना अवश्यम्भावी है, जो कि उसको समानरूप से प्रमाण मानने वाले मीमांसक एवं नैयायिक आदि के मध्य में पाया ही जाता है।।13।।

तथा यदि वह वेद अनादि-निधन है तो फिर वह वर्तमानकालीन गोत्र और मुनियों की शाखाओं आदि की - जो कि हजारों की संख्या में वहाँ प्ररूपित हैं - सूचना कैसे कर सकता था? अभिप्राय यह है कि **जब उस वेद में वर्तमानकालवर्ती ऋषियों की अनेक शाखाओं आदि का उल्लेख पाया जाता है तब वह अनादि-निधन सिद्ध नहीं होता,** किन्तु सादि व पौरुषेय ही सिद्ध होता है।।14।।

इस पर यदि यह कहा जाय कि वह वेद का अर्थ परम्परा से जाना जाता है तो ऐसा कहना भी सुन्दर नहीं है - वह भी अयोग्य है। क्योंकि **सर्वज्ञ के माने बिना वह मूलभूत परम्परा भी कहाँ से बन सकती है?** नहीं बन सकती है। अभिप्राय यह है कि यदि मूल में उसका व्याख्याता सर्वज्ञ रहा होता तो तत्पश्चात् वह व्याख्यातार्थ [व्याख्यान] परम्परा से उसी रूप में चला आया माना भी जा सकता था, सो वह सर्वज्ञ मीमांसकों के द्वारा माना नहीं गया है। इसीलिए उसके व्याख्यान की वह परम्परा भी नहीं बनती है।।15।।

इस प्रकार मीमांसकों के मतानुसार जब सब ही असर्वज्ञ हैं - सर्वज्ञ कभी कोई भी नहीं रहा है, तब वे सब उस वेद के रहस्य को कैसे जान सकते हैं? जैसे - यदि सब ही पथिक चक्षु से रहित (अन्धे) हों तो फिर वे अभीष्ट मार्ग को कैसे देख सकते हैं? नहीं देख सकते हैं।।16।। अनादि काल से आने वाला वह वेद कदाचित् नष्ट भी हो सकता है, तब वैसी अवस्था में जब सब ही असर्वज्ञ हैं - पूर्णज्ञानी कोई भी नहीं है - तब उसको सादि व्यवहार के समान फिर से कौन प्रकाशित कर सकता है? कोई भी नहीं प्रकाशित कर सकता है।।17।।

इसके अतिरिक्त वह अपौरुषेयता सत्पुरुषों को सभी स्थान में अभीष्ट नहीं है - क्वचित् आकाशादि के विषय में ही वह उन्हें अभीष्ट हो सकती है, सो वह ठीक भी है, क्योंकि व्यभिचारी एवं चोरों के मार्ग को भला कौन अकृत्रिम (अपौरुषेय) मानते हैं? कोई भी उसे अकृत्रिम नहीं मानता है। यदि सर्वत्र ही अपौरुषेयता अभीष्ट हो तो फिर व्यभिचारी एवं चोरों आदि के भी मार्ग को अपौरुषेय मानकर उसे भी प्रमाणभूत व ग्राह्य क्यों नहीं माना जा सकता है?।।18।।

यागकर्ताओं के द्वारा याग में जो प्राणिहिंसा की जाती है वह इस प्रकार से संसार-परिभ्रमण की कारण है जिस प्रकार कि शिकारियों के द्वारा वन के बीच में की जाने वाली प्राणिपीड़ाजनक जीवहिंसा संसार-परिभ्रमण की कारण है।।19।।

जिस प्रकार कसाइयों के द्वारा मारे जाने वाले गो-महिषादि प्राणी उस समय उत्पन्न होनेवाले संक्लेश से अतिशय व्याकुल किये जाते हैं उसी प्रकार यज्ञ में यागकर्ताओं के द्वारा हठपूर्वक मारे जाने वाले बकरा व भैंसा आदि प्राणी भी उस समय उत्पन्न होने वाले भयानक संक्लेश से अतिशय व्याकुल किये जाते हैं। फिर भी यज्ञ में मारे गये वे प्राणी स्वर्ग को जाते हैं, इन याज्ञिकों के कथन पर मुझे आश्चर्य होता है। कारण कि उक्त **दोनों ही अवस्थाओं में समान संक्लेश के होते हुए भी यज्ञ में मारे गये प्राणी स्वर्ग को जाते हैं और कसाइयों के द्वारा मारे गये प्राणी स्वर्ग को नहीं जाते हैं, यह कथन युक्तिसंगत नहीं है।।20।।**

प्राणी जिस देवगति को धर्म के नियमों (व्रतविधानादि) और ध्यान में निरत होकर प्राप्त किया करते हैं **उस देवगति को दुराग्रहवश यज्ञ में मारे गये प्राणी कैसे प्राप्त कर सकते हैं?** उसकी प्राप्ति उनके लिए सर्वथा असम्भव है।।21।। इसलिए सत्पुरुषों को इन वेदभक्त याज्ञिकों के हिंसा के कारणभूत उक्त कथन को ग्रहण नहीं करना चाहिए। कारण कि *धर्मात्मा जन कसाइयों के - हिंसक जनों के - कथन को कहीं किसी प्रकार से भी हृदयंगम नहीं किया करते हैं।।22।।*

जाति श्रेष्ठता

प्राणी सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्याय से रहित होकर भी जाति मात्र से - केवल उच्च समझी जाने वाली ब्राह्मण आदि जाति में जन्म लेने से ही - धर्म को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।।23।। जातियों के भेद की कल्पना केवल आचार की विशेषता से ही की गयी है। प्राणियों के ब्राह्मण की प्रशंसनीय जाति कहीं भी नियत नहीं हैं - परम्परा से ब्राह्मण कहे जाने वालों के कुल में जन्म लेने मात्र से वह ब्राह्मण जाति प्राप्त नहीं होती, किन्तु वह जप-तप, पूजापाठ एवं अध्ययन-अध्यापन आदिरूप समीचीन आचरण से ही प्राप्त होती है।।24।।

ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि चारों ही वर्णवालों की जाति वस्तुतः एक ही मनुष्य जाति है। उसके भीतर यदि विभाग किया जाता है तो वह विविध प्रकार के आचार से ही किया जाता है।।25।। यदि उक्त चारों वर्णवालों के मध्य में स्वभावतः वह जातिभेद होता तो फिर ब्राह्मणी से क्षत्रिय की उत्पत्ति किसी प्रकार से भी नहीं होनी चाहिए थी। कारण कि मैंने शालि जाति में – एक विशेष चावल की जाति में – कोद्रव (कोदों) की उत्पत्ति कभी नहीं देखी है।।26।।

यदि यहाँ यह उत्तर दिया जाये कि शुद्ध शीलवाली ब्राह्मण स्त्री में पवित्र आचार के धारक ब्राह्मण के द्वारा जो पुत्र उत्पन्न किया गया है वह ब्राह्मण कहा जाता है, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर में सर्वकाल शुद्धशीलपना स्थिर नहीं रह सकता है। इसका भी कारण यह है कि अनादि काल से आने वाले कुल में उस शुद्धशीलता से पतन कहाँ नहीं होता है; कभी न कभी उस शुद्धशीलता का विनाश होता ही है।।27-28।।

वस्तुतः जिस जाति में संयम, नियम, शील, तप, दान, इन्द्रियों व कषायों का दमन और दया; ये परमार्थभूत गुण अवस्थित रहते हैं वही सत्पुरुषों की श्रेष्ठ जाति समझी जाती है।।29।। योजनगन्धा (धीवरकन्या) आदि से उत्पन्न होकर तपश्चरण में रत हुए व्यासादिकों की की जाने वाली उत्तम पूजा को देखकर तपश्चरण में अपनी बुद्धि को लगाना चाहिए।।30।। *शीलवान् मनुष्य नीच जाति में उत्पन्न होकर भी स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं तथा उत्तम कुल में उत्पन्न होकर भी कितने ही मनुष्य शील व संयम को नष्ट करने के कारण नरक को प्राप्त हुए हैं।।31।।*

चूँकि गुणों के द्वारा उत्तम जाति प्राप्त होती है और उन गुणों के नष्ट होने पर वह विनाश को प्राप्त होती है, अतएव विद्वानों को गुणों के विषय में उत्कृष्ट आदर करना चाहिए।।32।। सज्जनों को केवल – शील-संयमादि गुणों से रहित – जाति का अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह कोरा अभिमान नीचगति में प्रवेश कराने वाला है। किन्तु इसके विपरीत उन्हें शील का अतिशय आदर करना चाहिए, क्योंकि वह उच्च पद को प्राप्त कराने वाला है।।33।।

वास्तविक शुद्धता

जो लोग शील और सत्य आदि गुणों के बिना केवल शरीर के स्नान से पवित्रता मानते हैं उनके समान दूसरे कोई पापरूप वृक्ष के बढ़ाने वाले नहीं हैं – वे अतिशय पाप को वृद्धिंगत करते हैं।।34।। जो शरीर वीर्य और रुधिर से परिपूर्ण होकर मल से वृद्धि को प्राप्त हुआ है वह जल के द्वारा शुद्ध किया जाता है – स्नान से शुद्ध होता है, इससे भला अन्य क्या आश्चर्यजनक बात हो सकती है? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्वभावत: काला कोयला जल से धोये जाने पर कभी श्वेत नहीं हो सकता है, अथवा मल से परिपूर्ण घट को बाह्य भाग में स्वच्छ करने पर भी वह कभी पवित्र नहीं हो सकता है; उसी प्रकार *स्वभावत: मल से परिपूर्ण शरीर बाह्य में जल से स्नान करने पर कभी पवित्र नहीं हो सकता है।।35।।*

जल से बाहरी मल शुद्ध होता है – वह शरीर के ऊपर से पृथक् हो जाता है, यह तो कहा जा सकता है; परन्तु उसके द्वारा पापरूप मल नष्ट किया जाता है, यह विचार भला किसके हृदय में उदित हो सकता है – इस प्रकार का विचार कोई भी बुद्धिमान नहीं कर सकता है।।36।। *पापी प्राणी मिथ्यात्व, असंयम और अज्ञानता के द्वारा जिस पाप को संचित करता है वह सम्यक्त्व, संयम और विवेक ज्ञान के द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है;* उसके नष्ट करने का और दूसरा कोई उपाय नहीं है; यह स्पष्ट है।।37।।

क्रोधादि कषायों के द्वारा उपार्जित पाप जल से धोया जाता है, इस बात को जड़ात्मा से अन्य – विवेकहीन मनुष्य को छोड़कर और दूसरा – कोई भी विचारशील मनुष्य नहीं कह सकता है, यह निश्चित है।।38।। जब कि वह जल पूर्णतया शरीर को ही शुद्ध नहीं कर सकता है तब भला उसके द्वारा उस शरीर के भीतर अवस्थित दोषपूर्ण मन कैसे निर्मल किया जा सकता है? कभी नहीं।।39।।

चार्वाक मत परीक्षा

जो पृथिवी आदि चार भूतों से उत्पन्न होकर गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही रहता है उसी का नाम प्राणी या जीव है, उसको छोड़कर गर्भ से पूर्व व मरण के पश्चात् भी रहने वाला कोई जीव नाम का पदार्थ नहीं है; इस प्रकार जो चार्वाक मतानुयायी कहते हैं वे

निश्चय से अपने आप को ही धोखा देते हैं।।40।।

जिस प्रकार आदिम चित्त से मध्यम चित्त तथा मध्यम चित्त से अन्तिम चित्त सदा उत्पन्न होता है उसी प्रकार अन्तिम चित्त से आदिम चित्त भी उत्पन्न होना चाहिए। जिस प्रकार मध्यम चित्त प्रथम चित्त के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है उसी प्रकार प्रथम चित्त भी पूर्व चित्त के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ – अभिप्राय यह है कि पर्याय की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण पूर्व पर्याय को छोड़कर नवीन पर्याय को ग्रहण किया करती है। इस प्रकार पूर्व क्षणवर्ती पर्याय कारण व उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य होती है। तदनुसार गर्भ से मरण-पर्यन्त अनुभव में आने वाला चित्त (जीव द्रव्य) भी जन्म लेने के पश्चात् जिस प्रकार उत्तरोत्तर नवीन-नवीन पर्याय को प्राप्त होता है तथा इस उत्पत्तिक्रम में पूर्व चित्त कारण और उत्तर चित्त कार्य होता है उसी प्रकार जन्म समय का आदिम चित्त भी जब कार्य है तब उसके पूर्व भी उसका जनक कोई चित्त अवश्य होना चाहिये, अन्यथा उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस युक्ति से गर्भ के पूर्व भी जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। तथा इसी प्रकार जब कि पूर्व-पूर्व चित्तक्षण उत्तर-उत्तर चित्तक्षण को उत्पन्न करते हैं तो मरणसमयवर्ती अन्तिम चित्तक्षण भी आगे के चित्तक्षण का उत्पादक होगा ही। इस प्रकार से मरण के पश्चात् भी जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। अतएव गर्भ से पूर्व और मरण के पश्चात् जीव का अस्तित्व नहीं है, यह चार्वाकों का कहना युक्तिसंगत नहीं है।।41-42।।

इसके अतिरिक्त शरीर के दिखने पर भी चूँकि चेतनता दिखती नहीं है तथा वह शरीर चेतनता नहीं है – उससे भिन्न है, इसलिए भी उन दोनों में भेद है। चूँकि शरीर आँख के द्वारा देखा जाता है और वह चैतन्य स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा देखा जाता है, इसलिए भिन्न-भिन्न ज्ञान के विषय होने से भी उन दोनों में स्पष्टतया भेद है।।43-44।। सब प्राणियों में वक्ताओं के – पूर्व जन्म के वृत्तान्त को कहने वाले कुछ प्राणियों के – प्रत्यक्ष में देखे जाने पर मूर्ख जन परलोक का अभाव कैसे कर सकते हैं? अर्थात् वैसी अवस्था में उसका अभाव सिद्ध करना शक्य नहीं है।।45।।

जिस प्रकार मिले हुए दूध और पानी में विधिपूर्वक भेद किया जाता है – हंस उन दोनों को पृथक्-पृथक् कर देता है – उसी प्रकार वस्तुस्वरूप के ज्ञाता विद्वान् अभिन्न

दिखने वाले आत्मा और शरीर में से आत्मा को पृथक् कर देते हैं।।46।। जो लोग विश्व के ज्ञाता-द्रष्टा न होकर भी - अल्पज्ञ होते हुए भी - बन्ध मोक्षादि तत्वों का अभाव करते हैं उनसे ढीठ और दूसरा कौन हो सकता है - वे अतिशय निर्लज्ज हैं।।47।।

यदि प्राणी सदा काल ही कर्मों से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं होता है तो फिर वह इस भयानक संसाररूप समुद्र में कब और कैसे घूम सकता था? अभिप्राय यह है कि प्राणी का जो संसार में परिभ्रमण हो रहा है वह कार्य है जो अकारण नहीं हो सकता है। अतएव इस संसार-परिभ्रमणरूप हेतु से उसकी कर्मबद्धता निश्चित सिद्ध होती है।।48।। यदि आत्मा सर्वथा नित्य, सदा शुद्ध, ज्ञानी और परमात्मा-स्वरूप होकर उस कर्मबन्धन से एकान्तत: रहित होता तो फिर वह दुर्गन्धयुक्त इस अपवित्र शरीर के भीतर कैसे अवस्थित रह सकता था? नहीं रह सकता था - इसी से सिद्ध है कि *वह स्वभावत: शुद्ध-बुद्ध होकर भी पर्यायस्वरूप से चूँकि अशुद्ध व अल्पज्ञ है, अतएव वह कर्म से सम्बद्ध है।।49।।*

यदि सुख-दु:ख आदि का संवेदन शरीर को - प्रकृति को - होता है तो फिर वह निर्जीव (मृत) शरीर के क्यों नहीं होता है व उसे उसके होने से कौन रोक सकता है? अभिप्राय यह है कि सुख-दु:ख आदि के वेदन को जड़ शरीर में स्वीकार करने पर उसका प्रसंग मृत शरीर में भी अनिवार्य स्वरूप से प्राप्त होगा।।50।। जीव जहाँ-तहाँ प्रवृत्ति करता हुआ भी बन्धबुद्धि से रहित होने के कारण कर्म से सम्बद्ध नहीं होता है, यह जो कहा जाता है वह योग्य नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि वह बुद्धि से विहीन है तो फिर वह जहाँ-तहाँ प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है? नहीं प्रवृत्त हो सकता है, क्योंकि बुद्धिविहीन पर्वतों की मैंने - किसी ने भी - कभी प्रवृत्ति (गमनागमनादि) नहीं देखी है।।51-52।। मृत्यु का विचार न करके यदि कोई प्राणी भयानक विष के सेवन में प्रवृत्त होता है तो क्या वह शीघ्र ही प्राणों से रहित नहीं हो जाता है? अवश्य हो जाता है।।53।।

ध्यान व रत्नत्रय

सम्यक्त्व रहित दीक्षा की निष्फलता

यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध है तो फिर ध्यान के अभ्यास से उसे क्या प्रयोजन रहता है? कुछ भी नहीं - वह निरर्थक ही सिद्ध होता है। कारण कि कोई भी बुद्धिमान् शुद्ध

सुवर्ण के संशोधन में प्रवृत्त नहीं होता है।।54।। *केवल ज्ञानमात्र से ही कभी आत्मा की शुद्धि नहीं की जा सकती है।* ठीक है, क्योंकि औषध के ज्ञान मात्र से ही कहीं रोग को नष्ट नहीं किया जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार औषध को जानकर उसका सेवन करने से रोग नष्ट किया जाता है उसी प्रकार आत्मा के स्वरूप को जानकर तपश्चरणादि के द्वारा उसके संसार-परिभ्रमणरूप रोग को नष्ट किया जाता है।।55।।

जो अज्ञानी जन श्वास के निरोध से - प्राणायामादि से - ध्यान को सिद्ध करते हैं वे निश्चय से आकाशफूलों के द्वारा सिर की माला को रचते हैं।।56।। जिस प्रकार काष्ठ में अवस्थित भी अग्नि कभी प्रयोग के बिना - तदनुकूल प्रयत्न के अभाव में - प्राप्त नहीं होती है उसी प्रकार शरीर के भीतर अवस्थित भी आत्मा को अज्ञानी जन प्रयोग के बिना - संयम व ध्यानादि के अभाव में - कभी नहीं प्राप्त कर पाते हैं, यह स्पष्ट है।।57।।

जिस प्रकार अनेक दुःखों को देने वाला प्रबल रोग तदनुरूप औषध का ज्ञान, उस पर विश्वास और उसका सेवन - इन तीन के बिना नष्ट नहीं किया जाता है; उसी प्रकार अनेक दुःखों के देने वाले आत्मा के कर्ममलरूप रोग को भी तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण - इन तीन के बिना उस आत्मा से नष्ट नहीं किया जा सकता है।।58।। *जीव और कर्म इन दोनों का जो अनादिकाल से सम्बन्ध सिद्ध है उसे नष्ट करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय के बिना दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है।।59।।*

दीक्षा के ग्रहण करने मात्र से कहीं पर भी किसी भी प्राणी के पाप का विनाश नहीं होता है। सो ठीक भी है, क्योंकि राज्य में अवस्थित होने मात्र से - केवल राजा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाने से ही - शत्रु नहीं भाग जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई राजपद पर प्रतिष्ठित होकर राजनीति के अनुसार जब सेना आदि को सुसज्जित करता है तब ही वह उसके आश्रय से अपने शत्रुओं को नष्ट करके राज्य को स्वाधीन करता है, न कि केवल राजा के पद पर स्थित होकर ही वह उसे स्वाधीन करता है। ठीक इसी प्रकार जो मुमुक्षु प्राणी दीक्षा लेकर तदनुसार संयम, तप एवं ध्यान आदि में रत होता है तब ही वह कर्म-शत्रुओं को नष्ट करके अपने आत्मा को स्वाधीन

करता है – मुक्तिपद को प्राप्त होता है, न कि केवल संयमादि से हीन दीक्षा के ग्रहण कर लेने मात्र से ही वह मोक्षपद प्राप्त करता है।।60।।

जो मूर्ख जन दीक्षा के द्वारा ही पाप को नष्ट करना चाहते हैं वे मानो आकाश की तलवार के अग्र भाग से शत्रु के सिर को काटते हैं – जिस प्रकार असम्भव आकाश तलवार से कभी शत्रु का सिर नहीं छेदा जा सकता है उसी प्रकार संयम एवं ध्यानादि से रहित नाम मात्र की दीक्षा से कभी पाप का विनाश नहीं हो सकता है।।61।। *प्राणी मिथ्यात्व, अविरति, क्रोधादि कषाय और योग के द्वारा जिस कर्म को उपार्जित करते हैं उसे वे उक्त मिथ्यात्वादि के अभाव के बिना कैसे नष्ट कर सकते हैं? नहीं नष्ट कर सकते हैं।।62।।*

व्रतहीन दीक्षा के होने पर मोक्षपदरूप फल प्राप्त होता है, इस प्रकार जो कथन करते हैं उन्हें आकाशबेलि के पुष्पों की सुगन्धि का वर्णन भी करना चाहिए। तात्पर्य यह कि व्रतहीन दीक्षा से मोक्ष की प्राप्ति इस प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार कि आकाशलता के फूलों से सुगन्धित की प्राप्ति।।63।। आचार्यों के वचन से – ऋषिमुनियों के आशीर्वादात्मक वाक्य के उच्चारण मात्र से – यदि प्राणियों का पाप नष्ट होता है तो फिर बन्धुजनों के कहने मात्र से ही राजाओं के शत्रु भी नष्ट हो सकते हैं।।64।।

जिस दीक्षा के द्वारा यहाँ प्राणियों के रोग भी नहीं नष्ट किये जा सकते हैं, वह दीक्षा भला उनके पूर्वकृत कर्मबन्ध के नष्ट करने में कैसे समर्थ हो सकती है? नहीं हो सकती है।।65।। परन्तु *गुरुओं के वचन से – उनके सदुपदेश से – रत्नत्रय के स्वरूप को जानकर जो उसका परिपालन करता है उसका पाप नष्ट हो जाता है,* यह कहना सत्य है।।66।। कषाय के वशीभूत होकर प्राणी के द्वारा उपार्जित पाप दीक्षा से शीघ्र नष्ट हो जाता है, इसे कौन स्वीकार कर सकता है? कोई भी विचारशील व्यक्ति उसे नहीं मान सकता है।।67।।

यदि कषाय से परिपूर्ण ध्यान के करने पर अविनश्वर मोक्षपद प्राप्त हो सकता है तो फिर बन्ध्या स्त्री के पुत्र के सौभाग्य का कीर्तन करने से धन की भी प्राप्ति हो सकती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार निराश्रय बन्ध्यापुत्र की स्तुति से धन की प्राप्ति असम्भव है उसी प्रकार कषाय-विशिष्ट ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति भी असम्भव है।।68।। *जिन पुरुषों ने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया है तथा कषायों का दमन नहीं किया है उनका कथन व्यभिचारी जन के कथन के समान यथार्थ व हितकर नहीं हो सकता है।।69।।*

बुद्ध व बौद्धमत परीक्षा

ऊर्ध्वद्वार अथवा अधोद्वार से बाहर निकलने पर मैं घृणित व निन्दित होऊँगा, इस विचार से जो बुद्ध माता के शरीर को विदीर्ण करके बाहर निकला तथा जिसने मांस के भक्षण में अनुरक्त होकर उसके भक्षण में निर्दोषता का उपदेश दिया, उस बुद्ध की क्रिया – उसका अनुष्ठान – कैसा हो सकता है? अर्थात् वह कभी भी अनिन्द्य व प्रशस्त नहीं हो सकता है।।70-71।। जिसने दुर्बुद्धि के वश होकर कीड़ों के समूह से व्याप्त शरीर को जानते हुए भी व्याघ्री के मुख में डाला, उसका संयम (सदाचरण) भला किस प्रकार का हो सकता है? अर्थात् उसका आचरण कभी प्रशस्त नहीं कहा जा सकता है।।72।।

जो बुद्ध प्रत्यक्ष में ही विपरीत प्रतीत होने वाली सर्वशून्यता, आत्मा के अभाव और सर्व पदार्थों की क्षणनश्वरता का निरूपण करता है उसके ज्ञान – समीचीन बोध – कहाँ से हो सकता है? नहीं हो सकता है?।।73।। कारण यह कि उक्त प्रकार से सर्वशून्यता की कल्पना करने पर – जगत् में कुछ भी वास्तविक नहीं है, यह जो भी कुछ दृष्टिगोचर होता है वह अविद्या के कारण सत् प्रतीत होता है, जो वस्तुत: स्वप्न में देखी गयी वस्तुओं के समान भ्रान्ति से परिपूर्ण है; ऐसा स्वीकार करने पर – जहाँ स्वयं उसके उपदेष्टा बुद्ध का ही अस्तित्व नहीं रह सकता है वहाँ बन्ध और मोक्ष आदि तत्त्वों की व्यवस्था भला कहाँ से हो सकती है? नहीं हो सकती है।।74।।

इसी प्रकार स्वर्गसुख और मोक्ष सुख आदि के भोक्ता जीव के अभाव में – उसका सद्भाव न मानने पर – यह सब किया जाने वाला व्यवहार व्यर्थ ही सिद्ध होगा।।75।। जिस क्षणिकत्व के मानने में घातक व मारे जाने वाले प्राणी तथा दाता और देने योग्य वस्तु, इत्यादि सब ही पदार्थ विरोध को प्राप्त होते हैं उस क्षणिक पक्ष को विचारशील विद्वान् कभी स्वीकार नहीं करते हैं। अभिप्राय यह है कि वस्तु को सर्वथा क्षणिक मानने पर हिंस्य और हिंसक तथा की जाने वाली हिंसा के फलभोक्ता आदि की चूँकि कुछ भी व्यवस्था नहीं बनती है, अतएव वह ग्राह्य नहीं हो सकता है।।76।। इस प्रकार जिस बुद्ध का सब ही पक्ष प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है उस दुरात्मा बुद्ध के सर्वज्ञपना नहीं रह सकता है।।77।।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि देवों की परीक्षा

ब्रह्मा वाराणसी में रहने वाले प्रजापति का, कृष्ण वसुदेव का और शम्भु सात्यकि योगी का पुत्र है। ये तीनों जब साधारण मनुष्य के ही समान रहे हैं तब उन्हें अज्ञानी जन स्वभावसिद्ध लोक के निर्माण, रक्षण और विनाश के कारण कैसे बतलाते हैं? अभिप्राय यह है कि अनादि-निधन इस लोक का न तो ब्रह्मा निर्माता हो सकता है, न विष्णु रक्षक हो सकता है, और न शम्भु संहारक ही हो सकता है।।78-79।। **यदि ये तीनों सर्वज्ञ होकर वस्तुतः एक ही मूर्तिस्वरूप हैं तो फिर ब्रह्मा और विष्णु लिंग के - इस एक मूर्तिस्वरूप शिव के लिंग के - अन्त को क्यों नहीं देख सके?।।80।।**

जो परमात्मा सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध और परमेष्ठी है, उसके अवयव अल्पज्ञ, रागी और अशुद्ध संसारी प्राणी - उक्त प्रजापति आदि के पुत्रस्वरूप वे ब्रह्मा आदि - कैसे हो सकते हैं; यह विचारणीय है।।81।। जो पार्वती का पति शंकर लोक के विनाश, रक्षण और निर्माण का करने वाला है, उसके लिए लिंगच्छेद को करने वाला शाप तापस कैसे दे सकते हैं? यह वृत्त युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता है।।82।। इनके अतिरिक्त जो ऐसे सामर्थ्यशाली तापस शंकर के लिए भी भयानक शाप दे सकते हैं, वे काम के द्वारा निरन्तर फेंके गये बाणों से कैसे बिद्ध किये गये हैं, यह भी शोचनीय है।।83।।

जो उक्त ब्रह्मा आदि विश्व के निर्माता थे तथा जिन्हें देवता भी नमस्कार किया करते थे, वे तीनों महापुरुष साधारण पुरुषों के समान काम के द्वारा कैसे जीते गये हैं, उन्हें काम के वशीभूत नहीं होना चाहिए था।।84।। जिस कामदेव ने सब देवों को पराजित करके तिरस्कृत किया था, उस कामदेव को शंकर ने अपने तीसरे नेत्र से उत्पन्न अग्नि के द्वारा भला कैसे भस्म कर दिया?।।85।। इस प्रकार से **जो ब्रह्मा आदि राग, द्वेष एवं मोह आदि महादोषों के वशीभूत हुए हैं वे देव होकर - मोक्षमार्ग के प्रणेता होते हुए - धर्माभिलाषी जनों के लिए हितकारक धर्म का उपदेश कैसे कर सकते हैं?** नहीं कर सकते हैं - ऐसे रागी द्वेषी देवों से हितकर धर्म के उपदेश की सम्भावना नहीं की जा सकती है।।86।।

हे मित्र! इस प्रकार **दूसरे किसी भी मत में ऐसे यथार्थ देव, गुरु और धर्म**

नहीं देखे जाते हैं कि जिनकी आराधना करके प्राणी नित्य पद को - अविनश्वर मोक्षसुख को - प्राप्त कर सके ।।87 ।।

सच्चे तथा झूठे देव-गुरु-धर्म व शास्त्र की परीक्षा

रागयुक्त देव, परिग्रहसहित गुरु और हिंसा से परिपूर्ण धर्म; ये प्राणियों के लिए उस अभीष्ट लक्ष्मी को करते हैं जो कि दूसरों को प्राप्त नहीं हो सकती है; इस प्रकार से जो अज्ञानी जन सुख की प्राप्ति के लिए विचार करते हैं वे उसका इस प्रकार निराकरण क्यों नहीं करते हैं (यदि रागी देव, परिग्रह में आसक्त गुरु और हिंसाहेतुक धर्म अभीष्ट सिद्धि को करते हैं तो समझना चाहिए कि) - बन्ध्या का पुत्र राजा, अतिशय महान् शिलापुत्र और मृगतृष्णा जल में स्नान किया हुआ; इन तीनों की सेवा करने से वे लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। अभिप्राय यह है कि बन्ध्या का पुत्र, शिला (पत्थर) का पुत्र और मृगतृष्णा (बालु) में स्नान ये जिस प्रकार असम्भव होने से कभी अभीष्ट लक्ष्मी को नहीं दे सकते हैं उसी प्रकार उक्त **रागी देव आदि भी कभी प्राणियों को अभीष्ट लक्ष्मी नहीं दे सकते हैं ।।88-90 ।।**

जिस प्रकार सूर्य के शरीर में - उसके पास में - कभी अन्धकार का समूह नहीं रहता है, उसी प्रकार जिसके शरीर में समस्त नरेश्वरों - राजा महाराजा आदि - और अमरेश्वरों (इन्द्रादि) को पराजित करनेवाले द्वेष, राग एवं मोहरूप शत्रु निवास नहीं करते हैं तथा जो समस्त आवरण से रहित केवलज्ञान के द्वारा चराचर लोक के स्वरूप को जानता-देखता है, वह कर्म-शत्रुओं का विजेता जिन (अरिहन्त) ही यथार्थ आप्त (देव) होकर सिद्धि का शासक - मोक्षमार्ग का प्रणेता - हो सकता है। इसीलिए वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक होने से उत्तम जन उसी की आराधना किया करते हैं व वही तीनों लोकों के द्वारा आप्त माना भी गया है।।91-92 ।।

जो महात्मा समस्त मनुष्य, विद्याधर और देवों को भी बेधने वाले काम के बाणों से आहत नहीं किये गये हैं - उस काम के वशीभूत नहीं हुए हैं, तथा जो संसाररूप वृक्ष के काटने के अभिप्राय से - मुक्तिप्राप्ति की अभिलाषा से - इन्द्रिय विषयों से सर्वथा विमुख हो चुके हैं; वे महर्षि ही यथार्थ गुरु हो सकते हैं।।93 ।। जिस धर्मरूप वृक्ष की जड़ उसे स्थिर रखने वाली प्राणिरक्षा (संयम) है तथा सत्य, शौच, समता व शील ही जिसके

पत्ते हैं; वही धर्मरूप वृक्ष स्पष्टतया अभीष्ट सुखरूप मनोहर फूल को दे सकता है।।94।।

जिसके द्वारा युक्तिपूर्वक कारण सहित बन्ध और मोक्ष की विधियाँ समस्त बाधाओं से रहित होकर मुक्तिमार्ग के दिखलाने में प्रयोजक कही गयी हैं, उसे विद्वान् शास्त्र समझते हैं। अभिप्राय यह है कि जिसके अभ्यास से मोक्ष के साधनभूत व्रत-संयमादि का परिज्ञान होकर प्राणी की मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है, वही यथार्थ शास्त्र कहा जा सकता है।।95।।

जो राग के वशीभूत होकर मद्य का पान करते हैं, मांस के भक्षण में रत हैं और स्त्री के शरीर की संगति में आसक्त हैं, वे यदि धर्मात्मा हो सकते हैं तो फिर मद्य का विक्रय करने वाले, कसाई और व्यभिचारी जन भी निश्चिन्त होकर स्पष्टतया स्वर्गपुरी को जा सकते हैं।।96।। **जो साधु क्रोध, लोभ, भय औरे मोह से पीड़ित होकर धर्म, संयम व इन्द्रियनिग्रह आदि से विमुख होते हुए पुत्र, स्त्री, धन एवं गृह आदि में अनुराग रखते हैं वे अपने भक्त जनों को और स्वयं अपने-आपको भी संसाररूप समुद्र में गिराते हैं।।97।।**

अनेक दोषों से दूषित देवताओं, परिग्रह के विकल्प से संयुक्त तपस्वियों और प्राणिहिंसा में तत्पर ऐसे धर्म की आराधना से प्राणी शीघ्र ही संसार में परिभ्रमण किया करते हैं।।98।। जो प्राणी संसारपरिभ्रमण की उत्पत्ति के बहुत-से मार्गों से परिपूर्ण - जन्मपरम्परा के बढ़ाने वाले साधनों में व्यापृत - तथा द्वेष, राग, मद और मात्सर्य भाव से व्याकुल रहता है, उसे चूँकि मोक्षमार्ग दुर्लभ होता है; अतएव हे मित्र! **तुम सदा परीक्षक होओ - निरन्तर यथार्थ और अयथार्थ देव, गुरु एवं धर्म आदि का परीक्षण करके जो यथार्थ प्रतीत हों उनका आराधन करो।।99।।**

जो जन्म, मरण व जरा से रहित होकर देवों के द्वारा वन्दित हो वह देव; जो परिग्रह से रहित होकर काम और इन्द्रियों के अभिमान को चूर्ण करने वाला हो वह गुरु; तथा जो कपट की विषमता से रहित होकर समस्त प्राणियों की रक्षा करने वाला हो वह धर्म कहा जाता है। ग्रन्थकार अमितगति आचार्य कहते हैं कि ये तीनों मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए मेरे हृदय में निरन्तर वास करें।।100।।

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में सत्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।17।।

अठारहवाँ परिच्छेद

इस प्रकार पवनवेग ने दूसरे मतों की दुष्टता को सुनकर – उन्हें अनेक दोषों से परिपूर्ण जानकर – अपने सन्देहरूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए मनोवेग से यह पूछा कि दूसरों के वे बहुत प्रकार के मत परस्पर विरुद्ध हैं, यह तुम कैसे जानते हो। हे समीचीन बुद्धि के धारक मित्र! उन दर्शनों की उत्पत्ति को बतलाकर मेरे सन्देह को दूर करो।।1–2।। पवनवेग की वाणी को – उसके प्रश्न को – सुनकर मनोवेग इस प्रकार बोला – हे मित्र! मैं अन्य सम्प्रदायों की उत्पत्ति को कहता हूँ, सुनो।।3।।

जिस प्रकार रात्रि के पश्चात् दिन और फिर दिन के पश्चात् रात्रि, यह रात्रि–दिन का क्रम निरन्तर चालू रहता है, उनकी गति को कोई रोक नहीं सकता है, उसी प्रकार इस भरत क्षेत्र के भीतर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल सर्वदा क्रम से वर्तमान रहते हैं, उनके संचारक्रम को कोई रोक नहीं सकता है। इनमें उत्सर्पिणी काल में प्राणियों की आयु एवं बल व बुद्धि आदि उत्तरोत्तर क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं और अवसर्पिणी काल में वे उत्तरोत्तर क्रम से हानि को प्राप्त होते रहते हैं।।4।।

जिस प्रकार एक वर्ष में शिशिर व वसन्त आदि छः ऋतुएँ प्रवर्तमान होती हैं, उसी प्रकार उक्त दोनों कालों में–से प्रत्येक में सुषमासुषमा आदि छः कालभेद – अवसर्पिणी में 1. सुषमासुषमा, 2. सुषमा, 3. सुषमदुःषमा, 4. दुःषमसुषमा, 5. दुःषमा और 6. दुःषम–दुःषमा तथा उत्सर्पिणी में दुःषमदुःषमा व दुःषमा आदि विपरीत क्रम से छहों काल – प्रवर्तते हैं। जिस प्रकार ऋतुओं में परस्पर भेद रहता है उसी प्रकार इन कालों में भी परस्पर महान् भेद रहता है।।5।।

उक्त दोनों कालों में प्रत्येक का प्रमाण दस कोड़ाकोड़ि सागरोपम है – सु.सु. 4 कोड़ाकोड़ि + सु. 3 को. को. + सु.दु. 2 को.को. + दु.सु. 42 हजार वर्ष कम 1 को.को., दु. 21 ह. वर्ष और + दु.दु. 21 ह. वर्ष = 10 को.को. सा.। उन दोनों कालों में से यहाँ वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है, ऐसा विद्वानों को जानना चाहिये।।6।। प्रथम सुषमासुषमा काल चार कोड़ाकोड़ि सागरोपम प्रमाण, द्वितीय सुषमा काल तीन कोड़ाकोड़ि सागरोपम प्रमाण और तीसरा सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण कहा गया है।

इन तीन कालों में प्राणियों की आयु क्रम से तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्य प्रमाण निर्दिष्ट की गयी है।।7-8।।

उक्त तीन कालों में प्राणियों के शरीर की ऊँचाई क्रम से तीन, दो और एक कोश मानी गयी है। इन कालों में भोगभूमिज प्राणियों का आहार क्रम से तीन, दो और एक दिन के अन्तर से होता है।।9।। उनका वह आहार भी प्रमाण में क्रम से बेर, आँवला और बहेड़े के फल के बराबर होता है। इस प्रकार प्रमाण में कम होने पर भी वह सब ही इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करने वाला होता है। ऐसा पौष्टिक आहार अन्य जनों को - कर्मभूमिज जीवों को - दुर्लभ होता है।।10।। इन कालों में प्राणियों के मध्य में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध - सेवक व स्वामी का व्यवहार - नहीं रहता, दूसरों के घर पर जाना-आना भी नहीं होता, हीनता व अधिकता (नीच-ऊँच) का भी व्यवहार नहीं होता तथा उस समय व्रत व संयम का भी परिपालन नहीं होता।।11।।

उन कालों में प्राणियों का शरीर जन्म लेने के पश्चात् सात सप्ताह - उनचास दिनों में - नवीन यौवन से विभूषित होकर समस्त भोगों को भोगने में समर्थ हो जाता है।।12।। उस समय चाँदनी और चन्द्रमा के समान कान्ति से सब ही शरीर को प्रतिभासित करने वाला स्त्री व पुरुष का युगल साथ ही उत्पन्न होता है।।13।। भोगभूमियों में स्नेहपूर्वक मधुर भाषण करने वाली प्रिय स्त्री अपने स्वामी को 'आर्य' इस शब्द के द्वारा बुलाती है तथा वह स्वामी भी उस प्रियतमा को अनेक प्रकार की खुशामद में तत्पर होता हुआ 'आर्या' इस शब्द से सम्बोधित करता है।।14।।

उक्त कालों में शरीरधारी दस धर्मों के समान जो दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं वे सब प्रकार से विकार से रहित होकर उन आर्य जनों के लिए दस प्रकार के भोग को प्रदान किया करते हैं।।15।। वे दस प्रकार के कल्पवृक्ष ये हैं - मद्यांग, तूर्यांग, गृहांग, ज्योतिरंग, भूषणांग, भोजनांग, मालांग, दीपांग, वस्त्रांग और पात्रांग।।16।। जब तृतीय काल में पल्य का आठवाँ भाग शेष रहता है तब उस समय क्रम से चौदह कुलकर पुरुष उत्पन्न हुआ करते हैं।।17।।

उनमें प्रथम प्रतिश्रुति, द्वितीय सन्मति, तत्पश्चात् क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमन्धर, विमलवाह, आठवाँ चक्षुष्मान्, नौवाँ यशस्वी, तत्पश्चात् अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, तेरहवाँ

प्रसेन और अन्तिम नाभिराज; इस प्रकार विद्वानों के द्वारा ये चौदह कुलकर पुरुष उत्पन्न हुए माने गये हैं।।18-20।। ये सब जातिस्मरण से संयुक्त व दिव्य ज्ञानरूप नेत्र से सुशोभित (उनमें कितने ही अवधिज्ञान के धारक) थे। इसीलिए उन सबने उस समय के प्रजाजनों को सब ही लोक की स्थिति को - भिन्न-भिन्न समय में होने वाले परिवर्तन को - दिखलाया था।।21।।

जिस प्रकार प्रभातकाल पूर्व दिशा में तेजस्वी सूर्य को उत्पन्न करता है उसी प्रकार अन्तिम कुलकर नाभिराज ने मरुदेवी महादेवी से प्रथम तीर्थंकर आदि जिनेन्द्र को उत्पन्न किया था।।22।। भगवान् आदि जिनेन्द्र जब स्वर्ग से अवतार लेने को हुए - माता मरुदेवी के गर्भ में आने वाले थे - तब इन्द्र ने भक्ति के वश होकर अयोध्या नगरी को दिव्य कोट और भवनों से विभूषित करते हुए रत्नमयी कर दिया था।।23।। जन्म लेने के पश्चात् जब भगवान् ऋषभनाथ विवाह के योग्य हुए तब इन्द्र ने उनके लिए नीति और कीर्ति के समान नन्दा और सुनन्दा नाम की क्रम से कच्छ और महाकच्छ राजाओं की पुत्रियों की योजना की - उनका उक्त दोनों कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न करा दिया।।24।।

इन दोनों पत्नियों से उनके ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की दो कन्याओं के साथ सौ पुत्र उत्पन्न हुए। ये सब उनके मन को प्रमुदित करते थे।।25।। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर जब प्रजाजन व्याकुलता को प्राप्त हुए तब उनके द्वारा पूछे जाने पर भगवान् आदि देव ने उन्हें जीवन की स्थिरता की कारणभूत असि-मषी आदिरूप छः क्रियाओं का उपदेश दिया था।।26।। तत्पश्चात् सभाभवन में नृत्य करती हुई नीलंजसा नामक अप्सरा को अकस्मात् मरण को प्राप्त होती हुई देखकर भगवान् ने अपने मन में इस प्रकार विचार किया।।27।।

जिस प्रकार से यह देवांगना देखते ही देखते बिजली के समान नष्ट हो गयी उसी प्रकार से प्राणियों को मोहित करनेवाली यह समस्त लक्ष्मी भी नष्ट होने वाली है।।28।। कदाचित् बालू में पानी और आकाशपुरी में महापुरुष भले ही प्राप्त हो जावें, परन्तु *इस असार संसार में कभी सुख नहीं प्राप्त हो सकता है।।29।।* प्राणी जिस अभीष्ट वस्तु के बिना यहाँ एक क्षण भी नहीं रह सकता है, वह अग्नि के समान सन्तापजनक उसके वियोग को भी सहता है।।30।। हानि को प्राप्त हुआ भी चन्द्रमा पुनः वृद्धि को प्राप्त होता है,

तथा बीता हुआ भी दिन फिर से आकर प्राप्त होता है; परन्तु *गया हुआ यौवन (जवानी) नदी के पानी के समान फिर से नहीं प्राप्त हो सकता है।।31।।*

जिस प्रकार प्रवास के कुछ थोड़े-से समय के लिए पथिकों का संयोग हुआ करता है उसी प्रकार यहाँ (संसार में) बन्धुजनों का भी कुछ थोड़े-से ही समय के लिए संयोग रहता है, तत्पश्चात् उनका वियोग नियम से ही हुआ करता है। तथा जिस प्रकार बिजली का प्रकाश क्षणभर के लिए ही होता है, उसी प्रकार *मित्रों का स्नेह भी क्षणिक ही है।।32।।* जिस प्रकार कभी-कभी स्वप्न में अनेक प्रकार के अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति देखी जाती है, परन्तु जागने पर कुछ भी नहीं रहता है; उसी प्रकार *संसार में पुत्र, मित्र, गृह और धन-धान्यादि सम्पदाओं की भी प्राप्ति कुछ ही समय के लिए हुआ करती है; उनमें से कोई भी सदा स्थिर रहने वाला नहीं है।।33।।*

जिस जीवन के लिए प्राणी महान् पाप को करके धन का उपार्जन किया करता है, वह जीवन शरद् ऋतु के मेघ के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है – आयु के समाप्त होने पर मरण अनिवार्य होता है।।34।। *दुःख के स्थानभूत इस संसार में वह कोई प्राणी नहीं देखा जाता है जो कि समस्त लोक में विचरण करने वाली मृत्यु का ग्रास न बनता हो* – इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती आदि सब ही आयु के क्षीण होने पर मरण को प्राप्त हुआ ही करते हैं।।35।। *इस संसार में एक रत्नत्रय को छोड़कर और दूसरा कोई प्राणियों के कल्याण का कारण नहीं है,* यह निश्चित समझना चाहिए।।36।।

यही विचार करके जिन (भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर) गृह से निकलने के लिए समर्थ हुए – समस्त परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ दीक्षा के धारण करने में प्रवृत्त हुए। ठीक भी है, जो संसार की नि:सारता को जान लेता है, वह घर में कैसे अवस्थित रह सकता है? नहीं रह सकता है।।37।। वे भगवान् मोतियों के हारों से सुशोभित जिस पालकी के ऊपर विराजमान हुए, वह ऐसी प्रतीत होती थी जैसे मानो उन्हें लेने के लिए स्वयं सिद्धभूमि (सिद्धालय) ही आकर उपस्थित हुई हो।।38।। उस पालकी को सर्वप्रथम राजाओं ने ऊपर उठाकर अपने कन्धों पर रखा, तत्पश्चात् फिर उसे देवों ने ग्रहण किया – वे उसे उठाकर ले गये। ठीक है, धर्म के कामों में सब ही बुद्धिमान् प्रवृत्त हुआ करते हैं।।39।।

इस प्रकार से भगवान् जिनेन्द्र शकट नाम के उद्यान में पहुँचे और वहाँ उन्होंने

वटवृक्ष के नीचे पद्मासन से अवस्थित होकर अपने शरीर के ऊपर से भूषणों को – सब ही वस्त्राभरणों को – पृथक् कर दिया।।40।। तत्पश्चात् उन्होंने दृढ़ मुष्टि से संयुक्त होकर सिद्धों को नमस्कार करते हुए पाँच मुष्टियों के द्वारा शीघ्र ही अपने केशों को उखाड़ डाला – उनका लोंच कर दिया।।41।। तत्पश्चात् मंगलमय शरीर से संयुक्त, अतिशय बलवान् तथा मनुष्य एवं देवों से आराधित वे भगवान् सुमेरु के समान स्थिर होकर ऊर्ध्वीभूत स्थित हुए – कायोत्सर्ग से ध्यान में लीन हो गये।।42।।

उस समय सौधर्म इन्द्र ने आदि जिनेन्द्र के उन बालों को एक पेटी के भीतर अवस्थित करके अपने मस्तक पर रखा और जाकर क्षीर समुद्र में डाल दिया।।43।। भगवान् आदि जिनेन्द्र ने उस वन में चूँकि महान् त्याग व उत्कृष्ट ध्यान किया था, इसीलिए तब से वह वन 'प्रयाग' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।।44।। भगवान् आदि जिनेन्द्र के दीक्षित होने के साथ चार हजार अन्य राजा भी दीक्षित हुए थे। सो ठीक भी है, *सत्पुरुष जिस कार्य का अनुष्ठान करते हैं उसका आश्रय सब ही अन्य जन किया करते हैं।।45।।*

परन्तु वे सब राजा छः महीने के ही भीतर उस संयम से भ्रष्ट हो गये थे। ठीक है, *अज्ञानी जन मानसिक दुर्बलता के कारण परीषहों को नहीं सह सकते हैं।।46।।* तब वे निर्ग्रन्थ वेष में स्थित रहकर फलों के खाने और पानी के पीने में प्रवृत्त हो गये। ठीक है, जिनका उदर भूख से कृश हो रहा है, वे बुभुक्षित प्राणी ऐसा कोई जघन्य कार्य नहीं है जिसे न करते हों – भूखा प्राणी हेयाहेय का विचार न करके कुछ भी खाने में प्रवृत्त हो जाता है।।47।।

उनकी इस संयमविरुद्ध प्रवृत्ति को देखकर किसी देवता ने उनसे कहा कि हे राजाओ! इस दिगम्बर वेष के साथ ऐसा निकृष्ट कार्य करना योग्य नहीं है। जो दिगम्बर होकर – जिनलिंग के धारण करते हुए – स्वयं आहार को ग्रहण करके उसका उपभोग करते हैं, उन नीच जनों का संसार से उद्धार इस प्रकार नहीं हो सकता है जिस प्रकार कि समुद्र से हीन पुरुषों का उद्धार नहीं हो सकता है। जिनलिंग के धारक यथार्थ योगी संयम की वृद्धि के लिए दूसरों के घर पर जाकर श्रावकों के द्वारा हाथोंरूप पात्र में दिये प्रासुक (निर्दोष) आहार को ग्रहण किया करते हैं।।48-50।।

देवता के इन वचनों को सुनकर उक्त वेषधारी राजाओं ने व्याकुल होते हुए उस

दिगम्बर साधु के वेष को छोड़कर कौपीन (लंगोटी) को धारण कर लिया। फिर वे पानी को ऐसे पीने लगे जैसे मानो बलवान् व भयानक कालकूट विष को ही पी रहे हों।।51।। उनमें कुछ लोग भूख और प्यास से पीड़ित होकर लज्जा को छोड़ते हुए अपने-अपने घर को वापस चले गये। ठीक है, *प्राणी तभी तक लज्जा करते हैं जब तक कि मन दूषित नहीं होता है* - वह निराकुल रहता है।।52।।

दूसरे लोगों ने विचार किया कि यदि हम आदिनाथ भगवान् को यहाँ वन के बीच में छोड़कर जाते हैं तो उस समय राजा भरत क्रुद्ध होकर हम लोगों की आजीविका को नष्ट कर देगा। इसलिए यहीं वन में स्थित रहकर स्वामी की सेवा करते रहना कहीं अच्छा है। ऐसा विचार करके वे कन्द-मूलादि का भक्षण करते हुए वहीं वन में स्थित रह गये।।53-54।। उनमें जो कच्छ और महाकच्छ राजा थे उन दोनों ने अपनी विद्वत्ता के अभिमान में चूर होकर फल व कन्दादि के भक्षण से तापस धर्म की स्थिरता बतलायी - उन्होंने उपर्युक्त फलादि के भक्षण को साधुओं के धर्म के अनुकूल सिद्ध किया।।55।।

भगवान् ऋषभनाथ के पौत्र और महाराज भरत के पुत्र अतिशय चतुर मरीचिकुमार ने सांख्यमत की रचना कर उसका व्याख्यान अपने शिष्य कपिल ऋषि के लिए किया।।56।। अन्य राजा लोगों ने भी महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत होकर अपनी-अपनी विद्वत्ता के अभिमान को प्रकट करने के लिए आत्मरुचि के अनुसार कृत्रिम असत्य मतों की रचना की।।57।। इस प्रकार क्रियावादी व अक्रियावादियों आदि के मिथ्यात्व को बढ़ाने वाले तीन सौ त्रेसठ असत्य व बनावटी विविध प्रकार के मतों का प्रचार उसी समय से प्रारम्भ हुआ।।58।।

शुक्र और बृहस्पति नाम के दो राजा आत्मा व परलोक के अभाव के सूचक चार्वाक मत को रचकर इच्छानुसार अपनी इन्द्रियों के पुष्ट करने में प्रवृत्त हुए - इस लोक-संबंधी विषयोपभोग में स्वच्छन्दता से मग्न हुए।।59।। इस प्रकार भगवान् आदिनाथ के साथ दीक्षित हुए वे राजा अनेक प्रकार के कपटपूर्ण वेषों को (अथवा अपमान या दुःख को) प्राप्त हुए। ठीक है, समर्थ महापुरुष के द्वारा की जाने वाली क्रिया (अनुष्ठान) के करने का इच्छुक हुआ कौन-सा कातर प्राणी विडम्बना को नहीं प्राप्त होता है? अवश्य ही वह विडम्बना को प्राप्त हुआ करता है।।60।।

जिस प्रकार भोजन के बिना परीषह से व्याकुल होकर ये मरीचि आदि मिथ्या-

मतों के प्रचार में लग गये हैं उसी प्रकार से दूसरे जन भी उस मिथ्या-मत के प्रचार में लग जावेंगे, ऐसा विचार करके भगवान् आदिनाथ ने ध्यान को समाप्त किया व अन्य अनभिज्ञ जनों के उपकार की दृष्टि से मुनि जनों के शुद्ध आहार ग्रहण की विधि को करना प्रारम्भ किया - आहारदान की विधि को प्रचलित करने के विचार से वे स्वयं ही उस आहार के ग्रहण करने में प्रवृत्त हुए।।61-62।। उस समय सुन्दर स्वप्न देखने से राजा श्रेयांस को पूर्व जन्म का - राजा वज्रजंघ की पत्नी श्रीमती के भव का - स्मरण हो आया। इससे मुनि के लिए दिये जाने वाले आहारदान की विधि को जान लेने के कारण उसने भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर को विधिपूर्वक आहार कराया।।63।।

पूर्व में सम्राट् भरत ने जिन श्रावकों की भक्तिपूर्वक पूजा की थी, वे ब्राह्मण के रूप में प्रतिष्ठित श्रावक चक्रवर्ती द्वारा पूजे जाने के कारण कालान्तर में अतिशय गर्व को प्राप्त हो गये थे।।64।। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ महाराज ने राज्यकार्य करते हुए इक्ष्वाकु, नाथ, भोज और उग्र; इन चार वंशों की स्थापना की थी। वे चारों पृथिवी पर प्रसिद्ध हुए हैं।।65।। उस समय जो सत्पुरुष व्रत-नियमों का परिपालन करते थे वे ब्राह्मण, जो पीड़ित जन की रक्षा करते थे वे क्षत्रिय, जो व्यापार कार्य में चतुर थे - उसे कुशलतापूर्वक करते थे, वे वैश्य, और जो सेवाकार्य किया करते थे वे शूद्र कहे जाते थे।।66।। चक्रवर्ती भरत के अर्ककीर्ति नाम का और बाहुबली के सोम नाम का पुत्र हुआ था। इन दोनों के निमित्त से सोम [चन्द्र] और अर्क (सूर्य) नाम के दो अन्य वंश भी पृथिवी पर प्रसिद्ध हुए।।67।।

भगवान् पार्श्वनाथ का जो मौङ्गलायन नाम का तपस्वी शिष्य था उसने महावीर स्वामी के ऊपर क्रोधित होकर बुद्धदर्शन की - बौद्ध मत की - रचना की।।68।। उसने शुद्धोदन राजा के पुत्र बुद्ध को परमात्मा घोषित किया। ठीक है, क्रोधरूप शत्रु के वशीभूत हुए प्राणी क्या नहीं करते हैं - वे सब कुछ अकार्य कर सकते हैं।।69।। बलभद्र ने चूँकि कृष्ण के निर्जीव शरीर को छः मास तक धारण किया था इसीलिए पृथ्वी पर 'कंकाल' व्रत प्रसिद्ध हो गया।।70।।

हे मित्र! मिथ्यादर्शन के वशीभूत होकर मनुष्यों ने जिन असंख्यात पाखण्ड भेदों की - विविध प्रकार के अयथार्थ मतों की - रचना की है, उनमें-से भला कितने मतों की प्ररूपणा तेरे लिए की जा सकती है? असंख्यात होने से उन सब की प्ररूपणा नहीं

की जा सकती है।।71।। ये जो पाखण्ड मत चतुर्थ काल में बीज के स्वरूप में स्थित थे वे अब इस कलिकाल-स्वरूप पंचम काल में अंकुरित होकर विस्तार को प्राप्त हुए हैं।।72।।

जो रागादि दोषों से रहित होकर केवलज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा तीनों लोकों को देख चुका है, उच्च पद में अवस्थित है, कर्म-शत्रुओं का विजेता है तथा सब ही देव जिसकी वन्दना किया करते है; वही यथार्थ देव हो सकता है।।73।। जिसमें कारण-निर्देशपूर्वक मोक्ष और संसार की प्ररूपणा की जाती है तथा जो सब बाधाओं से - पूर्वापरविरोधादि दोषों से - रहित होता है, वह यथार्थ आगम माना जाता है।।74।। सरलता, मृदुता, शौच, सत्य, त्याग, क्षमा, तप, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य और संयम; इस प्रकार से धर्म दस प्रकार का माना गया है।।75।।

जो बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का परित्याग कर चुका है, क्रोधादि कषायों से रहित है, इन्द्रियों को वश में रखने वाला है, परीषहों को सहन करता है, तथा स्वाभाविक दिगम्बर वेष का धारक है; वह साधु - यथार्थ गुरु - माना गया है।।76।। इन चारों को - यथार्थ देव, शास्त्र, धर्म व गुरु को - मोक्षरूप नगर के द्वारभूत तथा संसाररूप अग्नि को शान्त करने के लिए शीतल जल जैसा समझना चाहिए। वे ही चारों अभीष्ट पद की प्राप्ति के लिए सदा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप रत्नों को प्रदान करने वाले हैं। *उन चारों को छोड़कर और दूसरा कोई भी मुक्ति का कारण नहीं है।।77-78।।*

हे मित्र! इस प्राणी ने संसाररूप समुद्र में गोते खाते हुए अन्य सब लब्धियों को प्राप्त किया है, परन्तु उसे उन चारों में से किसी एक की भी प्राप्ति नहीं हो सकी।।79।। *प्राणी के लिए योग्य देश, जाति, कुल, रूप, इन्द्रियों की परिपूर्णता, नीरोगता, दीर्घ आयु तथा धर्मोपदेश की प्राप्ति एवं उसका सुनना व ग्रहण करना; ये सब क्रमशः उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। फिर इन सबके प्राप्त हो जाने पर जो रत्नत्रयस्वरूप बोधि संसाररूप वृक्ष के काटने में कुल्हाड़ी के समान होकर मोक्षरूप महल में प्रवेश कराती है, वह तो उसे बहुत ही कष्ट के साथ प्राप्त होती है।।80-81।।*

अन्य मत में जो उत्तम कथन दिखता है वह जिनदेव का ही कथन (उपदेश) जानना चाहिए। उदाहरणस्वरूप मोती जो अन्य स्थान में देखे जाते हैं वे सब समुद्र में ही

उत्पन्न होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मोती एकमात्र समुद्र में ही उत्पन्न होकर अन्य स्थानों में पहुँचा करते हैं, उसी प्रकार वस्तुरूप का जो यथार्थ कथन अन्य विविध मतों में भी क्वचित् देखा जाता है, वह जैन मत में प्रादुर्भूत होकर वहाँ पहुँचा हुआ जानना चाहिए।।82।।

जिनेन्द्र के वचन को (जिनागम को) छोड़कर अन्य किसी का भी उपदेश पाप के नष्ट करने में समर्थ नहीं है। ठीक भी है, रात्रि के दुर्भेद सघन अन्धकार को एकमात्र सूर्य ही नष्ट कर सकता है, अन्य कोई भी उसके नष्ट करने में समर्थ नहीं है।।83।। सर्वश्रेष्ठ जो जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट आदिभूत धर्म है, अन्य धर्म उसको इस प्रकार से नष्ट करने वाले हैं जिस प्रकार कि पतंगे – टिड्डियों आदि के दल – खेतों में खड़ी हुई फसल को नष्ट किया करते हैं।।84।। मनोवेग के इस उपदेश के द्वारा उसके मित्र पवनवेग की दुर्भेद मिथ्यात्वरूप गाँठ सर्वथा इस प्रकार शीघ्र नष्ट हो गयी जिस प्रकार की वज्र के द्वारा पर्वत शीघ्र नष्ट हो जाया करता है।।85।।

तत्पश्चात् जिसका मिथ्यात्वरूप पर्वत विघटित हो चुका था ऐसा वह पवनवेग मनोवेग से बोला कि मुझे इस बात का खेद है कि मैंने दुर्बुद्धि (अज्ञानता) के वश होकर अपने जन्म को – अब तक के जीवन काल को – व्यर्थ ही नष्ट कर दिया।।86।। दुःख है कि मुझ जैसे मन्द-बुद्धि ने तुम्हारे वचन का निरादर करते हुए जिन भगवान् के वचनरूप रत्न को – उनके द्वारा उपदिष्ट यथार्थ वस्तुस्वरूप को – छोड़कर दूसरों के वचनरूप ढेले को ग्रहण किया।।87।। मिथ्यात्वरूप विष के पान से सब ही वस्तुस्वरूप को विपरीत देखते हुए मैंने तुम्हारे द्वारा दिये गये जिनवचनरूप अमृत का पान नहीं किया।।88।। तुम्हारे द्वारा निरन्तर रोके जाने पर भी मैंने निर्दोष सम्यग्दर्शनरूप अमृत को छोड़कर दुर्विनाश उस मिथ्यादर्शनरूप विष का सेवन किया जो कि महामोह को उत्पन्न करके जन्म, जरा व मरण को प्रदान करने वाला है।।89।।

हे मित्र! तुमने चूँकि मुझे उत्तम वचनोंरूप किरणों के द्वारा प्रबोधित करके संसाररूप अन्धकार से परिपूर्ण कुएँ में गिरने से बचाया है; अतएव तुम ही मेरे यथार्थ बन्धु – हितैषी मित्र – हो, तुम ही पिता हो तथा तुम ही मेरे कल्याण के करने वाले गुरु हो।।90।। यदि तुमने जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये वाक्य को – उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को – दिखलाकर

न रोका होता तो मुझे बहुत प्रकार के दु:खोंरूपी वृक्षों से परिपूर्ण अपरिमित संसाररूप वन में दीर्घ काल तक परिभ्रमण करना पड़ता।।91।।

मैं तीन मूढ़तास्वरूप मिथ्यात्वरूप अन्धकार से विमूढ़ होकर दुर्विनाश दूसरों के उपदेशरूप रात्रि को प्राप्त हुआ था। परन्तु तुमने उस मूढ़तास्वरूप अन्धकार को नष्ट करने वाले जिनदेवरूप सूर्य के वाक्यरूप उज्ज्वल किरण समूह के द्वारा मुझे प्रबुद्ध कर दिया है – मेरी वह दिशाभूल नष्ट कर दी है।।92।। जो जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट मोक्ष का मार्ग आकुलता से रहित होकर मुक्तिरूप नगरी के भीतर प्रवेश करानेवाला है उसको छोड़कर मैं दीर्घ काल से दुष्ट मिथ्यादृष्टियों के द्वारा प्रदर्शित ऐसे महाभय के उत्पादक व नरक में निवास के कारणभूत कुमार्ग में लग रहा था।।93।।

प्राणी के लिए घर, वल्लभा, पुत्र, पादचारी सैनिक, बन्धुजन तथा नगर, सुवर्ण-रत्नादि की खानें, गाँव एवं राजा की सम्पत्ति-राज्यवैभव; ये सब पग-पग पर प्राप्त हुआ करते हैं। परन्तु विद्वानों के द्वारा पूजित वह निर्मल तत्त्वश्रद्धान – सम्यग्दर्शन – उसे सुलभता से नहीं प्राप्त होता है, वह अतिशय दुर्लभ है।।94।। जिस *मिथ्यात्व से दूषित प्राणी नष्टबुद्धि होकर हितैषी जन के द्वारा दिखलाये गये समस्त कल्याण के मार्ग को विपरीत (अकल्याणकर) ही देखा करता है,* उस मिथ्यात्व को तुमने मुझे दुर्लभ निर्मल सम्यग्दर्शन देकर नष्ट कर दिया है।।95।।

हे समीचीन बुद्धि के धारक! मैंने मिथ्यात्वरूप विष को छोड़कर मन, वचन व काय तीनों प्रकार से जिनमत को ग्रहण कर लिया है। अब इस समय तुम्हारी कृपा से मैं जैसे भी व्रतरूप रत्न से विभूषित हो सकूँ वैसा प्रयत्न करो।।96।। इस प्रकार जिसका मिथ्यात्वरूप विष नष्ट हो चुका है ऐसे उस अपने पवनवेग मित्र के उपर्युक्त कथन को सुनकर मनोवेग को बहुत हर्ष हुआ। ठीक है, प्राणी का जब अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाता है तब भला सहसा किसको सन्तोष नहीं हुआ करता है? अर्थात् अभीष्ट प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर सभी को सन्तोष हुआ करता है।।97।।

तब एकमात्र मित्र के हितकार्य में दत्तचित्त हुए उस मनोवेग ने जिसका अन्त:करण जिनवाणी से सुसंस्कृत हो चुका था उस मित्र पवनवेग को साथ लेकर शीघ्रता से उज्जयिनी नगरी के लिए जाने की तैयारी की। ठीक भी है, मित्रों के कार्य में भला कौन-सा बुद्धिमान्

आलस्य किया करता है? अर्थात् सच्चा मित्र अपने मित्र के कार्य में कभी भी असावधानी नहीं किया करता है।।98।। तत्पश्चात् अन्धकारसमूह को नष्ट करनेवाले आभूषणों से विभूषित वे दोनों मित्र मन की गति के समान वेग से संचार करनेवाले विमान पर आरूढ़ होकर आनन्दपूर्वक उज्जयिनी नगरी के वन में इस प्रकार से आ पहुँचे जिस प्रकार कि दो इन्द्र सहर्ष नन्दन वन में पहुँचते हैं।।99।।

वहाँ पहुँच कर उन दोनों ने प्रथमत: अपरिमित (अनन्त) विषयों में संचार करने वाली बुद्धि से (केवलज्ञान से) सुशोभित उस केवलीरूप सूर्य को स्तुतिपूर्वक नमस्कार किया जो कि अपने वाक्योंरूप किरणों के द्वारा अन्त:करणरूप भवन के भीतर अवस्थित, अतिशय दुर्निवार, भयानक एवं आत्मगुणों को आच्छादित करके उदित हुए ऐसे अज्ञानरूप अन्धकार के नष्ट करने में सर्वथा समर्थ है। तत्पश्चात् वे दोनों जिनमति नामक मुनि के चरणों के सान्निध्य में भक्तिपूर्वक जा बैठे।।100।।

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में अठारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।18।।

जैनधर्म की आम्नाय

..... जैनधर्म में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं। जैन धर्म में तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो; फिर जिसका त्याग करे, उसका दोष पहचाने; त्याग करने में जो गुण हो, उसे जाने; फिर अपने परिणामों को ठीक करे; वर्तमान परिणामों ही के भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्य में निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे; तथा शरीर की शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिक का विचार करे। – इसप्रकार विचार करके फिर प्रतिज्ञा करनी। वह भी ऐसी करनी, जिससे प्रतिज्ञा के प्रति निरादरभाव न हो, परिणाम चढ़ते रहें। ऐसी जैनधर्म की आम्नाय है। – मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार

उन्नीसवाँ परिच्छेद

पश्चात् वे जिनमति मुनि मनोवेग से बोले कि हे भद्र! यह तुम्हारा वही प्यारा मित्र पवनवेग है कि जिसे तुमने संसार-समुद्र से पार उतारने वाले धर्म में स्थिर करने के लिए विनयपूर्वक केवली भगवान् से पूछा था?।।1-2।। इस पर अपने दोनों हाथों को मस्तक पर रखकर - उन्हें नमस्कार करते हुए - मनोवेग बोला कि हे मुने! ऐसा ही है। अब वह व्रतग्रहण की इच्छा से यहाँ आया है।।3।। हे ऋषे! मैंने पाटलीपुत्र में जाकर अनेक प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा इसे मोक्षरूप महल में प्रविष्ट कराने वाले सम्यग्दर्शन को ग्रहण करा दिया है।।4।। मिथ्यात्वरूप विष का वमन कर देनेवाला यह भव्य पवनवेग अब जिस प्रकार से व्रतरूप आभूषणों से विभूषित हो सके, हे यतिवर! वैसा आप प्रयत्न करें।।5।।

इस प्रकार मनोवेग के निवेदन करने पर मुनिराज बोले कि हे भद्र! तुम देव व अपने गुरु की (अथवा आत्मा, गुरु या आत्मारूप गुरु की) साक्षी में सम्यग्दर्शन के साथ श्रावक के व्रत को ग्रहण करो।।6।। कारण यह कि जिस प्रकार किसी को साक्षी करके व्यवहार करने वाला (व्यापारी) मनुष्य कभी दूषण को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार देव-गुरु आदि को साक्षी करके व्रत ग्रहण करनेवाला मनुष्य भी कभी दूषण को प्राप्त नहीं होता है - ग्रहण किये हुए उस व्रत से भ्रष्ट नहीं होता है। इसीलिए *व्रत को साक्षीपूर्वक ही ग्रहण करना चाहिए।।7।।*

प्राणियों में यदि सम्यग्दर्शन के बिना व्रत का रोपण किया जाता है तो वह इस प्रकार से सफल - उत्तम परिणाम वाला नहीं होता है जिस प्रकार कि क्यारियों में पानी के बिना रोपित किया गया (बोया गया) धान्य सफल (फलवाला) नहीं होता है।।8।। इसके विपरीत जो प्राणी उस सम्यग्दर्शन से विभूषित है उसमें आरोपित किया गया वही व्रत इस प्रकार से स्थिर होता है जिस प्रकार कि गड्ढायुक्त परिपूर्ण किये गये देश में - नींव को खोदकर फिर विधिपूर्वक परिपूर्ण किये गये पृथिवी प्रदेश में - निर्मापित किया गया देवालय स्थिर होता है।।9।।

जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट जीव व अजीव आदि तत्त्वों का जो यथावत् श्रद्धान होता है वह सत्पुरुषों के द्वारा व्रतों को पुष्ट करने वाला सम्यग्दर्शन कहा जाता है।।10।।

जो भव्य जीव शंका आदि दोषों से रहित और संवेग आदि गुणों से सहित पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करता है उसी का व्रत धारण करना सफल होता है।।11।। वह श्रावक का व्रत पाँच प्रकार का अणुव्रत, तीन प्रकार का गुणव्रत और चार प्रकार का शिक्षाव्रत; इस प्रकार से बारह प्रकार का माना गया है।।12।।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का जो एकदेशरूप से परिपालन किया करता है उसके उपर्युक्त पाँच प्रकार का अणुव्रत – अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत – जानना चाहिए।।13।। हे बच्चे! व्रत का ग्रहण तो सुखपूर्वक कर लिया जाता है, परन्तु उसका परिपालन बहुत कष्ट के साथ होता है। ठीक है, बाँस का काटना तो सरल है, परन्तु उसका निष्कर्ष – उसे वंशपुंज से बाहर निकालना – बहुत कष्ट के साथ होता है।।14।।

जो अभीष्ट सुख को प्राप्त करना चाहता है उसे व्रत को स्वीकार करके व उसे हृदय में धारण करके उसकी निरन्तर इस प्रकार से रक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार कि सम्पत्ति सुख का अभिलाषी मनुष्य निधि को प्राप्त करके उसकी अपने घर के भीतर निरन्तर सावधानीपूर्वक रक्षा किया करता है।।15।। कारण यह है कि जो दिव्य रत्न (चिन्तामणि) मन से चिन्तित सभी अभीष्ट वस्तुओं के देने में समर्थ होता है उसके प्राप्त हो जाने पर यदि वह असावधानी से समुद्र में गिर जाता है तो जिस प्रकार उसका फिर से मिलना सम्भव नहीं है उसी प्रकार ग्रहण किये गये व्रत के असावधानी से नष्ट हो जाने पर उसका भी संसार में फिर से मिलना संभव नहीं है।।16।।

संसारी प्राणी त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें व्रत को स्वीकार करने वाले श्रावक को त्रस जीवों की रक्षा सर्वथा करनी चाहिए – त्रस जीवों की सर्वथा रक्षा करते हुए उसे निरर्थक स्थावर जीवों का भी विघात नहीं करना चाहिए।।17।। उक्त त्रस प्राणियों में कितने ही दो इन्द्रियों से संयुक्त, कितने ही तीन इन्द्रियों से संयुक्त, कितने ही चार इन्द्रियों से संयुक्त और कितने ही पाँचों इन्द्रियों से संयुक्त होते हैं। इस प्रकार से उनके चारों भेदों को जानकर उनका आत्महित की अभिलाषा रखने वाले श्रावकों को निरन्तर संरक्षण करना चाहिए।।18।।

हिंसा दो प्रकार की मानी गयी है – एक आरम्भजनित और दूसरी अनारम्भरूप

(सांकल्पिकी)। इन दोनों में-से गृह का परित्याग कर देने वाला श्रावक तो उक्त दोनों ही प्रकार की हिंसा को छोड़ देता है, परन्तु जो श्रावक घर में स्थित है वह आरम्भ को न छोड़ सकने के कारण केवल दूसरी (सांकल्पिकी) हिंसा को ही छोड़ता है।।19।। इसके अतिरिक्त *मोक्ष के अभिलाषी दयालु श्रावकों को स्थावर जीवों के विषय में भी निष्प्रयोजन हिंसा नहीं करनी चाहिए।।20।।*

इसी प्रकार देवता - काली व चण्डी आदि, अतिथि, औषध, पिता (श्राद्धादि) और मन्त्रसिद्धि आदि के लिए भी सभी प्राणियों का (किसी भी जीव का) घात नहीं करना चाहिए।।21।। उक्त अहिंसाणुव्रत को बन्ध - गाय-भैंस आदि पशुओं एवं मनुष्यों आदि को भी रस्सी या साँकल आदि से बाँधकर रखना, उनके अंगों आदि को खण्डित करना, चाबुक या लाठी आदि से मारना, नाक आदि का छेदना, तथा असह्य अधिक बोझ का लादना; इन पाँच अतिचारों का निर्मलतापूर्वक परित्याग करने से स्थिर रखा जाता है।।22।।

अहिंसाणुव्रती श्रावक को रसना इन्द्रिय के वश में होकर मांस खाने की लोलुपता से भयभीत प्राणियों के - दीन मृग आदि पशु-पक्षियों के - प्राणों का वियोग नहीं करना चाहिए।।23।। जो प्राणी अपने शरीर को पुष्ट करने के लिए अन्य प्राणी के मांस को खाया करता है, उस पापिष्ठ हिंसक प्राणी का अनन्त दुःखों से परिपूर्ण नरक से उद्धार नहीं हो सकता है - उसे नरक में पड़कर अपरिमित दुःखों को सहना ही पड़ेगा।।24।।

मांस-भक्षण करने वाले के हृदय में जब दया ही नहीं रहती है तब भला उस निर्दयी के धर्म की सम्भावना कहाँ से हो सकती है? नहीं हो सकती है। क्योंकि *धर्म का मूल कारण तो वह दया ही है।* अतएव वह धर्म से रहित - पापी - प्राणी प्रचुर दुःखों से परिपूर्ण सातवें नरक में जाता है।।25।। जिस मनुष्य का मन प्राणियों के प्राणविघात के समय उसे देखने व छूने के लिए भी प्रवृत्त होता है, वह भी जब लल्लंक [लल्लक्व] नामक छठी पृथिवी के नारकबिल को प्राप्त होता है; तब भला जो उस हिंसा को स्वयं कर रहा है वह क्या नरक को नहीं प्राप्त होगा? अवश्य प्राप्त होगा।।26।।

जो प्राणी मांस खाने की इच्छा से जन्मपर्यन्त (जीवनभर) ही हिंसा करता है, वह कभी नरकरूप कुएँ से निकल सकेगा, यह मुझे प्रतीत नहीं होता - वह निरन्तर नरकों के दुःख को सहता रहता है।।27।। प्राणियों की हिंसा व उनके मांस के भक्षण में उद्यत मनुष्य

लोह से निर्मित सलाइयों द्वारा बलपूर्वक छेदा-भेदा जाकर नरक के भीतर नारकियों के द्वारा वज्रमय अग्नि में फेंका जाता है।।28।।

जो प्राणी मांस का भक्षण किया करता है उसकी बुद्धि मांसभक्षी सिंह की बुद्धि के समान चूँकि प्राणियों को - मृगादि पशु-पक्षियों को - देखकर उनके घात में प्रवृत्त होती है, अतएव विवेकी जीवों को उस मांस का परित्याग करना चाहिए।।29।। खाने के योग्य अन्य उत्तम पदार्थों के रहने पर भी जो निकृष्ट प्राणी मांस का भक्षण किया करते हैं, वे महादु:खों से परिपूर्ण नरकों में से नहीं निकलना चाहते हैं, यह निश्चित है।।30।। मांसभोजी जीव चूँकि कुत्तों से भेद को प्राप्त नहीं होता है - वह कुत्तों से भी निकृष्ट समझा जाता है, अतएव आत्महित की अभिलाषा रखनेवाले जीवों को उस मांस को कालकूट विष के समान घातक समझकर उसका परित्याग करना चाहिए।।31।।

जिस प्रकार वन की अग्नि से बेल नष्ट कर दी जाती है, उसी प्रकार जिस मद्य के पान से मर्यादा - योग्य मार्ग में अवस्थिति (सदाचरण) - नष्ट की जाती है; उस मद्य का पान मन, वचन व काय से नहीं करना चाहिए। कारण यह कि वह मद्य प्राणी के धर्म, काम और अर्थ इन तीनों ही पुरुषार्थों को नष्ट करने वाला है।।32।। जिस मद्य के पान से मोहित होकर - नशे में चूर होकर - मनुष्य अपनी माता, बहन और पुत्री का भी सम्भोग करने के लिए आतुर होता है, उस मद्य की अपेक्षा और कोई दूसरी वस्तु निन्दनीय व दु:खदायक नहीं है - वह मद्य सर्वथा ही घृणास्पद है।।33।।

मद्य के पान से मूर्च्छित होकर गली में पड़े हुए उस विवेकहीन प्राणी के मुख के भीतर कुत्ते मूता करते हैं तथा चोर उसके वस्त्रादि का अपहरण किया करते हैं।।34।। जिस प्रकार अग्नि के द्वारा वन के सब वृक्ष नष्ट कर दिये जाते हैं; उसी प्रकार मद्य के द्वारा आत्मा के विवेक, संयम, क्षमा, सत्य, शौच, दया और इन्द्रियनिग्रह आदि सब ही उत्तम गुण नष्ट कर दिये जाते हैं।।35।। मद्य को छोड़कर और दूसरी कोई वस्तु प्राणी के लिए न कष्टदायक है, न अज्ञानरूप अन्धकार को बढ़ाने वाली है, न घृणास्पद है और न प्राणघातक विष है। तात्पर्य यह कि लोक में प्राणी के लिए मद्य ही एक अधिक दु:खदायक, अविवेक का बढ़ाने वाला, निन्दनीय और विषय के समान भयंकर है।।36।।

मद्यपायी मनुष्य लज्जारहित होकर आगे जिस-जिसको देखता है उस-उसको

नमस्कार करता है, रोता है, इधर-उधर घूमता-फिरता है, जिस-किसी की भी स्तुति करता है, शब्द करता है, गाता है और नाचता है।।37।। जिस प्रकार अपथ्य - विरुद्ध पदार्थों का सेवन - रोगों का प्रमुख कारण है; उसी प्रकार मद्य चूँकि समस्त ही दोषों का प्रमुख कारण है; अतएव उसका सर्वदा के लिए परित्याग करना चाहिए।।38।।

मधु (शहद) चूँकि अनेक जीवों के - असंख्य मधुमक्खियों के - घात से उत्पन्न होकर भील जनों की लार से संयुक्त होता है - उनके द्वारा जूठा किया जाता है - इसीलिए दयालु जन कभी उस पापप्रद मधु का मन, वचन व काय से स्वाद नहीं लेते हैं - वे उसके सेवन का सर्वथा परित्याग किया करते हैं।।39।। **अनेक प्रकार के प्राणियों से व्याप्त सात गाँवों के जलाने पर जो पाप उत्पन्न होता है, उतना पाप उस मधु के एक ही कण का भक्षण करने पर उत्पन्न होता है।।40।।** मधुमक्खियाँ एक-एक पुष्प से रस को लेकर जिसका संचय किया करती हैं उनके उस उच्छिष्ट मधु का धर्मात्मा जन कभी भक्षण नहीं किया करते हैं।।41।। मांस, मद्य और मधु में जो रसकायिक - तत्तज्जातीय [उस-उस जाति के] - क्षुद्र जीव उत्पन्न हुआ करते हैं; उन तीनों का सेवन करने वाले निर्दय प्राणी उन सब ही जीवों को खा डालते हैं।।42।।

जो नीच जन ऊमर आदि (बड़, पीपल, काकोदुम्बर और गूलर) पाँच प्रकार के वृक्षों से उत्पन्न फलों को जन्तुसमूह से व्याप्त देखते हुए भी उनका भक्षण किया करते हैं, उनके हृदय में भला दया कहाँ से हो सकती है? नहीं हो सकती है।।43।। जिन भगवान की आज्ञा का परिपालन करते हुए जिन सात्त्विक जनों ने - धर्मोत्साही मनुष्यों ने - जीववध का परित्याग कर दिया है, वे उक्त पाँचों ही प्रकार के उदुम्बर फलों का मन, वचन व काय से भक्षण नहीं किया करते हैं।।44।। जो कन्द (सूरन, शकरकन्द व गाजर आदि), जड़, फल, फूल, मक्खन, अन्न एवं अन्य भी वस्तुएँ प्राणियों की उत्पत्ति की कारणभूत हों; दयालु जनों को उन सबका ही परित्याग कर देना चाहिए।।45।।

काम, क्रोध, मद, द्वेष, लोभ और मोह आदि से उत्पन्न होने वाला जो वचन दूसरों को पीड़ा उत्पन्न करनेवाला हो, ऐसे वचन का हितैषी जनों को परित्याग करना चाहिए।।46।। जिस वचन के द्वारा धर्म का विघात होता हो, लोकविरोध होता हो तथा विश्वासघात उत्पन्न होता हो; ऐसे वचन का उच्चारण कैसे किया जाता है, यह विचारणीय

है।।47।। जिस असत्य वचन के भाषण से लघुता प्रकट होती है तथा जिसकी म्लेच्छ जन भी निन्दा किया करते हैं, ऐसे उस निकृष्ट असत्य वचन का भाषण श्रावकों को कभी भी नहीं करना चाहिए।।48।।

जो निर्मल बुद्धि के धारक महापुरुष पाप कार्य से डरते हैं वे खेत, गाँव, खलिहान, गोष्ठ (गायों के रहने का स्थान), नगर, वन और मार्ग में भूले हुए, गिरे हुए, नष्ट हुए, रखे हुए, रखवाये हुए अथवा अवस्थान को प्राप्त हुए दूसरे के द्रव्य को – धनादि को – निर्माल्य के समान अग्राह्य जानकर उसे बिना दिये कभी स्वीकार नहीं करते हैं।।49-50।। सब ही व्यवहार को सिद्ध करने वाले धन – सुवर्ण, चाँदी, धान्य एवं गवादि – मनुष्यों के बाह्य में संचार करने वाले प्राणों के समान हैं। इसका कारण यह है कि उनका विनाश होने पर मनुष्य अकस्मात् मरण को प्राप्त हो जाते हैं।।51।।

जो दूसरे के धन का अपहरण करता है वह उसके धर्म, बन्धु, पिता, पुत्र, कान्ति, कीर्ति, बुद्धि और प्रिय पत्नी का अपहरण करता है; ऐसा समझना चाहिए। कारण यह कि वे सब उस धन के रहने पर ही सब कुछ – सब प्रकार के सुख को – दिया करते हैं, बिना धन के वे भी दुःख के कारण हो जाते हैं।।52।। मनुष्य को किसी एक का मरण हो जाने पर एक क्षण के लिए – कुछ थोड़े ही काल के लिए – दुःख होता है, परन्तु अन्य के द्वारा धन का अपहरण किये जाने पर वह जीवनपर्यन्त सब कुटुम्ब के साथ दुःखी रहता है।।53।।

मछली, पक्षिघातक, व्याघ्र, शिकारी और ठग इत्यादि ये सब प्राणिघातक होने से यद्यपि पापी माने जाते हैं; परन्तु इन सब की अपेक्षा भी चोर अधिक पापी माना गया है। कारण कि वह धन का अपहारक होने से प्राणी के लिए निरन्तर ही दुःखप्रद होता है।।54।। जो मनुष्य दूसरे के धन का अपहरण किया करता है उसे इस लोक में तो राजा आदि के द्वारा सर्व सम्पत्ति के अपहरणादिजनित दुःख को सहना पड़ता है तथा परलोक में नरकों के दुःख को भोगना पड़ता है।।55।।

जिस सत्पुरुष ने स्वदारसन्तोष (ब्रह्मचर्याणुव्रत) को स्वीकार कर लिया है उसे उक्त व्रत का संरक्षण करने के लिए निरन्तर परस्त्रियों का परित्याग करना चाहिए। कारण यह कि नरकरूप कुएँ में पटकने वाली वे परस्त्रियाँ स्वर्गरूप भवन के बेड़ी (अर्गला) के समान

हैं – प्राणी को स्वर्ग से वंचित कर वे उसे नरक को ले जाने वाली हैं।।56।। जो विवेकी भव्य जीव स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को प्राप्त करना चाहता है, उसे समस्त स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री के समान देखना चाहिए।।57।।

परस्त्री अतिशय स्नेह करके भी प्राणी के लिए दुःखप्रद है, निर्मल – सुन्दर शरीर को धारण करने वाली – होकर भी मल को – पाप को – उत्पन्न करने वाली है, रस – आनन्द अथवा शृंगारादि रस (विरोध पक्ष में – जल) – की आधार होकर भी तृष्णा को – अतिशय भोगाकांक्षा को (विरोध पक्ष में – प्यास को) – बढ़ाने वाली है, अज्ञानता से (विरोध पक्ष में – शीतलता से) परिपूर्ण होकर भी सन्ताप को (विरोध पक्ष में – उष्णता को) बढ़ाने वाली है, तथा अपना सब कुछ देकर–के भी सब द्रव्यों का – वीर्य आदि का (विरोध पक्ष में – धन का) – अपहरण करने वाली है। इस प्रकार से जो परस्त्री विरुद्ध व्यवहार को बढ़ाने वाली है उसका दूर से ही परित्याग करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि स्नेही कभी दुःखप्रद नहीं होता, निर्मल वस्तु कभी मल को उत्पन्न नहीं करती, जल का आधार कभी प्यास को नहीं बढ़ाता है, शीतल वस्तु कभी उष्णता की वेदना को नहीं उत्पन्न करती है तथा जो अपना सब कुछ दे सकता है वह कभी दूसरे के द्रव्य का अपहरण नहीं करता है। परन्तु चूँकि उक्त परस्त्री में ये सभी विरुद्ध आचरण पाये जाते हैं, अतएव आत्महितैषी जीव को उस परस्त्री का सर्वथा ही त्याग करना चाहिए।।58–59।।

स्वकीय पत्नी और दूसरे की स्त्री, इन दोनों के सेवन में कोई विशेषता नहीं है – समान सुखलाभ ही होता है; यही नहीं, बल्कि भयभीत रहने आदि के कारण परस्त्री के सेवन में वह सुख भी नहीं प्राप्त होता है ; फिर भी उन दोनों में पूर्व का (अपनी पत्नी का) सेवन करने पर [स्वदार सन्तोष ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करने पर] प्राणी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा पिछली का (परस्त्री का) सेवन करने पर उसे नरक गति की प्राप्ति होती है।।60।। जो परकीय स्त्री अपने पति को छोड़कर निर्लज्जतापूर्वक दूसरे के पास जाती है – उसके साथ रमण करती है, उसके विषय में भला किस प्रकार विश्वास किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता है।।61।।

जो नराधम परस्त्री को रमणीय देखकर उसकी अभिलाषा करता है वह वास्तव में सुख को नहीं पाता है, किन्तु वह केवल नरक को देने वाले भयानक पाप को स्वीकार

करता है - उसको संचित करता है।।62।। जिस परकीय स्त्री के संयोग मात्र से दोनों लोकों की हानि शीघ्र होती है, उस परकीय स्त्री का सेवन भला स्वकीय पत्नी में संतोष करके कहाँ-से करता है - स्वकीय पत्नी के सेवन में ही सन्तोष-सुख का अनुभव करने वाला मनुष्य उभय लोक में दुःख देने वाली उस परस्त्री की कभी अभिलाषा नहीं करता है।।63।।

जो कामरूप अग्नि से सन्ताप को प्राप्त हुई परस्त्री का सेवन करता है, वह नरक में पड़कर वज्राग्नि से तपायी गयी लोहनिर्मित स्त्री का आलिंगन किया करता है।।64।। इस प्रकार परस्त्री सेवन से होने वाले दुःख को जानकर बुद्धिमान् मनुष्यों को उस परस्त्री के सेवन का परित्याग करना चाहिए। कारण यह कि उक्त परकीय स्त्री क्रोध को प्राप्त हुए यमराज की दृष्टि के समान प्राणी के जीवित को नष्ट करने वाली है।।65।।

जिस प्रकार अतिशय वृद्धिंगत होकर दुःसह सन्ताप को उत्पन्न करने वाली अग्नि को जल से शान्त किया जाता है उसी प्रकार अतिशय वृद्धि को प्राप्त होकर दुःसह मानसिक सन्ताप को देने वाले लोभ को निरन्तर संतोष के द्वारा शान्त किया जाना चाहिए।।66।। सन्तोषव्रत में वर्तमान - परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के धारक - श्रावक को धन (सुवर्णादि), धान्य (अनाज), गृह, खेत, द्विपद (दासी-दास आदि), तथा चतुष्पद (हाथी, घोड़ा, गाय व भैंस आदि); इन सबका प्रमाण कर लेना चाहिए और फिर उस ग्रहण किये हुए प्रमाण से अधिक की अभिलाषा नहीं करना चाहिए।।67।।

क्रोधादि कषायों के छोड़ने से धर्म की, स्त्री के संसर्ग से भोगाकांक्षा की, उत्तरोत्तर होने वाले लाभ से लोभ की तथा ईंधन के डालने से अग्नि की वृद्धि स्वभावतः हुआ करती है।।68।। यदि लोभ के ऊपर विजय प्राप्त नहीं की जाती है तो वह मनुष्य को भयानक नरक में ले जाता है। ठीक है, प्रभावशाली शत्रु भला कौन-से दुःख को नहीं दिया करते हैं? अर्थात् यदि प्रभावशाली शत्रुओं को वश में नहीं किया जाता है तो वे जिस प्रकार कष्ट दिया करते हैं उसी प्रकार लोभादि आन्तरिक शत्रुओं को भी यदि वश में नहीं किया गया है तो वे भी प्राणी को नरकादि के दुःख को दिया करते हैं।।69।।

कमाये हुए धन का उपभोग करने वाले तो बहुत-से जन (कुटुम्बी आदि) होते हैं, किन्तु उक्त धन के कमाने में संचित हुए पाप के फलस्वरूप नरक के दुःख को भोगते

समय उनमें से कोई भी सहायक नहीं होता है - वह उसे स्वयं अकेले ही भोगना पड़ता है।।70।। जिसके अन्त:करण में अटल संतोष अवस्थित है उसके देव सेवक बन जाते हैं, कल्पवृक्ष उसके हाथ में अवस्थित के समान हो जाते हैं तथा निधियाँ उसके भवन में निवास करने लगती हैं।।71।। इसके विपरीत जिसके हृदय में वह कल्याण का कारणभूत संतोष नहीं है, वह समस्त भण्डार (खजाना) को पाकर भी दरिद्र (निर्धन जैसा) व अतिशय दु:खी ही बना रहता है।।72।।

मोक्ष की इच्छा करने वाले श्रावकों को दिशा, देश और अनर्थदण्ड से विरत होनेरूप तीन प्रकार के गुणव्रत का तीन प्रकार से - मन, वचन व काय के द्वारा - पालन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पूर्वादिक दिशाओं में जो जीवन पर्यन्त जाने-आने का नियम किया जाता है कि मैं अमुक दिशा में अमुक स्थान तक ही जाऊँगा, उससे आगे नहीं जाऊँगा; इसका नाम दिग्व्रत है। उक्त दिग्व्रत में स्वीकार की गयी मर्यादा के भीतर भी उसे संकुचित करके कुछ नियमित समय के लिए जो अल्प प्रमाण में जाने-आने का नियम स्वीकार किया जाता है उसे देशव्रत के नाम से कहा जाता है। जिन कार्यों में निरर्थक प्राणियों का विघात हुआ करता है उनका परित्याग करना, यह अनर्थदण्डव्रत नाम का तीसरा गुणव्रत है। श्रावकों को पाँच अणुव्रतों के साथ इन तीन गुणव्रतों का भी निरतिचार पालन करना चाहिए।।73।।

जो पूर्वादिक चार दिशा, ईशानादि चार विदिशा तथा नीचे व ऊपर; इस प्रकार दस दिशाओं में आगमोक्त विधि के अनुसार मर्यादा को स्वीकार करके उसके आगे नहीं जाता है, यह दिग्व्रत नाम का प्रथम गुणव्रत है।।74।। गृहीत मर्यादा के बाहर त्रस और स्थावर जीवों के घात की सर्वथा निवृत्ति हो जाने के कारण घर के भीतर स्थित श्रावक के भी वहाँ अहिंसामहाव्रत जैसा हो जाता है।।75।। *जिस महापुरुष ने आशा को नियंत्रित कर लिया है, उसने तीनों लोकों को अतिक्रान्त करने वाली तीव्र लोभरूप अग्नि के प्रसार को रोक दिया है, यह समझना चाहिए।।76।।*

दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त स्वीकृत देश के भीतर भी कुछ नियत समय के लिए मर्यादा करके तदनुसार दिन-रात में उस मर्यादा के बाहर नहीं जाना, इसे पण्डित जनों ने दूसरा देशव्रत नाम का गुणव्रत कहा है।।77।। पूर्व में दिग्व्रत का जो फल - महाव्रतादि -

कहा गया है उसे यहाँ भी विशेष रूप से जानना चाहिए। ठीक है, विशिष्ट कारण के होने पर विशिष्ट कार्य को कौन रोक सकता है? अर्थात् *कारण की विशेषता के अनुसार कार्य में भी विशेषता हुआ ही करती है।।78।।*

जो पाँच प्रकार का अनर्थदण्ड धर्म और अर्थ पुरुषार्थों का अपकार तथा पाप का उपकार करने वाला है - धर्म व धन को नष्ट करके पाप संचय का कारण है, उसका अनर्थदण्डव्रत की अभिलाषा करने वाले श्रावकों को परित्याग कर देना चाहिए।

विशेषार्थ - जिन क्रियाओं के द्वारा बिना किसी प्रकार के प्रयोजन के ही प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न होती है, उन्हें अनर्थदण्ड नाम से कहा जाता है। वह अनर्थदण्ड पाँच प्रकार का है - अपध्यान, पापोपदेश, हिंसोपकारिदान, प्रमादचर्या और दु:श्रुति। राग व द्वेष के वशीभूत होकर आत्म-प्रयोजन के बिना दूसरे प्राणियों के वध-बन्धन और जय-पराजय आदि का विचार करना, यह अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड कहलाता है। अपना किसी प्रकार का प्रयोजन न होने पर भी दूसरों के लिए ऐसा उपदेश देना कि जिस के आश्रय से वे हिंसाजनक पशु-पक्षियों के व्यापारादि कार्यों में प्रवृत्त हो सकते हों, उसका नाम पापोपदेश अनर्थदण्ड है। अग्नि, विष एवं शस्त्र आदि जो हिंसा के उपकारक उपकरण हैं, उनका अपने प्रयोजन के बिना ही दूसरों को प्रदान करना; इसे हिंसोपकारिदान नामक अनर्थदण्ड जानना चाहिए। निष्प्रयोजन ही पृथिवी का कुरेदना, जल का बखेरना, अग्नि का जलाना और पत्र-पुष्पादि का छेदना; इत्यादि का नाम प्रमादचर्या है। जिन कथाओं से राग-द्वेषादि के वशीभूत हुए प्राणी का चित्त कलुषित होता हो, उनके सुनने को दु:श्रुति अनर्थदण्ड कहा जाता है। श्रावक को उक्त पाँचों अनर्थदण्डों का परित्याग करके अनर्थदण्डव्रत नामक तृतीय गुणव्रत को स्वीकार करना चाहिए।।79।।

इसके साथ ही श्रावकों को दयार्द्र होकर जीवों का घात करने वाले (हिंसक) मयूर, कुत्ता, बिल्ली, मैना, तोता और मुर्गा आदि पशु-पक्षियों को भी नहीं पालना चाहिए।।80।। विद्वान् जन जाल, लाठी, विष, शस्त्र, हल, रस्सी, अग्नि, पृथिवी (अथवा आमलकी - वनस्पति विशेष), लाख, लोहा और नीली [नील]; इत्यादि परबाधाकर वस्तुओं को दूसरों के लिए नहीं दिया करते हैं।।81।। इसके अतिरिक्त जिनके हृदय में दयाभाव विद्यमान है वे श्रावक अचार तथा घुने हुए, सड़े-गले एवं जीवों से व्याप्त आहार का परित्याग किया करते हैं।।82।।

सामायिक, उपोषित (प्रोषधोपवास), भोगोपभोगपरिसंख्यान और भोजन में अतिथि के लिए संविभाग - अतिथिसंविभाग; इस प्रकार शिक्षाव्रत के चार भेद हैं।।83।।

श्रावकों को आलस्य से रहित होकर जीवन व मरण में, सुख व दुःख में तथा संयोग व वियोग में मन में समताभाव का आश्रय लेते हुए - राग-द्वेष के परित्यागपूर्वक - सामायिक को करना चाहिए।।84।। सामायिक में दूसरे सब ही व्यापारों का परित्याग करके पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग दोनों में से किसी एक आसन से अवस्थित होकर प्रत्येक दिशा में तीन-तीन के क्रम से मन, वचन व काय के संयमनस्वरूप शुभ योगों की प्रवृत्तिरूप बारह आवर्त (दोनों हाथों को जोड़कर अग्रिम भाग की ओर से चक्राकार घुमाना), चार शिरोनतियाँ (शिरसा नमस्कार) और तीनों सन्ध्याकालों में वन्दना करना चाहिए।।85।।

भोग और उपभोग के परित्यागपूर्वक सब ही पाप क्रियाओं को छोड़कर श्रावक को दो अष्टमी व दोनों चतुर्दशीरूप चारों पर्वों में निरन्तर भक्ति के साथ उपवास को भी करना चाहिए।।86।। *इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से विमुख होकर आत्मा के साथ एकता को प्राप्त होती हुईं जिसमें निवास किया करती हैं उसका नाम उपवास है, यह उपवास शब्द का निरुक्त्यर्थ कहा गया है।।87।। उपवास करने वाले श्रावक अपनी इन्द्रियों को वश में करके अन्न, पान, स्वाद्य और लेह्य इन चारों आहारों का परित्याग करते हुए दिनभर ध्यान और स्वाध्याय में तल्लीन रहा करते हैं।।88।।*

श्रावक को जनों से पूजित भोगोपभोगपरिमाणव्रत को करते हुए एक बार भोगनेरूप भोग और अनेक बार भोगनेरूप उपभोग, इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को 'मैं अमुक भोगरूप वस्तुओं को इतने प्रमाण में तथा अमुक उपभोगरूप वस्तुओं को इतने प्रमाण में रखूँगा, इससे अधिक नहीं रखूँगा', इस प्रकार का विधिपूर्वक प्रमाण कर लेना चाहिए।।89।। जो सत्पुरुष व्रत के अभिलाषी हैं वे माला, गन्ध (सुगन्धित द्रव्य), अन्न, ताम्बूल (पान), आभूषण, स्त्री और वस्त्र आदि पदार्थों के प्रमाण को स्वीकार करके ही उनका उपभोग किया करते हैं।।90।।

अतिथिसंविभाग व्रत के धारक श्रावक को अपनी इन्द्रियों को जीत लेने वाले अतिथि - साधु जनों - के घर पर आने पर उन्हें भक्ति के साथ विधिपूर्वक आहार-पान और औषध का दान देना चाहिए।।91।। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका; इस

चार प्रकार के संघ में भक्ति रखने वाले श्रावक को उसके लिए विनय के साथ चार प्रकार के प्रासुक आहार का – खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय का – निरन्तर दान करना चाहिए। इससे अनन्त संसार का विनाश होता है।।92।।

घर पर आये हुए मुनिजनों को देखकर जिसके अन्त:करण में अतिशय प्रीति उत्पन्न हुआ करती है ऐसे श्रावक को उन मुनिजनों के लिए दान देते समय मन में नौ प्रकार की विधि को करके दाता के श्रद्धा आदि सात गुणों को भी करना चाहिए। कारण यह कि सद्व्यवहार के बिना – श्रद्धा व भक्ति आदि के बिना – दिया हुआ दान अनर्थ को उत्पन्न करने वाला होता है – विधि के बिना दिया गया दान फलप्रद नहीं होता। उपर्युक्त नौ प्रकार की विधि यह है – 1. मुनिजन को आते देखकर उन्हें 'हे स्वामिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ' कहते हुए स्थापित करना, 2. बैठने के लिए ऊँचा स्थान देना, 3. पैरों को धोकर गन्धोदक लेना, 4. अष्टद्रव्य से पूजा करना, 5. फिर प्रणाम करना, 6–9. पश्चात् मन, वचन और काय की शुद्धि को प्रकट करके भोजन–विषयक शुद्धि को प्रकट करना। इसके अतिरिक्त जिन सात गुणों के आश्रय से दिया गया दान फलवत् होता है वे गुण ये हैं – 1. श्रद्धा, 2. अनुराग, 3. हर्ष, 4. दान की विधि आदि का परिज्ञान, 5. लोभ का अभाव, 6. क्षमा और 7. सत्त्व।।93।।

अन्त में जब अनिवार्य मरण का समय निकट आ जाये तब उसे देखकर बुद्धिमान् श्रावक को अपने कौटुम्बिक जनों की अनुमतिपूर्वक सल्लेखना को – समाधिमरण को – स्वीकार करना चाहिए। कारण यह कि सत्पुरुष समय के अनुसार ही कार्य किया करते हैं।।94।। मरण के समय चतुर श्रावक सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को विशुद्ध करने की इच्छा से गुरुजन के समक्ष सब दोषों की आलोचना करता है – वह उनको निष्कपट भाव से प्रकट करता है, तथा क्रम से चार प्रकार के आहार को व अन्त में शरीर को भी समताभाव के साथ छोड़ देता है।।95।।

जो विवेकी गृहस्थ निदान (आगामी भव में भोगाकांक्षा), मिथ्यात्व और कषाय से रहित होकर उस संन्यास की विधि को – विधिपूर्वक सल्लेखना को – स्वीकार करता है वह मनुष्य – चक्रवर्ती आदि – और देवों के सुखों को भोगकर त्रिगुणित सात (7 ह्न 3 = 21) भवों के भीतर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।।96।। जो गृहस्थ संसार परिभ्रमण से

भयभीत होकर जिनेन्द्र के द्वारा प्रत्यक्ष देखे गये – उनके द्वारा उपदिष्ट – श्रावक सम्बन्धी इस बारह प्रकार के व्रत का परिपालन करता है, वह सब प्रकार के कल्याण को प्राप्त होता है – वह विविध प्रकार के सांसारिक सुख को भोगकर अन्त में मुक्तिसुख को भी प्राप्त कर लेता है।।97।।

अपने व्रतों की वृद्धि को करने वाला गृहस्थ इन्द्रियों के व्यापार को जीतकर भ्रुकुटि, नेत्र, हुंकार (हूं-हूं शब्द) और हाथ की अँगुलि के द्वारा लोलुपता से प्रवृत्त होने वाले संकेत को छोड़ता हुआ मौनपूर्वक भोजन को करता है।।98।। जिनके चरणकमल देवों व मनुष्यों के द्वारा पूजे गये हैं ऐसे निर्दोष अर्हदादि [अर्हन्तादि] पाँच परमेष्ठी हैं उनकी श्रावक को नैवेद्य, गन्ध, अक्षत, दीप, धूप और पुष्पमाला आदि के द्वारा पूजा करनी चाहिए।।99।। जो गृहस्थ प्रयत्नपूर्वक निरतिचार इस पूजनीय देशव्रत का – श्रावकधर्म का – परिपालन करते हैं वे मनुष्यों व देवों के वैभव को भोगकर अन्त में समस्त पापमल से रहित होते हुए मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।100।।

इस प्रकार विशुद्ध अभिप्राय वाले उस पवनवेग ने समस्त पापमल को दूर करने वाले उन जिनमति मुनि के व्रतविषयक उपदेश को सुनकर मनुष्यों व देवों से पूजित केवली जिन के दोनों चरणकमलों को नमस्कार करते हुए अपने को व्रतरूप रत्न से विभूषित कर लिया – श्रावक के व्रतों को ग्रहण कर लिया। ठीक है, भव्य जन अपरिमित ज्ञान के धारक मुनि के उपदेश का पाकर भला उसे व्यर्थ कैसे कर सकते हैं? नहीं कर सकते – वे उसे सफल ही किया करते हैं।।101।।

इस प्रकार आचार्य अमितिगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में उन्नीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।19।।

चैतन्य का स्मरण प्रतिक्षण ही करो रे!
भव के अनन्त दुःख को क्षण में हरो रे!
अक्षय अनन्त निज सौख्य निधान पाओ,
गाओ अरे! नित इसी के गीत गाओ।।

बीसवाँ परिच्छेद

तत्पश्चात् वे मुनिराज विद्याधर के पुत्र से बोले कि हे भद्र! इनके अतिरिक्त दूसरे भी कुछ नियम हैं जिनका परिपालन श्रावकों को भक्तिपूर्वक करना चाहिए।।1।।

यथा – जिस रात्रि में प्राणियों का इधर-उधर संचार होता है, जिसमें मुनियों का आगमन नहीं होता है, जिसमें भक्ष्य व अभक्ष्य वस्तु का कुछ भी परिज्ञान नहीं हो सकता है, तथा जिसमें आहार में रहने वाले सूक्ष्म प्राणियों का दर्शन नहीं होता है; उस *रात्रि में दयालु श्रावकों को कभी भी भोजन नहीं करना चाहिए।।2-3।।* जो रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर रात्रि में भोजन करता है, उस निकृष्ट मनुष्य के अहिंसाणुव्रत कहाँ से हो सकता है? नहीं हो सकता है।।4।।

जो समस्त धार्मिक क्रियाओं से रहित होकर दिन-रात खाया करता है, उसके पशु से कोई भेद नहीं है – वह पशु के समान है। यदि पशु की अपेक्षा कोई विशेषता है तो वह इतनी मात्र है कि पशु के सींग होते हैं, पर उसके सींग नहीं हैं।।5।। मनुष्य रात में भोजन करने से अगले भव में शूकर, साँभर (एक विशेष जाति का मृग), कंक (पक्षी विशेष), बिलाव, तीतर, बगुला, कुत्ता, सारस पक्षी, श्येन पक्षी [बाज], कौवा, मेंढक, सर्प, बौना (कद में छोटा), खुजली रोगवाला, गूँगा, अधिक रोमों वाला, कठोर [कर्कश], मूर्ख, भाग्यहीन (घृणास्पद), दुष्ट और कोढ़ से संयुक्त होता है।।6-7।।

इसके विपरीत उस रात्रिभोजन का परित्याग कर देने वाला मनुष्य विद्वान्, कोमल भाषण करनेवाला, रोग से रहित, सज्जन, शान्त, दानी, भोगों से संयुक्त, यशस्वी, समुद्र पर्यन्त समस्त पृथिवी का स्वामी, उपादेय (प्रशंसनीय), सुन्दर, सुयोग्य वक्ता और कामदेव के समान रमणीय शरीर वाला होता हुआ पूजा का पात्र होता है।।8-9।। चूँकि प्राणी रात्रिभोजन से सर्वत्र दुःख को और दिन में भोजन करने से सर्वत्र सुख को प्राप्त होता है, इसीलिए दिन में भोजन करना हितकर है।।10।।

जो सत्पुरुष दिन के अन्त में दो घटिकाओं [घड़ी] को छोड़कर – सूर्य के अस्त होने से दो घटिका (48 मिनट) पूर्व ही – भोजन कर लेता है, उस अतिशय पुण्यशाली पुरुष को अनस्तमितभोजी कहा जाता है।।11।। जो व्यक्ति दिन के प्रारम्भ में और अन्त में

दो नालियों (77 लव) को छोड़कर शेष दिन में [सूर्योदय के दो घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले तक के समय में] भोजन करता है, उसके इस प्रकार से एक मास में दो उपवास हो जाते हैं।।12।।

जो बुद्धिमान शुक्ल पंचमी के दिन उपवास को करता है वह मनुष्यों व देवों की लक्ष्मी को भोगकर शाश्वतिक (अविनश्वर) पद को - मोक्ष को - प्राप्त होता है।।13।। यह पंचमी-उपवास की विधि गुरु के निकट में ग्रहण करके प्रथमत: आषाढ़, कार्तिक अथवा फाल्गुन मास में विधिपूर्वक प्रारम्भ की जाती है।।14।। इस विधि में बुद्धिमान जनों को पाँच मास अधिक पाँच वर्ष तक प्रत्येक मास में उपवास करना चाहिए।।15।।

कारण यह कि उपवास से प्राणी का जिस प्रकार शरीर सूखता है - कृश हुआ करता है, उसी प्रकार उसके पूर्वसंचित कर्म भी शीघ्र सूखते हैं - निर्जीर्ण हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है।।16।। जिस प्रकार सूर्य तालाबों के संचित जल को सुखा डालता है उसी प्रकार उपवास प्राणियों के संचित पापकर्मों को सुखा डालता है - उन्हें क्षीण कर देता है।।17।। उपवास के बिना इन्द्रियों और काम का जीतना शक्य नहीं है। ठीक भी है, मद से मन्द गतिवाले हाथियों को एक मात्र सिंह ही विदीर्ण कर सकता है, सिंह को छोड़कर दूसरा कोई भी उन्हें परास्त नहीं कर सकता है।।18।।

जिस दिन रोहिणी नक्षत्र और चन्द्रमा का योग हो, उस दिन पाँच मास अधिक पाँच वर्ष तक भक्तिपूर्वक उपवास किया जाता है। इससे उपवास करने वाला मुक्ति को प्राप्त करता है।।19।। जो उपर्युक्त दोनों विधान - पंचमीव्रत व रोहिणीव्रत - तीसरे भव में मुक्तिरूप वल्लभा को प्रदान करते हैं उनका और दूसरा कौन-सा फल कहा जा सकता है? अर्थात् उनका वह सर्वोत्कृष्ट फल है, स्वर्गादिरूप फल तो आनुषंगिक [गौणरूप से साथ चलने वाले] हैं जिनका निर्देश नहीं किया गया है।।20।।

सर्वत्र व्रतादिक का जो फल कहा जाता है वह प्रधान फल ही कहा जाता है, उनका आनुषंगिक फल नहीं कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप विद्वान् जन कृषि का फल धान्य की प्राप्ति ही मानते हैं, पलाल (धान्यकण से रहित उसके सूखे तृण) को वे उस कृषि का फल नहीं मानते हैं।।21।। उक्त दोनों विधियों के पूर्ण हो जाने पर जो जन उनके सम्पूर्ण फल की अभिलाषा रखते हैं, उन्हें अपने वैभव के अनुसार उनका उद्यापन करना

चाहिए।।22।। जो उनका उद्यापन करने में असमर्थ होते हैं, उन विद्वानों को उनका परिपालन निर्दिष्ट समय से दूने समय तक करना चाहिए। तभी उनकी विधि पूर्णता को प्राप्त हो सकती है। विधि की पूर्णता न होने पर विधेय (व्रत) की पूर्णता कहाँ से हो सकती है? नहीं हो सकती।।23।।

जो दान अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान के भेद से चार प्रकार का है उसे भी देना चाहिए। क्योंकि वह जन्म-मरणरूप संसार के नष्ट करने में सर्वथा समर्थ है।।24।। लोक में देखा जाता है कि सब ही प्राणी अपने प्राणों से सदा अनुराग करते हैं - वे उन्हें कभी भी नष्ट नहीं होने देना चाहते हैं। इसीलिए सब दानों में प्राणियों के प्राणों का संरक्षण - अभयदान - श्रेष्ठ है।।25।।

प्राणियों के द्वारा जो भी सब आरम्भ किये जाते हैं वे सब चूँकि निरन्तर अपने प्राण-रक्षण के लिए ही किये जाते हैं, अतएव प्राणत्राणदान से (अभयदान से) श्रेष्ठ दूसरा कोई भी दान नहीं है।।26।। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का कारण चूँकि जीवित का बना रहना है, अतएव उक्त जीवित के प्रदान करने पर क्या नहीं दिया? अर्थात् सब कुछ ही दे दिया। इसके विपरीत उक्त जीवित का अपहरण करने पर - घात करने पर - अन्य किसका अपहरण नहीं किया? अर्थात् धर्म, अर्थ व काम आदिरूप सबका ही अपहरण कर लिया। कारण कि उनका अनुष्ठान जीवित के शेष रहने पर हो सकता है।।27।। चूँकि लोक में मरण के भय से और दूसरा कोई भी भय अधिक नहीं देखा जाता है, अतएव विद्वानों को सर्वदा प्राणियों के प्राणों का संरक्षण करना चाहिए।।28।।

धर्म का कारण शरीर है, और चूँकि उसका संरक्षण अन्न (भोजन) से ही होता है, इसलिए धर्मात्मा जनों के लिए उस अन्न का दान अवश्य करना चाहिए।।29।। दुष्काल के पड़ने पर चूँकि मनुष्य अपने अतिशय प्रिय पुत्रों को भी बेचकर भोजन को ग्रहण किया करते हैं, अतएव उन्हें सबसे प्यारा वह आहार ही है।।30।। प्राणी के भूख के दुःख से अधिक अन्य कोई भी दुःख नहीं है। कारण यह कि वह भूख का दुःख सब ही शरीर को नष्ट करने वाला है। इसीलिए जो आहारदान को देता है, उसने उक्त भूख के दुःख को नष्ट करके क्या नहीं किया है? अर्थात् वह प्राणी के क्षुधाजनित दुःख को दूर करके सब कुछ ही दे देता है।।31।।

जो सत्पुरुष प्राणियों को भोजन देता है, वह लोक में जो कान्ति, कीर्ति, बल, वीर्य, यश, लक्ष्मी, सिद्धि, बुद्धि, शान्ति, संयम और धर्म आदि सुखप्रद पदार्थ हैं उन सभी को देता है; ऐसा समझना चाहिए।।32।। जो शरीर-संरक्षण की शक्ति भोजन में है वह सुवर्ण, मणि और रत्नसमूह में सम्भव नहीं है। इसीलिए दूरदर्शी विद्वज्जन मुनियों के लिए उपर्युक्त सुवर्णादि को न देकर आहार दान को दिया करते हैं।।33।।

तीव्र दोषों से परिपूर्ण रोगों से बेधा गया - खेद को प्राप्त हुआ - साधु चूँकि तप करने में समर्थ नहीं होता है, अतएव उसे उन रोगों को नष्ट करने वाले औषधदान को विधिपूर्वक निरन्तर देना चाहिए।।34।। जो श्रावक रोग से पीड़ित मुनिजनों की भक्तिपूर्वक उस रोग की नाशक औषधि को देता है वह कभी कफ, पित्त और वात दोष से उत्पन्न होने वाले रोग समूह से इस प्रकार पीड़ित नहीं होता जिस प्रकार कि जल में डूबा हुआ व्यक्ति कभी अग्नि के सन्ताप से पीड़ित नहीं होता है।।35।।

जो शास्त्र द्वेष, राग, मद, मात्सर्य, ममता, क्रोध, लोभ और भय के नष्ट करने में समर्थ होकर मोक्षरूप महल के मार्ग को दिखलाता है उसे अविनश्वर सुख की प्राप्ति के निमित्त मुनिजनों को प्रदान करना चाहिए।।36।। चूँकि शास्त्र के परिज्ञान से विवेक (हेय-उपादेय का विचार), उस विवेक से पाप कर्म की निर्जरा और उस कर्मनिर्जरा से यति को पवित्र पद की - मोक्ष की - प्राप्ति होती है, इसीलिए सब अनर्थों के विघातक उस शास्त्र को अवश्य देना चाहिए।।37।।

जिस दान में प्राणिसमूह को किसी प्रकार की पीड़ा न होती हो, जिसके प्रभाव से मुनि विषयरूप शत्रु के अधीन नहीं होता है, तथा जिस दान के आश्रय से वह पाप के विघातक तप का आराधन करता है; वही दान यहाँ सुखप्रद माना जाता है।।38।। परिग्रह से रहित एवं शील, संयम, दया व दम के स्थानभूत पात्र को देखकर उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र के बढ़ाने वाले अन्य भी निर्दोष दान को देना चाहिए।।39।।

जो दान का ग्राहक घर एवं स्त्री आदि में अनुरक्त होता है वह उसी के समान घर व स्त्री आदि के मध्य में रहने वाले दाता के लिए अभीष्ट मुक्ति को नहीं दे सकता है। सो ठीक भी है, क्योंकि समुद्र में एक चट्टान दूसरी चट्टान को पार नहीं कर सकती है। अभिप्राय यह है कि गृहस्थ चूँकि घर में स्थित होकर स्त्री व पुत्रादि में अनुरक्त होता

हुआ जिस आरम्भजनित पाप को उत्पन्न करता है, उसको नष्ट करने के लिए उसे उस घर आदि के मोह से रहित निर्ग्रन्थ मुनि के लिए ही दान देना चाहिए, न कि अपने समान घर आदि में मुग्ध रहने वाले अन्य रागी जन को।।40।।

जो अतिशय हीन वेश्या मन में घृणित विचारों को रखती हुई सम्भाषण में चतुर होती है, जिसका सैकड़ों जार पुरुष घर्षण – चुम्बन आदि – किया करते हैं, तथा जो शुभ लेश्या से – उत्तम विचारों से – रहित होती है; उसका बुद्धिमान् जनों को दूर से ही परित्याग करना चाहिए। उसका सेवन उन्हें कभी भी नहीं करना चाहिए।।41।। वह वेश्या शरीर से किसी एक पुरुष का सेवन करती है, वचन से किसी दूसरे को क्रोध से रहित – सन्तुष्ट – करती है, तथा मन से अन्य ही किसी का शीघ्र आश्रयण करती है – उसे फाँसने का विचार करती है। इस प्रकार विविध पुरुषों में उपयोग लगाने वाली वह वेश्या भला कैसे सुख दे सकती है? नहीं दे सकती है।।42।।

जो वेश्या के अनुराग में चित्त को लगाकर शान्ति व संयम से भ्रष्ट होता हुआ उसके मद्य व मांस से संयुक्त मुख का चुम्बन करता है, उसके व्रतरूप रत्न भला कैसे रह सकता है? अर्थात् इस प्रकार की वेश्या से अनुराग करने वाले व्यक्ति के कभी किसी भी प्रकार के व्रत की सम्भावना नहीं की जा सकती है।।43।। जो मूर्ख वेश्या के वश होकर नीच कृत्यों में प्रवृत्त होता हुआ पुत्र, मित्र, बन्धु और आचार्य को नहीं मानता है – उनका तिरस्कार किया करता है – उसके भला शान्त पुरुषों के द्वारा आराधनीय धर्म का सद्भाव कहाँ से हो सकता है? नहीं हो सकता है।।44।।

अपनी स्त्री यद्यपि सुख को उत्पन्न करने वाली है, तथापि यदि उसका अतिशय आसक्ति के साथ अधिक मात्रा में उपभोग किया जाता है तो वह भी दुःख को – दौर्बल्य या क्षयादि रोगजनित पीड़ा को – उत्पन्न करती है। ठीक है, यदि शीत से पीड़ित प्राणी उस शीत को दूर करने वाली अग्नि की ज्वाला का स्पर्श करते हैं तो क्या वह शरीर को नहीं जलाती है? अवश्य जलाती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शैत्य की बाधा को नष्ट करने वाली अग्नि की ज्वाला का यदि दूर से सेवन किया जाता है तो वह प्राणी की उस शैत्यजनित बाधा को दूर किया करती है, परन्तु यदि उसका अतिशय निकट स्थित होकर स्पर्श किया जाता है तो वह केवल दाहजनित सन्ताप को ही बढ़ाती है;

ठीक इसी प्रकार से यदि अपनी स्त्री का भी अनासक्तिपूर्वक अल्प मात्रा में उपभोग किया जाता है तो वह प्राणी की कामबाधा को दूर कर उसे सुख उत्पन्न करती है, परन्तु यदि मूर्खतावश उसका अतिशय आसक्तिपूर्वक निरन्तर सेवन किया जाता है तो वह क्षयादि रोगों से उत्पन्न होने वाली पीड़ा का भी कारण होती है।।45।।

जो जितेन्द्रिय महापुरुष अष्टमी व चतुर्दशी आदि पर्व के समय सदा मैथुन क्रिया का परित्याग करता है, वह कामदेव के बाणों की तीक्ष्णता के प्रभाव को नष्ट कर देने के कारण इन्द्र होकर सब देवों द्वारा पूजा जाता है।।46।।

जो जुआ का व्यसन पूर्व के बहुत-से धन को नष्ट करके घर में अनिवार्य नवीन प्रबल दरिद्रता को क्षण-भर में लाकर उपस्थित कर देता है उसका विचारशील मनुष्य सदा के लिए परित्याग किया करते हैं।।47।। जुआरी मनुष्य का बन्धुजन परित्याग किया करते हैं, विद्वान् जन उसकी निन्दा किया करते हैं, दुष्ट जन उसका परिहास किया करते हैं, सत्पुरुषों को उसके विषय में पश्चात्ताप हुआ करता है, तथा अन्य जुआरी जन उसको बाँधते, रोकते, मारते और पीड़ित किया करते हैं।।48।।

जुआ चूँकि धर्म, काम और धन के नष्ट करने में दक्ष होकर समस्त कष्टों के बढ़ाने में तत्पर रहता है; तथा शील, शौच व शान्ति में बुद्धि रखने वाले सत्पुरुषों के लिए वह अभीष्ट नहीं है; इसीलिए जुआ से निकृष्ट (घृणास्पद) अन्य कोई वस्तु नहीं है।।49।। जो निर्बुद्धि जुआरी मनुष्य समस्त जनों को अत्यन्त पूज्य माता के वस्त्र का अपहरण करता है, वह भला निर्लज्ज होकर और कौन-से दूसरे निन्द्य कार्य को नहीं कर सकता है? अर्थात् वह अनेक निन्द्य कार्यों को किया करता है।।50।।

मद्य, मांस, जुआ, चोरी, पापर्धि (शिकार), परस्त्री-सेवन और वेश्या की संगति; ये सात नीच आचरण (दुर्व्यसन) हैं। उत्तम जनों को इन सबका परित्याग करना चाहिए।।51।।

जो श्रावक - पंचम गुणस्थानवर्ती - है वह उत्कृष्टरूप से ग्यारह प्रतिमाओं का धारक तथा संसार की नाशक शक्ति से संयुक्त चौदहवें गुणस्थान तक को प्राप्त करने वाला कहा गया है।।52।। जिस के अन्त:करण में चन्द्रमा की किरण के समान निर्मल व हारलता के समान सन्ताप को दूर करने वाली दृष्टि (सम्यग्दर्शन) अवस्थित है, वह

निर्मल दीप्ति से संयुक्त श्रावक *दर्शनी* – प्रथम दर्शन प्रतिमा का धारक – होता है।।53।।

जिस प्रकार मनुष्य अपने घर में दुर्लभ धन को धारण किया करता है, उसी प्रकार जो महामनस्वी श्रावक अपने हृदय में सदा दुर्लभ निर्मल व्रतों को – अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतों को – धारण किया करता है, व्रती जन उस निर्मलबुद्धि श्रावक को *व्रती* – द्वितीय व्रत प्रतिमा का धारक – कहते हैं।।54।। जो श्रावक अपनी इन्द्रियोंरूप घोड़ों को स्वाधीन करके इष्ट और अनिष्ट वस्तु तथा शत्रु व मित्र जन के विषय में समताभाव को धारण करता हुआ तीनों सन्ध्या–समयों में सामायिक को करता है, वह प्रवीण गणधरादिकों के द्वारा *सामायिकी* – तृतीय सामायिक प्रतिमा का धारक – प्रसिद्ध किया गया है।।55।।

जो निर्दोष आचरण करने वाला श्रावक भोग व उपभोगरूप वस्तुओं की इच्छा न करता हुआ चारों ही पर्वों में – दोनों अष्टमी व दोनों चतुर्दशियों को – निरन्तर उपवास करता है, उसे बुद्धिमान् *प्रोषधी* – चतुर्थ प्रतिमा का धारक – मानते हैं।।56।। जो श्रावक सब ही प्राणियों के संरक्षण में दत्तचित्त होकर समस्त सचित्त को – सजीव वस्तु को – नहीं खाता है, उसे प्रासुक भोजन में तत्पर रहने वाले गणधरादि *सचित्तविरत* – पाँचवीं प्रतिमा का धारक – कहते हैं।।57।। जो धर्म में मन लगाकर राग से रहित होता हुआ दिन में स्त्रीजन का सेवन नहीं करता है, उसे महापुरुष *दिनमैथुनसंग से रहित* – छठी प्रतिमा का धारक – कहते हैं जो अतिशय प्रशंसा का पात्र है।।58।।

जो मनुष्य व देवसमूह को जीतने वाले स्त्रियों के कटाक्षरूप बाणों के द्वारा नहीं जीता जाता है – उनके वशीभूत नहीं होता है, तथा जो कामदेवरूप प्रबल शत्रु के अभिमान को नष्ट कर चुका है – विषयभोग से सर्वथा विरक्त हो चुका है, उसे *ब्रह्मचारी* – सप्तम प्रतिमा का धारक – कहा जाता है।।59।। जो धर्मात्मा श्रावक आरम्भ को प्राणिहिंसा का कारण जानकर उसे नहीं करता है तथा जिसकी राग–द्वेषरूप प्रवृत्तियाँ मन्दता को प्राप्त हो चुकी हैं, उसे ज्ञानीजन *आरम्भरहित* – आठवीं प्रतिमा का धारक – कहते हैं।।60।।

जो परिग्रह को प्राणिविघातक जानकर उसे तृण के समान छोड़ देता है तथा जिसने प्रबल कषायरूप शत्रु को नष्ट कर दिया है, वह गणधरादि महापुरुषों के द्वारा *परिग्रह–रहित* – नौवीं प्रतिमा का धारक – कहा गया है।।61।। जो विवेकी श्रावक अग्नि के

समान अनेक प्रकार के प्राणिसमूह को सन्तप्त करने वाले कार्य में अनुमति को छोड़ता है – उसकी अनुमोदना नहीं करता है, उसे *अनुमतिविरत* – दसवीं प्रतिमा का धारक – कहा जाता है।।62।।

जो जितेन्द्रिय श्रावक मन, वचन व काय से अपने लिए निर्मित भोजन को नहीं करता है, उस प्रासुक भोजन के करने में उद्यत महापुरुष को *उद्दिष्टविरत* – ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक – कहते हैं।।63।। इस प्रकार से जो आलस्य से रहित होकर ग्यारह प्रकार के पवित्र श्रावकचारित्र का परिपालन करता है, वह मनुष्यों और देवों की लक्ष्मी से संतुष्ट होकर – उसे भोगकर – अन्त में कर्मबन्ध से रहित होता हुआ मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।।64।।

जिस प्रकार नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रधान माना जाता है, उसी प्रकार *सब व्रतों में सम्यग्दर्शन प्रधान माना गया है।* वह सम्यग्दर्शन उक्त चन्द्रमा के ही समान समस्त सन्ताप के नष्ट करने में समर्थ, देदीप्यमान और सब तत्त्वों को प्रकट दिखलानेवाला है।।65।। संसाररूप वृक्ष के काटने के लिए शस्त्र के समान वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होने के कारण दो प्रकार का माना गया है। उनमें प्रथम – निसर्गज सम्यग्दर्शन – बाह्य तत्त्वोपदेश से रहित और द्वितीय – अधिगमज सम्यग्दर्शन – जिनागम के अभ्यास के आश्रय से उत्पन्न होने वाला है।।66।।

चिन्तित समस्त सुख के देने में समर्थ वह सम्यग्दर्शन प्राणियों के ज्ञान और चारित्र को शुद्ध करके उनके संसार-परिभ्रमण को नष्ट करने वाला है। वह तीन प्रकार का है – क्षायिक, औपशमिक और वेदक।।67।। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व से संयुक्त प्रथम चार कषाय – अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ – सम्यग्दर्शनरूप रत्न के नष्ट करने में समर्थ होकर धर्मरूप वृक्ष के काटने के लिए कुठार के समान कहे गये हैं।।68।।

जिस प्रकार बादलों के अभाव में समस्त अन्धकार के संचार को नष्ट करने वाला निर्मल सूर्य का बिम्ब आविर्भूत होता है, उसी प्रकार उक्त सम्यग्दर्शन को आच्छादित करने वाली उपर्युक्त सात कर्म-प्रकृतियों के उदयाभाव में वह निर्मल सम्यग्दर्शन आविर्भूत होता है।।69।। उपर्युक्त सात प्रकृतियाँ जब क्षय को प्राप्त हो जाती हैं, तब प्राणियों के क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और वह अविनश्वर माना गया है। वे ही प्रकृतियाँ

जब उपशम अवस्था को प्राप्त होती हैं, तब औपशमिक सम्यग्दर्शन और जब वे दोनों ही अवस्थाओं को – क्षय व उपशमभाव (क्षयोपशम) को – प्राप्त होती हैं तब वेदकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।।70।।

निर्मल बुद्धि से संयुक्त धीर सम्यग्दृष्टि जीव जिन भगवान् के द्वारा निरूपित वस्तुरूप के विषय में शंका को छोड़ता है – उसके विषय में नि:शंक होकर दृढ़ श्रद्धान करता है, वह सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करता है, अपवित्र दिखने वाले साधु के शरीर को देखकर घृणा नहीं करता है; कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के विषय में मूढ़ता को – अविवेक बुद्धि को – नहीं करता है, संयमी जनों के दोषों को आच्छादित करके अपने निर्मल अन्त:करण में उनको विविध प्रकार के चारित्र में स्थिर करने का विचार करता है, साधर्मी जन के प्रति वात्सल्य भाव को पुष्ट करता है, तथा माया आदि शल्यों से रहित अहिंसा धर्म को प्रकाश में लाता है। तात्पर्य यह कि उक्त सम्यग्दर्शन को निर्मल रखने के लिए सम्यग्दृष्टि जीव को नि:शंकित आदि आठ अंगों का परिपालन करना चाहिए।।71–72।।

उक्त सम्यग्दृष्टि क्रोधादि कषायों से रहित होकर संवेग (धर्मानुराग) और निर्वेद (संसार व भोगों से विरक्ति) में तत्पर होता हुआ अपनी निन्दा करता है, अज्ञानता व प्रमाद से किये गये दोषसमूह पर पश्चात्ताप करता है, अर्हदादि परमेष्ठियों की निरन्तर भक्ति करता है, दयारूप स्त्री के आलिंगन का मन में विचार रखता है – प्राणियों के विषय में अन्त:करण से दयालु रहता है, समस्त प्राणिसमूह में मित्रता का भाव करता है, निर्मल चारित्र के धारक संयमीजन को देखकर हर्षित होता है तथा अपने से विरुद्ध आचरण करने वाले प्राणी के विषय में मध्यस्थ – राग–द्वेषबुद्धि से रहित – होता है। इस प्रकार मन में सांसारिक प्रवृत्तियों से विरक्त होता हुआ वह जो सम्यग्दर्शन दीन (कातर) जनों को दुर्लभ, व्रतरूप धान्यांकुरों का बीजभूत, अभीष्ट सब प्रकार के सुख को देने वाला और विद्वानों से पूजनीय है; उसे निर्मल करके अपने जन्म को सफल करता है।।73–75।।

उस सम्यग्दर्शन को छोड़कर दूसरा कोई भी प्राणियों का हितकारक नहीं है, सम्यक्त्व के बिना अन्य कुछ भी अपना नहीं है, सम्यक्त्व के सिवाय दूसरा कोई भी पवित्र नहीं है तथा उस सम्यक्त्व को छोड़कर और दूसरा कोई चारित्र नहीं है।।76।। जिसके पास वह सम्यक्त्व है वही अतिशय पटु है, वही सर्वश्रेष्ठ है, वही कुलीन है और वही दीनता से

रहित - महान् है।।77।। सम्यग्दर्शन का धारक उदारचेता प्राणी अत्यधिक कान्ति, बुद्धि, कीर्ति और तेज के धारक कल्पवासी (वैमानिक) देवों को छोड़कर हीन विभूति वाले अन्य देवों में - भवनत्रिक में - उत्पन्न नहीं होता है।।78।।

सम्यग्दर्शन का धारक प्रथम नारक पृथिवी को छोड़कर द्वितीयादि अन्य नारक पृथिवियों में उत्पन्न नहीं होता, वह सब प्रकार की स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं होता तथा स्वयं पूज्य वह भव्य जीव अपूज्य पर्याय में - नपुंसक-वेदियों में - नहीं जाता है।।79।। जो भव्य जीव अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक भी सम्यग्दर्शनरूप रत्न को पाकर उसे छोड़ देता है, वह भी अपार संसार को नहीं प्राप्त होता है - वह अनन्त संसार को अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र कर देता है - व अन्य कोई भव्य उस सम्यग्दर्शन को पाकर समस्त संसार को क्षण-भर में ही लाँघ जाता है - थोड़े ही समय में मुक्त हो जाता है।।80।।

इस प्रकार वह पवनवेग तीनों लोकों के हितैषी उन जिनमति मुनि के वस्तुस्वरूप को सूचित करने के कारण विद्वानों द्वारा वन्दनीय उस उपदेश को मन में अवस्थित करके अतिशय सन्तुष्ट हुआ।।81।। जिस प्रकार पुत्र से रहित मनुष्य पुत्र को पाकर, वियोगी मनुष्य स्त्री को पाकर, नेत्र से रहित (अन्धा) मनुष्य नेत्र को पाकर, रोगी मनुष्य नीरोगता को पाकर और निर्धन मनुष्य निधि को पाकर हर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार वह व्रत से रहित पवनवेग उस व्रत को पाकर अतिशय हर्ष को प्राप्त हुआ।।82।।

फिर वह उन मुनिराज से बोला कि हे साधो! मेरे समान धन्य और दूसरा कोई नहीं है - मैं आज धन्य हुआ हूँ। कारण कि मैंने नरकरूप अन्धकूप में गिरते हुए आज आपकी वाणी का सहारा पा लिया है।।83।। जो मनुष्य केवल आपके उपदेश को सुनता ही है, वह भी अभीष्ट फल को प्राप्त करता है। फिर भला जो एकाग्रचित्त होकर तदनुसार प्रवृत्ति भी करता है, उसके फल के कहने में कौन समर्थ है? अर्थात् वह अवर्णनीय फल को प्राप्त करता है।।84।। जो जन आपके सदुपदेश को पाकर तदनुसार आचरण नहीं करते हैं, वे मनुष्य नहीं हैं - पशुतुल्य ही हैं, यह निश्चित है। उदाहरण के रूप में रत्नों की पृथिवी को पाकर यहाँ पशु ही रत्न को छोड़ते हैं - उसे ग्रहण नहीं करते हैं, मनुष्य वहाँ कभी भी रत्न को नहीं छोड़ते हैं।।85।।

इस प्रकार निर्दोष वचन कहकर उस विद्याधर के पुत्र पवनवेग ने व्रत और समितियों

से संयुक्त ऐसे साधुसमूहों से वेष्टित केवली जिन को विनय के साथ हर्षपूर्वक नमस्कार किया। तत्पश्चात् वह मित्र मनोवेग के साथ विजयार्ध पर्वत पर जा पहुँचा।।86।। पवनवेग को जैन-धर्म से संस्कृत देखकर राजा जितशत्रु के पुत्र उस मनोवेग को अतिशय सन्तोष हुआ। ठीक है, अपने परिश्रम को सफल देखकर किसके अन्त:करण में हर्ष नहीं उत्पन्न होता है? अर्थात् परिश्रम सफल हो जाने पर सभी को हर्ष हुआ करता है।।87।।

तत्पश्चात् रमणीय आभूषणों से विभूषित वे दोनों विद्याधर-पुत्र मन को परस्पर के स्नेह में बाँधकर हर्षपूर्वक सम्यक्त्व, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के भेद से (अथवा सल्लेखना के साथ अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रतरूप) चार प्रकार के निर्मल श्रावकधर्म को धारण करते हुए काल को बिताने लगे।।88।।

अनेक आभूषणों से अलंकृत वे दोनों विद्याधरपुत्र चमकते हुए मणिसमूह से सुशोभित सुन्दर विमान के ऊपर चढ़कर पृथिवी पर मनुष्य लोक में स्थित समस्त जिनालयों के भीतर विराजमान जिनप्रतिमाओं की निरन्तर वन्दना करते हुए गमन करने लगे। वे जिनप्रतिमाएँ श्रेष्ठ इन्द्रों के द्वारा पूजी जाती थीं। (अथवा 'देवराजाविवाच्यौं' ऐसे पाठ की सम्भावना पर 'इन्द्र के समान पूजनीय वे दोनों' ऐसा भी अर्थ हो सकता है)। ठीक है, *निर्मल ज्ञान से संयुक्त (विवेकी) जीव आत्महितरूप आचरण करते हुए कभी उसमें प्रमाद नहीं किया करते हैं।।89।।*

विस्तार को प्राप्त हुई निर्मल कीर्ति से संयुक्त उस पवनवेग ने देवों व मनुष्यों के द्वारा पूजनीय अपने सम्यग्दर्शन को अनायास दो दिन में ही इस प्रकार चन्द्रमा के समान धवल (निर्मल) कर लिया जिस प्रकार कि विस्तृत कीर्ति से सुशोभित अमितगति (आचार्य) ने अपने इस निर्दोष काव्य को - धर्मपरीक्षा ग्रन्थ को - अनायास दो महीने में कर लिया।।90।।

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा में बीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।20।।

अर्हन्त बनो, तुम सिद्ध बनो, निर्ग्रन्थ दिगम्बर सन्त बनो
चिर मंगल मुक्तिविधान करो, चैतन्य सुधारस पान करो

प्रशस्ति

आगमरूप समुद्र के पारगामी, माथुर संघ के मुनिजनों में श्रेष्ठ एवं क्रोधादिक कषायों के नष्ट करने में अतिशय पटु ऐसे श्री वीरसेन नाम के एक श्रेष्ठ आचार्य हुए।।1।।

उनके पश्चात् समस्त अज्ञानरूप अन्धकार की स्थिति को नष्ट करने वाले देवसेन सूरि उनसे इस प्रकार आविर्भूत हुए जिस प्रकार कि स्थिर पूर्व शैल से – उदयाचल से – सूर्य आविर्भूत होता है। उक्त सूर्य यदि समस्त बाह्य अन्धकार को नष्ट करता है तो वे देवसेन सूरि प्राणियों के अन्त:करण में स्थित अज्ञानरूप अन्धकार के नष्ट करने वाले थे, सूर्य यदि बाह्य तेज से परिपूर्ण होता है तो वे तप के प्रखर तेज से संयुक्त थे, जिस प्रकार लोक को प्रकाश सूर्य दिया करता है उसी प्रकार वे भी जनों को प्रकाश – ज्ञान – देते थे, सूर्य जहाँ दोषा को (रात्रि को) नष्ट करने के कारण अपास्तदोष कहा जाता है वहाँ वे समस्त दोषों को नष्ट कर देने के कारण अपास्तदोष विख्यात थे, तथा जैसे सूर्य शिष्ट – प्रतिष्ठित – व लोगों को प्रिय है वैसे ही वे भी शिष्ट – प्रतिष्ठित सत्पुरुष – व लोगों को प्रिय थे; इस प्रकार वे सर्वथा सूर्य की समानता को प्राप्त थे।।2।।

उक्त देवसेन सूरि से उनके शिष्यभूत अमितगति आचार्य (प्रथम) इस प्रकार से प्रादुर्भूत हुए जिस प्रकार कि सूर्य से दिन प्रादुर्भूत होता है – जिस प्रकार दिन समस्त पदार्थों के समूह को प्रकट दिखलाता है, उसी प्रकार वे अमितगति आचार्य भी अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करते थे, दिन यदि बाह्य मल से रहित होता है तो वे पापमल से रहित थे, तथा दिन जहाँ कमल समूह को विकसित किया करता है वहाँ वे अपने सदुपदेश के द्वारा समस्त भव्य–जीवरूप कमल–समूह को प्रफुल्लित करते थे।।3।।

अमितगति से उनके शिष्यभूत नेमिषेण आचार्य शंकर के समान प्रादुर्भूत हुए – जिस प्रकार शंकर (महादेव) प्रमथादि गणों के नायक हैं उसी प्रकार वे नेमिषेण अपने मुनिसंघ के नायक थे, शंकर यदि पवित्र वृष – बैल – के ऊपर अधिष्ठित हैं तो वे पवित्र वृष – धर्म – के ऊपर अधिष्ठित थे, शंकर ने यदि अपने तीसरे नेत्र से प्रादुर्भूत अग्नि के द्वारा कामदेव को नष्ट किया था तो उन्होंने आत्म–पर के विवेक द्वारा उस कामदेव को –

विषयवासना को – सर्वथा नष्ट कर दिया था, समाधि के संरक्षण में जैसे शंकर तत्पर रहते थे वैसे वे भी उस समाधि के संरक्षण में तत्पर रहते थे, तथा शंकर जहाँ प्रमथादिगणों के द्वारा पूजे जाते थे वहाँ वे मुनिगणों के द्वारा पूजे जाते थे।।4।।

उनके जो माधवसेन शिष्य हुए वे क्रोध का निरोध करने वाले, शम (राग-द्वेष की उपशान्ति) और दम (इन्द्रियनिग्रह) के धारक, [प्रकृष्ट नम्रतारूप रस से युक्त], गर्वरूप पाषाण के भेत्ता, मुनियों में श्रेष्ठ व काम के घातक थे।।5।। उनके शिष्यों में श्रेष्ठ अमितगति आचार्य (द्वितीय) हुए जो अतिशय पटु होकर अपनी बुद्धि के तेज को नयों में प्रवृत्त करते थे। उन्होंने पाप से पूर्णतया रक्षा करने वाली धर्म की परीक्षास्वरूप इस प्रमुख **'धर्म परीक्षा'** नामक ग्रन्थ को रचा है।।6।।

आचार्य अमितगति कहते हैं कि मैंने यदि अज्ञानता से इसमें किसी विरोधी तत्व को निबद्ध किया है तो अपने व दूसरों के आगमों के ज्ञाता जन उसे शुद्ध करके ग्रहण करें। कारण कि लोक में जो तीव्र-बुद्धि होते हैं वे क्या 'यह श्रेष्ठ है और यह श्रेष्ठ नहीं है' ऐसा जानकर छिलके को दूर करते हुए ही धान्य को नहीं ग्रहण किया करते हैं? अर्थात् वे छिलके को दूर करके ही उस धान्य को ग्रहण करते देखे जाते हैं।।7।।

पुरानी रचना सुखप्रद होती है और नवीन रचना सुखप्रद नहीं होती है, इस प्रकार विद्वानों को कभी नहीं कहना चाहिए। कारण कि लोक में फलों की उत्पत्ति में वृक्षों के फल क्या अधिक रमणीय नहीं होते हैं? अर्थात् उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाले वे फल अधिक रुचिकर ही होते हैं।।8।। चूँकि यह ग्रन्थ पुराणों से – महाभारत आदि पुराणग्रन्थों के आश्रय से – उत्पन्न हुआ है, अत: पुराण को छोड़कर इसे ग्रहण करना योग्य नहीं है; यह कहना भी समुचित नहीं है। देखो, सुवर्णपाषाण से निकला हुआ सुवर्ण क्या मनुष्य के लिए अतिशय मूल्यवान् नहीं प्रतीत होता है? अर्थात् वह उस सुवर्णपाषाण से अधिक मूल्यवाला ही होता है।।9।।

इस ग्रन्थ में जो मैंने अन्य शास्त्रों के अभिप्राय का विचार किया है, वह न तो अपनी बुद्धि के अभिमानवश किया है और न पक्षपात के वश होकर भी किया है। मेरा यह परिश्रम तो केवल मोक्ष-सुख के दाता यथार्थ धर्म की परीक्षा करने के लिए उदित हुआ है।।10।। *विष्णु और शंकर आदि ने न कुछ अपहरण किया है और न जिन भगवान्*

ने प्रार्थी जनों को कुछ दे भी दिया है, जिससे कि मैं उक्त विष्णु आदिकों का निषेध करके जिन भगवान् की स्तुति कर रहा हूँ। अर्थात् विष्णु आदि ने न मेरा कुछ अपहरण किया और न जिन भगवान् ने मुझे कुछ दिया भी है। *फिर भी मैंने जो विष्णु आदि का निषेध करके जिन भगवान् की स्तुति की है वह भव्य जीवों को समीचीन धर्म में प्रवृत्त कराने की इच्छा से ही की है।* सो ठीक भी है, *कारण कि विद्वान् जन निरर्थक कार्य को नहीं किया करते हैं।।11।।*

जो सत्पुरुष आत्मकल्याण के इच्छुक हैं, वे नरकादि दुर्गति में प्रवृत्त कराने वाले मार्ग को छोड़कर उत्तम देवादि गति में प्रवृत्त कराने वाले सन्मार्ग का आश्रय लें। परिणाम इसका यह होगा कि नरकादि दुर्गति में जाने वाले प्राणियों को जो वहाँ समस्त शरीर को सन्तप्त करने वाला महान् दुःख दीर्घ काल तक – कई सागरोपम पर्यन्त – हुआ करता है वह उनको नहीं हो सकेगा।।12।। *जो प्राणी हितकर मार्ग के दिखलाने पर भी उसे नहीं ग्रहण करते हैं, वे आगे – भविष्य में – अनेक प्रकार के दुःख को प्राप्त करते हैं।* जो कुमार्ग में स्थित हुआ प्राणी रोकने पर भी व्यवस्थित नहीं होता है – उसे नहीं छोड़ता है – वह भविष्य में खेद को प्राप्त होता है (अथवा जो कुमार्गस्थ प्राणी रोकने पर उसमें स्थित नहीं रहता है, वह भविष्य में खेद को नहीं प्राप्त होता है)।।13।।

आचार्य अमितगति कहते हैं कि मेरा यह कथन यद्यपि प्रारम्भ में कठोर प्रतीत होगा, फिर भी वह भविष्य में निश्चित ही उत्कृष्ट सुख देगा। ठीक भी है, कडुवी औषध का सेवन करने पर क्या वह परिपाक समय में अभीष्ट सुख को – नीरोगता–जनित आनन्द को – नहीं दिया करती है? अवश्य दिया करती है।।14।। हे विद्वज्जनो! मैंने जो यह कहा है उसे जानकर आप लोग ग्रहण कर लें, ग्रहण कर लेने के पश्चात् उसकी उत्तमता या अनुत्तमता को आप स्वयं निश्चित जान लेंगे। जैसे – मिश्री आदि किसी वस्तु के रस का बोध कराने पर उसे मनुष्य सैकड़ों प्रकार से जान तो लेते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष में उन्हें उसका अनुभव नहीं होता है – वह अनुभव उन्हें उसको ग्रहण करके चखने पर ही प्राप्त होता है।।15।।

जिसके अन्तःकरणरूप भवन के भीतर मिथ्यात्वरूप अन्धकार को नष्ट करने वाला जिनेन्द्र का मतरूप भास्वर दीपक जलता रहता है, वह समस्त कलंक से रहित – निर्मल –

कीर्ति को प्राप्त करता है तथा विद्वानों को सम्मत निर्दोष वस्तुस्वरूप को जान लेता है।।16।। जो भव्य प्राणी अपने और दूसरों के आगम में प्ररूपित वस्तुस्वरूप के ज्ञापक इस पवित्र शास्त्र को भक्तिपूर्वक वाचन करता है, पढ़ता है और एकाग्रचित्त होकर सुनता है, वह केवलज्ञानरूप नेत्र से संयुक्त होकर समस्त तत्त्व का ज्ञाता-द्रष्टा होता हुआ देवों के द्वारा पूजा जाता है और अन्त में मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।।17।।

अन्त में आचार्य अमितगति आशीर्वाद के रूप में कहते हैं कि निर्बाध सुख को देने वाला जैन धर्म लोक में सब विघ्न-बाधाओं से रहित होता हुआ निरन्तर प्रभावशाली बना रहे, जन समुदाय शान्ति को प्राप्त हो, राजा लोग नीतिपूर्वक पृथिवी का पालन करें, मुनिजन संयम व नियमरूप बाणों के द्वारा कर्मरूप शत्रु-समूह को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त हों तथा सब ही प्राणी अज्ञानभाव को नष्ट कर अपने हित में तत्पर होवें।।18।। जिस प्रकार उत्तम स्तनों की धारक व मछली के समान नेत्रों वाली स्त्रियाँ मधुर सम्भाषणपूर्वक भुजाओं से पति का आलिंगन किया करती हैं, उसी प्रकार उत्तम जल की धारक व मछलियों रूप नेत्रों से संयुक्त समुद्र की स्त्रियाँ - नदियाँ - जब तक कोलाहलपूर्वक अपनी लहरोंरूप भुजाओं के द्वारा समुद्र का आलिंगन करती रहेंगी - उसमें प्रविष्ट होती रहेंगी, तब तक यह निर्मल शास्त्र पृथिवी पर अवस्थित रहे व धर्म-अधर्म का विचार करने वाले विद्वान् उसका हर्षपूर्वक निरन्तर व्याख्यान करते रहें।।19।।

अन्य मतों का निषेध करके जैनधर्म का प्रतिपादन करने वाला यह धर्मपरीक्षा नामक शास्त्र विक्रम राजा की मृत्यु से सत्तर अधिक एक हजार वर्ष (वि.सं. 1070) में समाप्त हुआ।।20।।

।।इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षा ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ।।

परिशिष्ट

समाधिमरण का स्वरूप

अब यहाँ अपने इष्टदेव को नमस्कार कर अंतिम समाधिमरण के स्वरूप का वर्णन करते हैं। जिसे हे भव्य! तू सुन, पहले उसके लक्षण का वर्णन करते हैं।

समाधि निःकषाय शान्त परिणामों को कहते हैं। आगे और विशेष कथन करते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुषों का तो यह सहज स्वभाव ही है कि वे समाधिमरण ही को चाहते हैं, उनके निरन्तर ऐसी ही भावना रहती है। मरण का अवसर आने पर वे इसप्रकार सावधान होते हैं, मानो सोये हुए सिंह को किसी पुरुष ने ललकारा हो। हे सिंह! अपना पुरुषार्थ कर, तुझ पर दुश्मन की सेना आ रही है, अतः शीघ्र गुफा के बाहर निकल। जब तक बैरियों का समूह दूर है, तब तक निकलकर बैरियों की सेना को जीत ले। महन्त पुरुषों की यही रीति है।

उठते ही पहले उधर (सामने) से ऐसे वचन सुनकर शार्दूल सिंह तत्काल उठा तथा ऐसी गुंजार की (गरजा) कि मानो आषाढ़ के माह में इन्द्र ही गरजा हो। सिंह की ऐसी गरज सुनकर बैरियों की फौज में जो हाथी घोड़े थे वे काँपने लगे तथा आगे पैर नहीं बढ़ाया। कैसा है हाथियों का समूह? हाथियों के हृदय में सिंह का आकार घुस गया है, जिससे हाथी अब धीरज नहीं रख पा रहे हैं? कैसा धीरज नहीं रख पा रहे हैं? क्षण-क्षण में नीहार कर रहे हैं, उनसे सिंह का पराक्रम सहा नहीं जा रहा है।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी पुरुषरूपी शार्दूल सिंह, अष्ट कर्मरूपी बैरी जो मरण समय विषयों के विशेषपने से (सम्यग्ज्ञानी को) जीतने का उद्यम कर रहे थे, ऐसे कर्मों को आया जानकर सिंह की ही भाँति सावधान होते हैं, कायरपने को दूर से ही छोड़ते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुष कैसे हैं? उनके हृदय में आत्मस्वरूप देदीप्यमान प्रकट प्रतिभासित हो रहा है। कैसा प्रतिभासित हो रहा है? ज्ञान-ज्योति को लिये आनन्दरस से झरता हुआ साक्षात् पुरुषाकार अमूर्तिक चैतन्य का घनपिंड, अनन्त गुणों से पूरित चैतन्य देव मैं हूँ, ऐसा जानते हैं। उनको (अपने चैतन्य स्वरूप के) अतिशय से परद्रव्यों में रंच मात्र भी राग नहीं होता है। क्यों नहीं होता है?

अपने निजस्वरूप को वीतराग, ज्ञाता-दृष्टा, परद्रव्यों से भिन्न, शाश्वत, अविनाशी जाना है, तथा उसके अतिशय से पर द्रव्यों का (स्वभाव) गलना-बनना, क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भली प्रकार भिन्न अच्छी तरह जाना है। अतः सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण से क्यो डरें? इस ही कारण सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण के अवसर पर क्या भावना भाते हैं तथा क्या विचार करते हैं?

ऐसा जानते हैं कि अब शरीर का आयुबल अल्प रह गया है, यह चिह्न मुझे प्रतिभासित हो रहे हैं, अतः मुझे सावधान होना उचित है, विलम्ब करना उचित नहीं है। जैसे सुभट रण-भेरी बजने के बाद दुश्मनों पर चढ़ने में क्षण भर की भी देर नहीं करता, उसे वीर-रस चढ़ जाता है। मैं कब जाकर बैरियों से भिडूँ तथा कब उन बैरियों को जीतूँ, ऐसा जिसका अभिप्राय जाग रहा है।

उसीप्रकार अब मुझे भी काल को जीतने का अभिप्राय है। इसलिए हे परिवार, कुटुम्ब बन्धुओ! आप सुनो, अहो देखो इस पुद्गल पर्याय का चारित्र, जो आँखों देखते उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार अब विनश जायेगा। मैं तो पहले ही इसका स्वभाव विनाशशील जानता था। अब यह अवसर प्राप्त हुआ है। अब इस शरीर की आयु तुच्छ रह गई है, उसमें भी यह क्षण-क्षण गलता (क्षीण होता) जा रहा है, इसे मैं ज्ञाता-दृष्टा हुआ देख रहा हूँ।

मैं इसका पड़ोसी हूँ, अतः पड़ोसी की ही भाँति देख रहा हूँ कि शरीर का आयुबल कैसे पूर्ण होता है तथा शरीर का कैसे नाश होता है? उसे मैं दर्शक बना टकटकी लगाकर देख रहा हूँ तथा इसका चारित्र (स्वरूप-स्वभाव) देखता हूँ। अनन्त पुद्गल परमाणुओं ने एकत्रित होकर इस पर्याय को उत्पन्न किया है, बनाया है। शरीर इनसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं है। मेरा स्वरूप तो एक चैतन्य स्वभाव शाश्वत अविनाशी है तथा उसकी महिमा अद्भुत है, मैं किसको बताऊँ? देखो, इस पुद्गल पर्याय का माहात्म्य कि अनन्त परमाणुओं का एक-सा परिणमन इतने दिनों तक रहा, यह बड़ा आश्चर्य है। अब ये पुद्गल परमाणु भिन्न-भिन्न अन्य-अन्य स्वभावरूप परिणमन करने लगें तो यह आश्चर्य नहीं है।

जैसे लाखों पुरुष एकत्रित होकर मेला नाम की पर्याय बनाते हैं, कुछ दीर्घकाल पर्यन्त वह मेला पर्याय रहती है, उसका आश्चर्य होता है कि इतने दिनों लाखों मनुष्यों का

परिणमन एक-सा (कैसे) रहा, इसका विचार कर देखने वाले पुरुष को आश्चर्य होता है। फिर वे मनुष्य भिन्न-भिन्न दसों दिशाओं में चले जाते हैं, तब मेले का नाश होता है। इतने पुरुषों का भिन्न-भिन्न परिणमन होना तो स्वभाव ही है, इसमें आश्चर्य कैसा?

इसीप्रकार अब यह शरीर अन्य प्रकार परिणम रहा है तो अब यह स्थिर कैसे रहेगा? अब इस शरीर पर्याय को रखने में कोई समर्थ नहीं है। वही कहते हैं - त्रिलोक में जितने भी पदार्थ हैं वे अपने-अपने स्वभावरूप परिणमन करते हैं, कोई किसी अन्य को परिणमन नहीं कराता, कोई किसी का कर्त्ता नहीं है तथा कोई किसी का भोक्ता भी नहीं है। स्वयं आते हैं, स्वयं जाते हैं, स्वयं मिलते हैं, स्वयं बिछुड़ते हैं, स्वयं गलते हैं, स्वयं बनते हैं, अतः मैं इनका कर्त्ता, भोक्ता कैसे? मेरे रखने की चेष्टा से यह शरीर कैसे रहेगा तथा मेरे दूर करने से यह शरीर कैसे दूर होगा?

इसमें मेरा कोई कर्तव्य है ही नहीं, झूठ ही अपने को कर्त्ता मानता था, जिसके कारण मैं अनादि काल से खेद-खिन्न, आकुल होकर महादुःख पाता था। यह बात तो न्याय संगत ही है कि जिसका किया तो कुछ हो नहीं, वह पर का कर्त्ता कैसे हो? परद्रव्य को अपनी इच्छा के अनुसार परिणमाना चाहे तो दुःख ही होगा, क्योंकि परद्रव्य तो अपने स्वभाव के अनुसार परिणमेगा, इसकी इच्छा के अनुसार तो परिणमेगा नहीं, तब दुःख ही होगा।

इसलिये मैं तो केवल मेरे एक ज्ञायक स्वभाव का ही कर्त्ता हूँ तथा उसी का भोक्ता हूँ, उसी का वेदन करता हूँ, उसी का अनुभव करता हूँ। इस शरीर के चले जाने से मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं है तथा शरीर के रहने से भी मुझे कुछ लाभ नहीं है। इस शरीर में जो जानपनेरूप चमत्कार है, वह तो मेरा स्वभाव है, इस शरीर का स्वभाव नहीं है। शरीर तो प्रत्यक्ष मुर्दा है, मेरे इस शरीर में से निकलते ही इस शरीर को मुर्दा जानकर जला दिया जावेगा। मेरे कारण ही जगत इस शरीर का आदर करता है। जगत को इसका ज्ञान नहीं की आत्मा तो अलग है तथा शरीर अलग है। इस अज्ञान के कारण ही जगत भ्रम बुद्धि से इस शरीर को अपना जानकर इसमें ममत्व करता है, इसके जाने पर बहुत दुःखी होता है, बहुत शोक करता है। क्या शोक करता है?

हाय! हाय! मेरा पुत्र तू कहाँ गया? हाय! हाय! मेरा पति तू कहाँ गया? हाय!

हाय! पुत्री तू कहाँ गयी? हाय! हाय! माता तुम कहाँ गयी? हाय! हाय! पिता तू कहाँ गया? हाय! हाय! इष्ट भ्राता तू कहाँ गया? इत्यादि अनेक प्रकार विरह का विलाप करके अज्ञानी जीव इस पर्याय को सत्य जानकर विलाप करता है तथा महादुःख और क्लेश पाता है।

ज्ञानी पुरुष इस प्रकार विचार करता है – अहो! किसका पुत्र, किसकी स्त्री, किसका पति, किसकी पुत्री, किसकी माता, किसका पिता, किसकी हवेली, किसका मंदिर, किसका धन, किसका माल, किसके आभूषण, किसके वस्त्र इत्यादि सारी साम्रगी दिखती तो बहुत रमणीक-सी है, परन्तु वस्तु-स्वभाव को विचारने से किसी के कुछ भी नहीं हैं। जो वस्तु सारभूत होती तो वह स्थिर रहती, नाश को क्यों प्राप्त होती? अतः मैं ऐसा जानकर सर्व लोक में पुद्गल की जितनी पर्यायें हैं उनका ममत्व छोड़ता हूँ तथा उसीप्रकार इस शरीर का भी ममत्व छोड़ता हूँ। शरीर के जाने का मेरे परिणामों में अंश मात्र भी खेद नहीं है। ये शरीर आदि जो-जो सामग्री हैं वे चाहे जैसे परिणमन करें, मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। चाहे ये छीजें, चाहे भीजें, चाहे प्रलय को प्राप्त हों, चाहे अब आ मिलें, चाहे जाती रहें, मुझे कुछ भी मतलब नहीं है।

देखो! मोह का प्रत्यक्ष स्वभाव, ये सब वस्तुएँ पर हैं तथा विनाशीक भी हैं, परभव में तथा इस भव में दुःखदायी हैं, फिर भी यह संसारी जीव इन्हें अपनी जानकर इनकी रक्षा ही करने की चेष्टा करता है। मैं तो इनका ऐसा परिणमन देख कर ज्ञाता-द्रष्टा हुआ हूँ। मेरा तो एक ज्ञान-स्वभाव है, उस ही का अवलोकन करता हूँ। मृत्यु का आगमन देखकर मैं डरता नहीं हूँ। काल तो इस शरीर का होगा, मेरा नहीं। जैसे मक्खी दौड़-दौड़ कर मिष्ट आदि वस्तुओं पर ही जा कर बैठती है, अग्नि पर कभी नहीं बैठती; वैसे ही यह मृत्यु दौड़-दौड़ कर शरीर ही का भक्षण करती है, मुझ से दूर ही भागती है।

मैं तो अनादी काल का अविनाशी चैतन्यदेव लोक द्वारा पूज्य ऐसा पदार्थ हूँ, जिसपर काल का जोर चलता नहीं है। अतः अब कौन मरेगा, कौन जियेगा, कौन मरण का भय करे। मुझे तो मरण दिखता नहीं है। जो मरेगा, वह तो पहले ही मरा (जड़) था; तथा जो जीता है, वह पहले से ही जीता था, वह कभी मरेगा नहीं। मोह के कारण अन्यथा भासित होता था, सो अब मेरा मोहकर्म नष्ट हो गया है, इसलिये जैसा वस्तु का

स्वभाव है वैसा ही मुझे प्रतिभासित हो रहा है। उसमें जन्म-मरण तथा सुख-दुःख कुछ दिखते नहीं है, अतः अब मैं क्यों सोच करूँ? मैं तो एक चैतन्य धातुमय मूर्ति सदा शाश्वत बना हूँ, उसका अवलोकन करते मरण आदि का दुःख कैसे व्याप्त हो सकेगा?

मैं और कैसा हूँ? ज्ञानानन्द निजरस से पूर्ण हूँ, शुद्धोपयोगी हूँ, ज्ञानरस का आचमन करता हूँ। ज्ञान-अंजुलि के द्वारा शुद्धामृत का पान करता हूँ। यह निज शुद्धामृत मेरे स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है, अतः स्वाधीन है, पराधीन नहीं है अतः इसके भोग में कुछ भी परेशानी नहीं हैं। मैं और कैसा हूँ?

अपने निजस्वभाव में स्थित हूँ, अडोल हूँ, अकंप हूँ। स्वरस के अतिशयरूप से भरा हूँ तथा ज्वलित अर्थात् देदीप्यमान ज्ञानज्योति से प्रकट अपने ही निजस्वरूप में स्थित हूँ। देखो! इस चैतन्यस्वरूप की अद्भुत महिमा जिसके ज्ञानस्वभाव में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव आकर झलकते हैं, पर वह ज्ञानस्वभाव ज्ञेयरूप नहीं परिणमित होता है [जानने में पर नहीं आता]। उसको जानते हुए भी अंश मात्र भी विकल्पता नहीं होती है, अतः निर्विकल्प, अभोगित, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित होने से उससे जो अखंड सुख उत्पन्न होता है, वैसा सुख संसार में दुर्लभ है। अज्ञानी जीव को तो सुख का आभास मात्र है।

मैं और कैसा हूँ? ज्ञानादि गुणों से भरपूर हूँ। उन गुण आदि से गुणमय एक वस्तु हूँ अथवा अनन्त गुणों की खान हूँ। और कैसा हूँ? मेरा चैतन्य स्वरूप ही जहाँ-तहाँ सर्वांग में व्याप्त है। जिस प्रकार नमक की डली में नमक (खारापन) व्याप्त होता है अथवा शक्कर (मिश्री) की डली में सर्वत्र मीठापन व्याप्त होता है अथवा जैसे शक्कर की कणिका में अकेला एक अमृत ही व्याप्त होता है, वैसे ही मैं भी एक ज्ञान का बना हुआ पिंड हूँ।

मेरे सर्वांग में ज्ञान ही ज्ञान का पुंज है तथा इसी प्रकार मानो शरीर का निमित्त पाकर शरीर के आकाररूप मेरा ही आकार है तथा वस्तु द्रव्य-स्वभाव को विचारने पर तीन लोक प्रमाण मेरा आकार है। अवगाहना शक्ति के कारण वर्तमान आकार में इसका आकार ही समा गया है। एक-एक प्रदेश में असंख्यात प्रदेश भिन्न-भिन्न स्थित हैं। सर्वज्ञदेव ने इसीप्रकार अलग-अलग देखे हैं। इनमें संकोच-विस्तार की शक्ति है।

मेरा निज स्वरूप और कैसा है? अनन्त आत्मिक सुख का भोक्ता है, केवल सुख

की ही मूर्ति है, चैतन्य पुरुषाकार है। जिस प्रकार मिट्टी के साँचे (शुद्ध रूपा अर्थात् चाँदी डालकर) एक शुद्ध चाँदीमय धातु का पिंडरूप बिम्ब बनाया जाता है, उसी प्रकार शरीर में आत्माकार स्वभाव से ही जानना। मिट्टी का साँचा समय पाकर गल जावे अथवा नष्ट हो जावे, फूट जावे तब भी वह बिम्ब ज्यों का त्यों रह जाता है, बिम्ब का नाश होता नहीं। दो वस्तुएँ (आत्मा और शरीर) पहले से ही भिन्न-भिन्न थीं, एक का नाश होने पर दूसरी का नाश कैसे हो? ऐसा नित्य नियम है।

उसी प्रकार शरीर काल पाकर गले तो गलो, मेरे स्वभाव का तो विनाश है नहीं। मैं किस बात का सोच करूँ? यह चैतन्यस्वरूप आकाशवत् निर्मल से भी निर्मल है। जैसे आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं है, वह तो एक शुद्ध निर्मलता का पिंड है। यदि कोई आकाश को खड्ग से छेदना चाहे अथवा अग्नि से जलाना चाहे अथवा जल से गलाना चाहे तो वह आकाश छेदा-भेदा नहीं जा सकता। कुछ भी जलो, कुछ भी गलो, किसी भी प्रकार उस आकाश का नाश नहीं है। कोई आकाश को पकड़ना चाहे तथा तोड़ना चाहे तो वह आकाश कैसे पकड़ा अथवा तोड़ा जा सकता है।

उसी प्रकार मैं भी आकाशवत् अमूर्तिक, निर्मल, निर्विकार, अकेला, निर्मलता का एक पिंड हूँ, मेरा किसी भी प्रकार से नाश होता नहीं, हो सकता नहीं, यह नियम है। यदि आकाश का नाश हो सकता हो तो मेरा नाश हो, ऐसा जानना। पर आकाश के स्वभाव में तथा मेरे स्वभाव में एक विशेष अन्तर है। आकाश तो जड़ अमूर्तिक पदार्थ है तथा मैं चैतन्य अमूर्तिक पदार्थ हूँ। मैं चैतन्य हूँ तभी तो यह विचार पाया कि यह आकाश जड़ है तथा मैं चेतन हूँ। मुझमें यह जानपने का गुण प्रगट विद्यमान दिखाई देता है पर आकाश में तो यह गुण दिखाई देता नहीं है, यह निःसंदेह है।

मैं और कैसा हूँ? जिस प्रकार दर्पण स्वच्छ शक्ति का पिंड है, उसकी स्वच्छ शक्ति उसकी स्वच्छता स्वयमेव ही है जिससे घट-पट आदि पदार्थ उसमें झलकते हैं, दर्पण पदार्थों को स्वयमेव झलकाता है, उसी प्रकार शुद्धात्मा में भी ऐसी स्वच्छ शक्ति व्याप्त होकर स्वभाव में स्थित है। सर्वांग में एक शुद्धता स्वच्छता भरी हुई है। पर स्वच्छता अलग है तथा ज्ञेय पदार्थ अलग हैं। स्वच्छ शक्ति का यह स्वभाव है कि उसमें पदार्थों का प्रतिबिम्ब आ ही जाता है [जानने में परपदार्थों का प्रवेश नहीं है]।

मैं और कैसा हूँ? अनन्त अतिशय से निर्मल साक्षात् ज्ञानपुंज बना हूँ तथा अत्यन्त शान्तरस से पूर्ण भरा हूँ, एक अभेद निराकुलता से व्याप्त हूँ। मेरा चैतन्य स्वरूप और कैसा है? अपनी अनन्त महिमापूर्वक विराजमान है, किसी की सहायता की आवश्यकता ही नहीं है, ऐसे स्वभाव को धारण किये हुए स्वयंभू हूँ। मेरा स्वभाव एक अखंड, ज्ञानमूर्ति, पर-द्रव्य से भिन्न, शाश्वत अविनाशी परमदेव ही है। इससे उत्कृष्ट देव किसे मानूँ? यदि तीन लोक में कोई ऐसा हो तो मानूँ।

यह ज्ञान स्वभाव और कैसा है? अपने स्वरूप को छोड़कर अन्यरूप नहीं परिणमित होता है, निज स्वभाव की मर्यादा को नहीं छोड़ता है। जैसे समुद्र जलराशि से भरा है, पर अपने स्वभाव (अपनी मर्यादा) को छोड़कर आगे गमन नहीं करता है, फिर भी अपनी तरंगावलीरूपी लहरों द्वारा अपने स्वभाव (मर्यादा) में ही भ्रमण करता है। उसी प्रकार यह ज्ञान-समुद्र शुद्ध परिणति की तरंगों सहित अपने सहज स्वभाव में भ्रमण करता है।

ऐसी अद्भुत महिमापूर्वक विराजमान मेरा स्वरूप-परमदेव इस शरीर के भीतर शरीर से भिन्न अनादि काल से स्थित है। मेरा तथा इस शरीर का पड़ौसी जैसा सम्बन्ध है। मेरा स्वभाव अन्य प्रकार तथा इसका परिणमन अन्य प्रकार है। अब यह शरीर गलन स्वभावरूप परिणम रहा है तो मैं क्यों सोच (चिंता) करूँ, क्यों दुःखी होऊँ? मैं तो तमाशा देखनेवाला दर्शकरूप से स्थित हूँ।

मुझे इस शरीर से राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेष जगत में निंद्य हैं, परलोक में महादुःखदायी हैं तथा ये राग-द्वेष हैं वे मोह के कारण ही उत्पन्न होते हैं। जिसके मोह का नाश हो गया है उसके राग-द्वेष का भी नाश हो गया। मोह के कारण ही पर-द्रव्य में अहंकार-ममकार उत्पन्न होते हैं। 'ये पर-द्रव्य हैं वे मैं ही हूँ', ऐसा तो अहंकार तथा 'ये द्रव्य मेरे हैं' ऐसा ममकार उत्पन्न होता है। पुनः वे सामग्री चाहने पर तो आती नहीं तथा छोड़ने पर जाती नहीं, इस कारण ही यह आत्मा खेद-खिन्न होता है।

यदि उस समस्त सामग्री को पराये की जानें तो उनके आने-जाने पर विकल्प क्यों करे? मेरे मोह का तो पहले ही भलीभाँति नाश हो चुका है, मैंने तो शरीर आदि सामग्री को पहले ही परायी जानी थी, अतः अब मुझे इस शरीर के जाने का विकल्प काहे को उत्पन्न हो? विकल्प उत्पन्न कराने वाले मोह का तो मैं भलीभाँति नाश कर चुका हूँ। अतः

मैं निर्विकल्प, आन्दमय, निजस्वरूप को बराबर सम्हालता तथा याद करता स्वभाव में ही स्थित हूँ।

यहाँ कोई कहता है – यह शरीर तुम्हारा तो नहीं है, परन्तु इस शरीर के निमित्त से यहीं मनुष्य पर्याय में भली प्रकार शुद्धोपयोग का साधन बनता था, अतः इसका उपकार मानकर इसे रखने का उद्यम बने तो अच्छा है, इसमें हानि तो कुछ है नहीं।

उससे कहते हैं – हे भाई! तुमने जो कहा उसे तो हम भी मानते हैं। मनुष्य पर्याय में शुद्धोपयोग का तथा ज्ञानाभ्यास का साधन होता है एवं ज्ञान–वैराग्य को बढ़ाने इत्यादि अन्य भी अनेक गुणों की वृद्धि होती है; वैसी अन्य पर्याय में दुर्लभ है। अपने संयम आदि गुण रहते शरीर रहे तो भला ही है। मुझे शरीर से कोई बैर तो है नहीं, पर यदि यह नहीं रहता तो अपने संयम आदि गुणों को निर्विघ्नपने रखने के लिये इस शरीर का ममत्व अवश्य छोड़ना चाहिये। शरीर के वश संयम आदि गुणों को कदापि नहीं खोना चाहिए।

जैसे कोई रत्नों का लोभी पुरुष अन्य देश से आकर रत्नद्वीप में फूस की झोपड़ी बनाता है तथा इस झोपड़ी में रत्न ला–लाकर एकत्रित करता है। पर यदि झोपड़ी में आग लग जाये तो वह बुद्धिमान पुरुष ऐसा विचार करता है कि किस प्रकार अग्नि को बुझाया जाकर रत्नों सहित इस झोपड़ी को बचाया जा सकता है? यदि झोपड़ी रहे तो इसके आश्रय से बहुत रत्न एकत्रित करूँगा। इस प्रकार यदि वह पुरुष अग्नि को बुझती जानता है तो रत्नों को रखते हुए उसे बुझाता है। पर यदि कोई ऐसा कारण देखे कि रत्न जाने पर ही झोपड़ी रह सकती है, तो कभी झोपड़ी रखने का प्रयत्न नहीं करता, झोपड़ी को जल जाने देता है तथा आप सम्पूर्ण रत्नों को लेकर उस देश से चला जाता है, वह एक–दो रत्न बेचकर अनेक प्रकार के वैभव भोगता है, अनेक प्रकार के स्वर्णमय–रूपामय महल, मकान, बाग आदि बनवा लेता है तथा कुछ समय उनमें रहकर रंग–राग सुगन्धमय आनन्द क्रीड़ा करते हुए निर्भय हुआ अत्यन्त सुख से रहता है।

उसी प्रकार भेद–विज्ञानी पुरुष हैं वे शरीर के लिए अपने संयम आदि गुणों में अतिचार भी नहीं लगाते हैं। ऐसा विचार करते हैं कि संयम आदि गुण रहेंगे तो मैं विदेह–क्षेत्र में जाकर जन्म लूँगा तथा तीर्थंकर केवली भगवान के चरणारविंद में क्षायिक सम्यक्त्व के प्रारम्भ का निष्ठापन करूँगा तथा पवित्र होकर तीर्थंकर देव के निकट दीक्षा लूँगा। नाना

प्रकार के दुर्धर तपश्चरण ग्रहण करूँगा तथा जन्म-मरण के संचित पापों का अतिशयरूप से नाश करूँगा।

अनेक प्रकार के संयम ग्रहण करूँगा तथा अनेक प्रकार के मनवांछित प्रश्न करूँगा। उन अनेक प्रकार के प्रश्नों के उत्तर सुनकर सर्व पदार्थों का तथा काल का स्वरूप जानूँगा। राग-द्वेष संसार के कारण हैं, उनका शीघ्र अतिशयरूप से जड़-मूल से नाश करूँगा। श्री परम दयालु, आनन्दमय, केवली भगवान, अद्भुत लक्ष्मी से संयुक्त जिनेन्द्रदेव के स्वरूप को देखकर दर्शनरूप अमृत का अतिशयरूप से अर्चन करने से मेरे कर्म-कलंकरूपी रज धो-धाकर मैं पवित्र होऊँगा।

सीमन्धर स्वामी आदि बीस तीर्थंकर तथा बहुत से केवली तथा अनेक मुनिराजों के समूह का दर्शन करूँगा। जिसके अतिशय से शुद्धोपयोग अत्यन्त निर्मल होगा तथा स्वरूप में विशेष लगूँगा एवं क्षपक श्रेणी चढ़ने के सम्मुख होऊँगा। पश्चात् बहुत शक्तिशाली कर्मों के सम्मुख डटा रहकर उन्हें पटक-पटक कर एक-एक को जड़मूल से नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। जिससे एक ही समय में समस्त लोकालोक के त्रिकाल सम्बन्धी चराचर पदार्थ मुझे भी दिखने लगेंगे तथा ऐसा ही स्वभाव फिर शाश्वत बना रहेगा।

मैं जो ऐसी लक्ष्मी का स्वामी हूँ उसे इस शरीर से ममत्व कैसे हो सकता है? सम्यग्ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता रहता है कि मुझे दोनों ही प्रकार आनन्द है, यदि शरीर रहेगा तो फिर शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा तथा यदि शरीर नहीं रहा तो परलोक में जाकर भी शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा। मुझे तो अपने शुद्धोपयोग की आराधना में किसी भी प्रकार विघ्न दिखता नहीं है, तब मेरे परिणामों में क्यों क्लेश उत्पन्न हो?

मेरे परिणाम शुद्ध स्वरूप में अत्यन्त आसक्त हैं; उन्हें चलायमान करने में, छुड़ाने में कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, धरेणन्द्र आदि भी समर्थ नहीं हैं। केवल एक मोह कर्म समर्थ था, उसे मैंने पहले ही जीत लिया है, इसलिए अब तीन काल में भी मेरा कोई शत्रु नहीं रहा तथा न ही मुझे किसी से बैर है। अतः त्रिकाल, त्रिलोक में मुझे दुःख है नहीं। फिर हे सभा के लोगो! मुझे इस मरण का भय कैसे कहते हो? मैं अब सर्व प्रकार से निर्भय हुआ हूँ, आप सभी यह बात भली प्रकार जान लें, इसमें संदेह न करें।

शुद्धोपयोगी पुरुष इस प्रकार शरीर की स्थिति पूर्णरूप से जानता है तथा ऐसे विचार

कर आनन्द से रहता है, उसे किसी प्रकार की आकुलता उत्पन्न नहीं होती। आकुलता ही संसार का बीज है, इस बीज के कारण ही संसार की स्थिति है। आकुलता से बहुत काल के संचित हुए संयम आदि गुण, जैसे अग्नि में रुई भस्म हो जाती है, उस ही प्रकार भस्म हो जाते हैं। अत: जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं उन्हें तो किसी भी प्रकार की आकुलता करना योग्य नहीं है। निश्चयरूप से एक स्वरूप का ही बार-बार विचार करना, उसी के गुणों का चिन्तन करना, उसी की पर्याय की अवस्था का विचार करना, उसी का स्मरण करना, उसी में स्थित रहना योग्य है।

यदि कदाचित् शुद्धस्वरूप से उपयोग चलायमान हो तो ऐसा विचार करना कि यह संसार अनित्य है, इस संसार में कुछ भी सार नहीं है, यदि कुछ सार होता तो तीर्थंकर ही इसे क्यों छोड़ते? अत: अब निश्चय से तो मुझे मेरा स्वरूप ही शरण है, बाह्य में पंचपरमेष्ठी, जिनवाणी अथवा रत्नत्रय धर्म शरण हैं। अन्य कुछ स्वप्न मात्र भूले बिसरे भी मेरे अभिप्राय में मुझे शरण नहीं है, मेरे यह नियम है।

ऐसा विचार कर पुन: स्वरूप में उपयोग को लगाता है तथा फिर भी वहाँ से उपयोग चलायमान हो अथवा हटे तो अरिहन्त, सिद्ध के आत्मिक स्वरूप का अवलोकन करता है एवं उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करता है। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करते-करते जब उपयोग निर्मल हो जाता है तब फिर अपने स्वरूप में लगता है कि मेरा स्वरूप अरिहन्त, सिद्ध के स्वरूप जैसा ही है तथा अरिहन्त, सिद्ध का स्वरूप भी मेरे स्वरूप जैसा ही है।

वह कैसे? द्रव्यत्व स्वभाव में तो अन्तर है ही नहीं, पर्याय स्वभाव में ही अन्तर है, पर मैं तो द्रव्यत्व स्वभाव का ग्राहक हूँ, अत: अरिहन्त का ध्यान करते आत्मा का ध्यान भली प्रकार सधता है, क्योंकि अरिहन्त के स्वरूप में तथा आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है। चाहे तो अरिहन्त का ध्यान करो, चाहे आत्मा का ध्यान करो। ऐसा विचार करते हुये सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधान हुआ स्वभाव में स्थित रहता है।

ममत्व छुड़ाने की प्रक्रिया :- इससे आगे अब क्या विचार करता है तथा कैसे कुटुम्ब परिवार आदि से ममत्व छुड़ाता है वह कहते हैं - अहो! इस शरीर के माता-पिता आप भली प्रकार जानते हैं कि यह शरीर इतने दिन आपका था, अब आपका नहीं है। अब आयुबल पूर्ण हो रहा है वह किसी के रखने से रहेगा नहीं। इसकी इतनी ही स्थिति थी, अत: अब इससे

ममत्व छोड़ें। इससे ममत्व करने से क्या होने वाला है, अब इससे प्रीति करना दु:ख का ही कारण है।

यह शरीर पर्याय तो इन्द्र आदि देवों का भी विनाशशील है, इसका मरण (अन्त) आता है तब इन्द्र आदि देव भी बार-बार मुँह देखते रह जाते हैं। सब देव-समूह को देखते-देखते ही काल-किंकर इसे उठा ले जाता है। यह किसी की भी शक्ति नहीं कि काल की दाढ़ में से छुड़ाकर क्षण-मात्र भी इसे रख ले। यह काल-किंकर एक-एक को ले जाकर सब का भक्षण करेगा। जो अज्ञान के कारण काल के वश रहेंगे, उनकी यही गति होगी। आप सब मोह के वश होकर पराये (यहाँ मेरे) शरीर में ममत्व कर रहे हैं तथा इसे रखना चाहते हैं, आपको मोह के वश संसार का झूठा चरित्र (नाशशील परिणमन) दिख नहीं रहा है। अन्य के शरीर को रखना तो दूर रहा, आप पहले अपने शरीर को तो रखें, फिर अन्य के शरीर को रखने का उपाय करना।

आप की यह भ्रम बुद्धि है वह व्यर्थ ही दु:ख देने के लिये ही है। आपको यह प्रत्यक्ष दिख नहीं रहा है कि आज से पहले इस संसार में काल ने किसको छोड़ा है जो अब किसी को छोड़ेगा। इसलिए हाय! देखो यह कैसे आश्चर्य की बात है कि आप लोग काल से निर्भय हुए हैं। यह आप लोगों का क्या अज्ञानपना है, आप लोगों का क्या होनहार है, वह मैं नहीं जानता। अत: आप से ही पूछता हूँ। आप को आपा-पर (स्व-पर) का कुछ विवेक है या नहीं?

मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मैं यह पर्याय पूर्ण कर कहाँ जाऊँगा? तथा जिन पुत्र आदि से (आपको) प्रीति है वे कौन हैं? इतने दिनों हमारा (आपका) पुत्र कहाँ था, अब हमें (आपको) ममता बुद्धि हुई है, उसके वियोग का हमें (आपको) शोक उत्पन्न हुआ है? अत: आप सब सावधान होकर विचार करें तथा भ्रम रूप न रहें। आप तो अपना स्वयं का कार्य विचारेंगे तब सुख पावेंगे। पर (दूसरे) का कार्य-अकार्य तो दूसरे के हाथ में है, उसमें आपका कुछ भी कर्तव्य नहीं है। आप व्यर्थ ही क्यों खेद-खिन्न होते हैं? मोह के वश होकर अपने आप (स्वयं) को संसार में क्यों डुबाते हैं?

संसार में नरक आदि के दु:ख आपको स्वयं को ही सहने होंगे। आपके किये (कर्मों अथवा मोह का फल) अन्य तो कोई सहेगा नहीं। जिनधर्म का ऐसा तो कोई उपदेश

(सिद्धान्त-मान्यता) है नहीं कि करे कोई तथा भोगे कोई दूसरा। अत: मुझे तो आप पर उल्टी दया आती है, आप मेरा उपदेश ग्रहण करें, मेरा उपदेश आपको महासुखदायी है। कैसे सुखदायी है? वह बताते हैं - मैंने तो यथार्थ जिनधर्म का स्वरूप जाना है तथा आपने जाना नहीं है, अत: आपको यह मोह दु:ख दे रहा है। मैंने जिनधर्म के प्रताप से भली प्रकार मोह को जाना है, जिसे एक जिनधर्म का ही अतिशय जानें। अत: आपको भी जिन धर्म का स्वरूप विचारना ही कार्यकारी है।

देखो! आप प्रत्यक्ष ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा हैं तथा शरीर आदि पर (अन्य-भिन्न) वस्तुएँ हैं। सब अपने स्वभावरूप स्वयं परिणमन करती हैं, किसी के रखे रहती नहीं। भोले जीवों की बुद्धि भ्रमित है, अत: आप भ्रम बुद्धि छोड़ें, एक स्व-पर का सही-सही विचार करें तथा जिससे अपना हित सधे वही करें। विचक्षण पुरुषों की यही रीति है कि एक अपने हित को ही चाहते हैं, बिना प्रयोजन (निज हित) के एक कदम भी रखते नहीं हैं।

आप मुझसे जितना अधिक ममत्व करेंगे, उतना ही वह आपको अधिक दु:ख का कारण होगा। उससे कुछ भी कार्य सधना नहीं। इस जीव ने अनन्त बार अनन्त माता-पिताओं को पाया, वे सब अब कहाँ गये? तथा अनन्त बार ही इस जीव को स्त्री-पुत्र-पुत्री के संयोग मिले, वे सब अब कहाँ गये? पर्याय-पर्याय में भाई कुटुम्ब परिवार आदि बहुत पाये, वे सब भी अब कहाँ गये? संसारी जीव हैं वे तो पर्याय मूढ़ हैं, जैसी पर्याय धारण करते हैं वैसे ही स्वयं को मानते हैं तथा पर्याय में तन्मय होकर परिणमन करते हैं। यह नहीं जानते कि पर्याय स्वभाव तो विनाशशील है। हमारा निज स्वरूप है वह शाश्वत अविनाशी है, ऐसा विचार उन्हें उत्पन्न ही नहीं होता है। अत: आपको क्या दोष दें?

यह तो मोह का माहात्म्य है कि प्रत्यक्ष झूठी बात को भी सत्य दिखाता है तथा जिनका मोह नाश को प्राप्त हुआ है वे भेद विज्ञानी पुरुष हैं, वे इस पर्याय में कैसे अपनत्व करें? कैसे इसे सत्य मानें? ये पर्यायें किस की चलाई चली हैं? कदापि नहीं चलती? ऐसा मुझे यथार्थ ज्ञानभाव हुआ है तथा स्व-पर का यथार्थ निर्णय हुआ है, अत: मुझे ठगने में कौन समर्थ है? अनादि काल से पर्याय-पर्याय में बहुत ठगाया गया हूँ जिसके कारण भव-भव में जन्म-मरण के दु:ख सहे हैं। अत: आप भली प्रकार जान लें कि मेरा तथा आप का इतने ही दिन का सम्बन्ध था, जो अब पूरा हुआ।

आप सब को भी आत्म कार्य करना ही उचित है, आप भी अपने शाश्वत निजस्वरूप को सम्हालें। उसमें किसी प्रकार का खेद नहीं है, किसी से याचना नहीं करना है। आपके अपने ही घर में महा अमूल्य निधि है, जिसे सम्हालने से जन्म-मरण के दु:ख दूर हो जाते हैं। **संसार में जितने भी दु:ख हैं वे सब स्वयं में अज्ञान के कारण अथवा स्वयं को न जानने के कारण हैं, अत: एक ज्ञान की ही आराधना करनी चाहिये।**

ज्ञान स्वभाव है वही अपना निजस्वरूप है, उसे पाने पर ही जीव महासुखी होता है। उसे न पाने से ही महादु:खी है। ये प्रत्यक्ष देखने जाननेवाला ज्ञायक पुरुष है वह शरीर से भिन्न है, जो अपना स्वभाव है उसको छोड़कर अन्य किस बात में प्रीति करें? जैसे सोलहवें स्वर्ग का कल्पवासी देव कौतुक के लिये मध्यलोक में आकर किसी रंक के शरीर में प्रवेश करके रंक की सी क्रियाएँ करने लगे।

यह कभी तो काठ का भार सर पर रखकर बाजार में बेचने जावे, कभी मिट्टी का पात्र लेकर माता अथवा स्त्री के पास रोटी माँगने लगे। कभी पुत्र आदि को ले-जाकर खिलाने लगे तथा कभी राजा के पास जाकर याचना करने लगे - महाराज! मैं आजीविका के लिये बहुत दु:खी हूँ, मेरा प्रतिपालन करें; कभी टका (एक रुपये का बत्तीसवाँ भाग, लगभग तीन पैसे) मजदूरी लेकर हँसिया लेकर खड़े गीले हरे घास को काटने लगे। कभी रुपये दो रुपये की वस्तु के खो जाने पर विलाप करने लगे।

कैसे विलाप करने लगे? अरे बा रे! अब मैं क्या करूँ , मेरा धन चोर ले गये। मैंने बड़ा परिश्रम करके कमा कर एकत्रित किया था, वह आज जाता रहा, अब मैं कैसे काल पूरा करूंगा? कभी नगर से भागने लगे तथा उसके लिये वह पुरुष एक लड़के को तो कंधे पर बैठा ले, एक लड़के की अंगुली पकड़े, स्त्री तथा पुत्री को आगे करके तथा साथ में सूपा, चलनी तथा खाना पकाने की हंडिया, झाड़ू आदि सामग्री का टोकरा भरकर स्त्री के सर रख दे। एक दो बिस्तर आदि का गट्ठर बाँधकर खुद के सर पर लेकर आधी रात को नगर से बाहर निकले। राह में राहगीर, ठग मिलें तथा पूछने लगें - हे भाई! तुम कहाँ चले? तब वह पुरुष कहे - इस नगर में शत्रुओं की फौज आई है, अत: हम अपना धन लेकर भाग रहे हैं, अन्य नगर में जाकर गुजारा करेंगे।

इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाएँ करता हुआ भी वह कल्पवासी देव अपने सोलहवें

स्वर्ग के वैभव को क्षण मात्र भी नहीं भूलता है। उस वैभव का अवलोकन कर महासुखी हुआ विचरण करता है तथा रंक पुरुष की पर्याय में हुई नाना प्रकार की अवस्थाओं का रंच मात्र भी अहंकार ममकार नहीं करता है, केवल एक सोलहवें स्वर्ग की अपनी देवांगनाओं में, वहाँ के वैभव में एवं अपने देव पुनीत स्वरूप में ही उसे एकत्व रहता है, उसी प्रकार मैं सिद्ध स्वरूप आत्म द्रव्य की इस पर्याय में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी अपनी मोक्ष लक्ष्मी को नहीं भूला हूँ, तब इस लोक में काहे का भय करूं?

स्त्री से ममत्व त्याग :- इसके बाद वह स्त्री से ममत्व छुड़ाता है, वह कहता है - अहो इस शरीर की स्त्री! अब इस शरीर से ममत्व छोड़ो। तेरा तथा इस शरीर का इतना ही संयोग था, वह अब पूरा हुआ। तेरी आवश्यकताएँ अब इस शरीर से पूरी नहीं होनी, इसलिये अब मोह छोड़। बिना प्रयोजन खेद मत कर, तेरे रखे यह शरीर रहे तो रख ले, मैं तो तुझे रोकूंगा नहीं। यदि तेरे रखे भी यह शरीर रहता नहीं है तो मैं क्या करूं? यदि तू विचार कर देखे तो तू भी आत्मा है, मैं भी आत्मा हूं। स्त्री-पुरुषरूप तो पर्यायें हैं, वे पौद्गलिक हैं, उनसे कैसी प्रीति? शरीर जड़ तथा आत्मा चैतन्य ऊँट-बैल का सा जोड़ा है, अत: यह संयोग कैसे बना रहेगा? तेरी पर्याय को भी तू चंचल जान। अपने बारे में तू क्यों विचार नहीं करती? हे पत्नी! रात दिन भोग किये उससे क्या सिद्धि हुई तथा अब क्या सिद्धि होने वाली है? व्यर्थ ही भोग भोगकर आत्मा को संसार में डुबोया है। इस मरण समय को जाना नहीं। स्वयं के मरने के बाद तीन लोक की संपदा भी सब झूठी (व्यर्थ) है। अत: मेरी पर्याय के विषय में तुम्हें चिंता करना उचित नहीं है।

यदि तुम मेरी प्रिय हो तो मुझे धर्म का उपदेश क्यों नहीं देती? यह तुम्हारा कार्य है। यदि तुम स्वार्थ ही की साथी हो तो तुम तुम्हारी जानो। मैं तुम्हारे डिगाने (विचलित करने) से क्या विचलित हो जाऊँगा? मैंने तो तुम पर करुणा करके ही उपदेश दिया है, मानना है तो मानो, नहीं मानो तो तुम्हारी जो होनहार है वह होगा। मुझे तो अब कुछ मतलब नहीं है, अत: अब तुम मेरे पास से जाओ तथा अपने परिणामों को शान्त रखकर आकुलता से बचो। आकुलता ही संसार का बीज है। इस प्रकार स्त्री को समझा कर उससे निवृत्त होता है।

कुटुम्बियों को संबोधन :- फिर अपने कुटुम्ब परिवार को बुलाकर समझाता है - अहो! परिवार जन, अब इस शरीर की आयु तुच्छ रही है। अब मेरा परलोक निकट है, अत:

अब मैं आप लोगों से कहता हूँ कि आप लोग अब मुझसे किसी प्रकार का राग न रखें। आपका और मेरा मिलाप अल्प समय का ही शेष रहा है, ज्यादा नहीं। जैसे धर्मशाला में राहगीर (यात्री) एक दो रात्रि के लिये ठहरें तथा फिर अलग होते चिन्तित हों, वह कौन सा सयानापन है? इस प्रकार मुझे भी आप से क्षमाभाव है, आप सब आनन्दमय रहें? अनुक्रम से सभी की यही हालत (स्थिति) होनी है। संसार का ऐसा चरित्र जानकर कौन ऐसा बुद्धिमान होगा जो इससे प्रीति करेगा? इस प्रकार कुटुम्ब परिवार को भी समझाकर विदा करता है।

पुत्र को सम्बोधन :– अब पुत्र को बुलाकर समझाता है अहो पुत्र! तुम सयाने हुये हो, मुझसे किसी भी प्रकार का मोह मत करना। जिनेश्वर देव द्वारा कथित जो धर्म है उसे भली प्रकार पालन करना। तुम्हें धर्म ही सुखकारी होगा, माता–पिता सुखकारी नहीं हैं। कोई माता–पिता को सुखदायी मानता है यह उसके मोह का माहात्म्य है। कोई किसी का कर्त्ता नहीं है, कोई किसी का भोक्ता भी नहीं है, अत: अब हमसे तुम्हें क्या प्रयोजन? यदि तुम व्यवहार मात्र भी मेरी आज्ञा मानते हो तो मैं कहता हूँ, वह करो।

प्रथम तो तुम देव–गुरु–धर्म में अवगाढ़ प्रतीति करो तथा साधर्मियों से मित्रता करो। दान, तप, शील, संयम से अनुराग करो तथा स्व–पर भेद–विज्ञान का उपाय करो। संसारी जीवों से ममता भाव अर्थात् प्रीति को छोड़ो। संसार में सरागी पुरुषों की संगति से ही यह जीव इस लोक में तथा परलोक में महादु:ख पाता है, अत: सरागी पुरुषों की संगति अवश्य छोड़ना तथा धर्मात्माओं की संगति करना चाहिये। धर्मात्मा पुरुषों की संगति इस लोक में तथा परलोक में महासुखदायी है।

इस लोक में तो महानिराकुलतारूप सुख की प्राप्ति होती है एवं यश की प्राप्ति होती है तथा परलोक में स्वर्ग आदि के सुख पाकर मोक्ष में शिवरमणी की प्राप्ति होती है। धर्मात्मा पुरुषों की संगति करने वाला निराकुल, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित, शाश्वत, अविनाशी सुख को भोगता है।

इसलिए हे पुत्र! यदि तुम्हें हमारे वचन सत्य प्रतीत होते हैं तथा इनमें तुम्हें अपना भला होना प्रतीत होता है तो हमारे वचन स्वीकार करो। यदि तुम्हें हमारे वचन झूठ प्रतीत होते हैं तथा इनमें तुम्हें अपना भला होना प्रतीत नहीं होता हो तो मेरे वचन स्वीकार मत करो। मुझे तुमसे किसी बात का कोई प्रयोजन नहीं है। दया बुद्धि करके तुम्हें उपदेश दिया है, यदि मानना

हो तो मानो, नहीं मानो तो तुम्हारी तुम जानो।

अब वह सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनी आयु तुच्छ शेष रही जानता है। तब दान, पुण्य जो कुछ करना होता है वह अपने हाथ से करता है। फिर जिन-जिन व्यक्तियों से कुछ बात करना हो उनसे बात कर नि:शल्य होता है तथा सर्व संसारी नाते-रिश्ते के पुरुषों-स्त्रियों को वहाँ से वापस जाने को कहकर धार्मिक कार्यों से सम्बन्धित पुरुषों को बुलाकर अपने पास रखता है।

यदि स्वयं की आयु नियम से पूरी होना जानता है तो सर्व ही परिग्रह का जीवन पर्यन्त के लिये त्याग करता है। चार प्रकार के आहार का भी जीवन पर्यन्त के लिये त्याग करता है। सारे परिग्रह का भार पुत्रों को सौंपता है तथा स्वयं विशेषरूप से नि:शल्य अर्थात् वीतराग होता है। यदि अपनी आयु को अवश्य पूरी होना नहीं जानता है, आयु पूरी हो या न हो, ऐसा संदेह हो तो दो-चार घड़ी आदि काल की मर्यादा कर त्याग करता है, जीवन पर्यन्त के लिये त्याग नहीं करता तथा जिस प्रकार शत्रु को जीतने के लिये सुभट उद्यमी होकर रणभूमि में उतरता है, उसी प्रकार वह भी पलंग से उतरकर सिंह की भाँति निर्भय होकर स्थित होता है। किसी प्रकार अंशमात्र भी आकुलता नहीं करता है।

कैसा है शुद्धोपयोगी सम्यग्दृष्टि? जिसके मोक्षलक्ष्मी से पाणिग्रहण की इच्छा प्रवर्तती है, ऐसा अनुराग है कि अभी ही मोक्ष जाकर वरण कर लूं। उसने हृदय में मोक्षलक्ष्मी के आकार को उत्कीर्ण कर रखा है, उसकी शीघ्र प्राप्ति चाहता है। उसी के भय से राग परिणति के प्रदेश नहीं बांधता है (रंच मात्र भी परवस्तुओं में राग उत्पन्न नहीं होने देता) तथा ऐसा विचारता है - यदि कदाचित् मेरे स्वभाव में राग परिणति का अणु मात्र भी प्रवेश हुआ तो मुझे वरण करने के सम्मुख हुई मोक्षलक्ष्मी वापस लौट जायेगी, अत: मैं राग परिणति को दूर से ही छोड़ता हूँ। ऐसा विचार करते हुए काल पूरा करता है।

उसके परिणामों में निराकुल आनन्द का रस बरसता है। उस शांतरस से वह तृप्त है। उसे आत्मिक सुख के अतिरिक्त किसी बात की इच्छा नहीं है, पूर्व में न भोगे ऐसे एक अतीन्द्रिय सुख की ही वांछा है कि ऐसे स्वाधीन सुख को ही भोगता रहूँ। यद्यपि इस समय साधर्मियों का संयोग है तथापि उनका संयोग भी पराधीन तथा आकुलता सहित भासित होता है तथा यह जानता है कि निश्चित रूप से विचारें तो ये साधर्मी भी सुख का कारण नहीं हैं। मेरा सुख तो मेरे पास ही है, अत: स्वाधीन है।

इस प्रकार आनन्दमय स्थित होता हुआ शांत परिणामों सहित समाधिमरण करता है तथा समाधिमरण के फल में इन्द्र आदि का वैभव प्राप्त करता है। वहां से चय होने पर राजा महाराजा होता है। कुछ समय तक राज्य कर, वैभव भोगकर आर्हत् (भगवती) दीक्षा धारण करता है एवं क्षपक श्रेणी आरोहण कर चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान-लक्ष्मी प्राप्त करता है। वह केवलज्ञान-लक्ष्मी कैसी है? जिसमें तीन काल सम्बन्धी समस्त लोकालोक के चर-अचर पदार्थ एक समय में आ झलकते हैं। उसके सुख की महिमा वचनों में कहने में नहीं आती।

।। इति समाधिमरण वर्णन सम्पूर्णम्।।

– ज्ञानानन्द श्रावकाचार, नौवाँ अधिकार

देखो, तत्त्वविचार की महिमा! .....

..... इस भव में अभ्यास करके परलोक में तिर्यंचादि गति में भी जाये तो वहाँ संस्कार के बल से देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त बिना भी सम्यक्त्व हो जाये, क्योंकि ऐसे अभ्यास के बल से मिथ्यात्वादि कर्म का अनुभाग हीन होता है। जहाँ उसका उदय न हो, वहीं सम्यक्त्व हो जाता है।

मूल कारण यही है। देवादिक का तो बाह्य निमित्त है; सो मुख्यता से तो इनके निमित्त से ही सम्यक्त्व होता है; तारतम्यता से पूर्व अभ्यास-संस्कार से वर्तमान में इनका निमित्त न हो तो भी सम्यक्त्व हो सकता है। सिद्धान्त में **तन्निसर्गादधिगमाद्वा** (तत्त्वार्थ सूत्र 1-3) ऐसा सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि वह सम्यग्दर्शन निसर्ग अथवा अधिगम से होता है। वहाँ देवादिक बाह्यनिमित्त के बिना हो, उसे निसर्ग से हुआ कहते हैं; देवादिक के निमित्त से हो, उसे अधिगम से हुआ कहते हैं।

देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।

तथा किसी जीव को तत्त्वविचार होने के पहले कोई कारण पाकर देवादिक की प्रतीति हो व व्रत-तप का अंगीकार हो, पश्चात् तत्त्वविचार करे; परन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तत्त्वविचार होने पर होता है। .....

– मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार

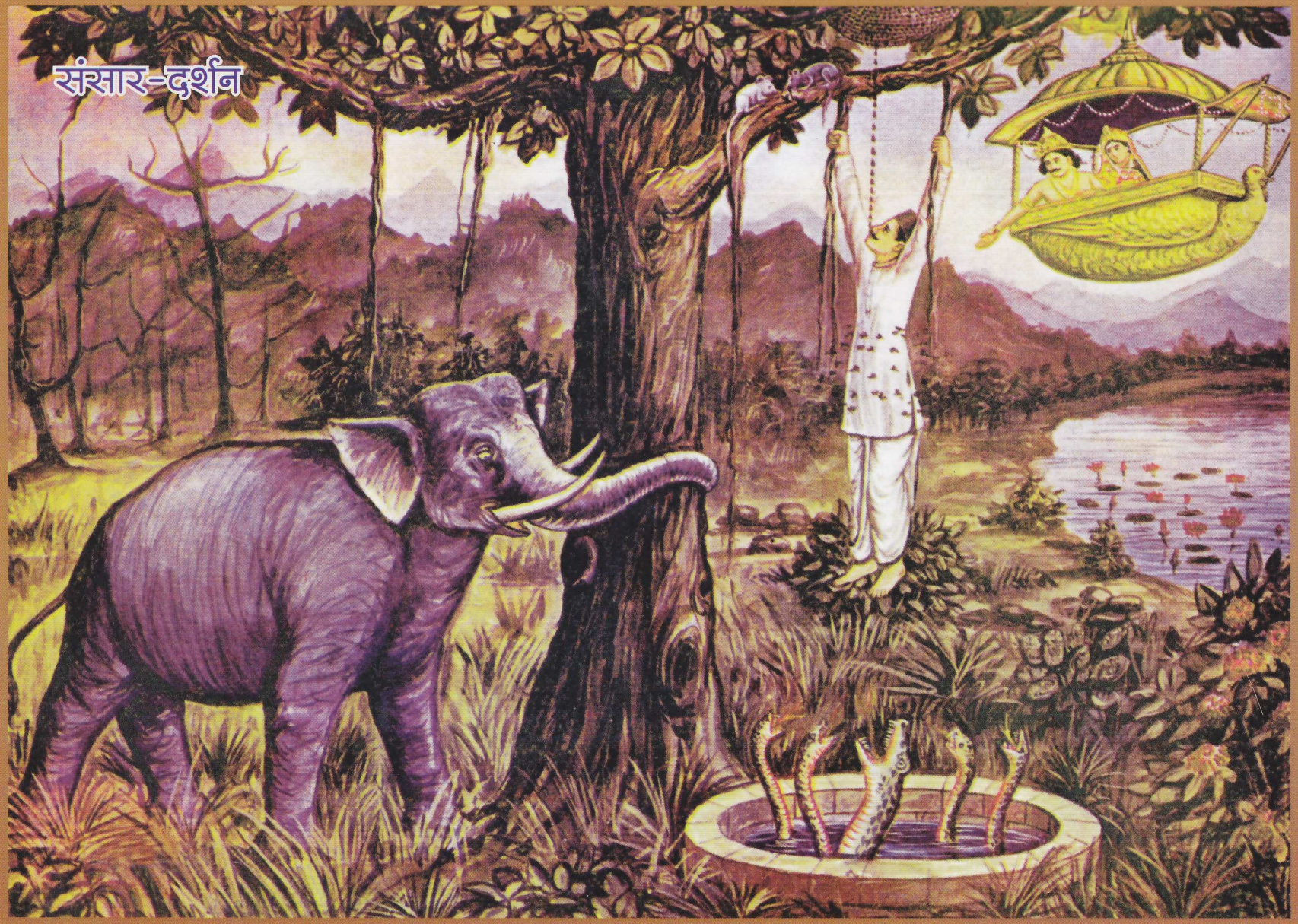

...देखें, पृष्ठ 13